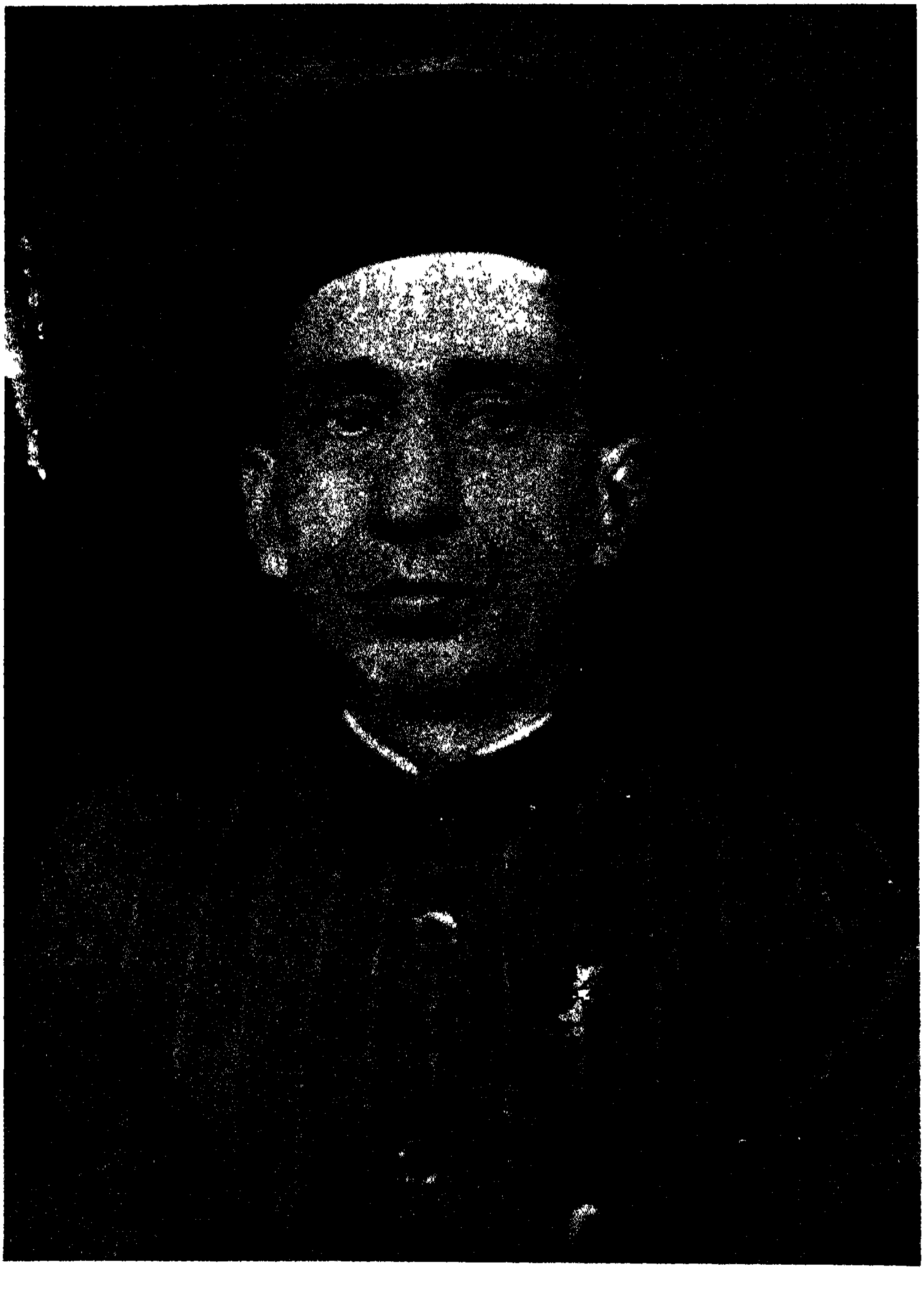


श्रद्धेय बाबू छोटेलाल जी जैन

(जन्म १६ फरवरी, १८९६) (मृत्यु २६ जनवरी, १९६६)

बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंथ

सम्पादक मण्डल :

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
जयपुर

डा० ए. एन. उपाध्ये
कोल्हापुर

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

श्री अगरचन्द नाहटा
बीकानेर

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
जयपुर

डा० सत्यरंजन बनर्जी
कलकत्ता

पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य
जयपुर

प्रकाशक :

बाबू छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति

कलकत्ता

सन् १९६७]

[मूल्य २० रुपये

प्राप्ति स्थान :

१. पं० बन्शीधर शास्त्री
संयोजक–
बाबू छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति
C/o श्री जुगमन्दिरदास जी जैन
१५७, नेताजी सुभाष रोड़
कलकत्ता–१

२. पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
अध्यक्ष–
श्री दि० जैन संस्कृत कॉलेज
जयपुर–३

[प्रथम संस्करण - - ५००]

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स
घी वालों का रास्ता
जयपुर

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन ... ...क

प्रकाशकीय वक्तव्य ... ...च

सम्पादकीय ... ...ट

हिन्दी भाग

प्रथम खण्ड

(व्यक्तित्व, कृतित्व, संस्मरण एवं श्रद्धाञ्जलियाँ)

१. ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम, (कविता)
कल्याण कुमार जैन 'शशि' २

२. उदारमना श्री बाबू छोटेलाल जी जैन
बन्शीधर शास्त्री ३

३. प्रेरणादीप बाबू छोटेलाल जी
डा० ज्योतिप्रसाद जैन ११

४. बाबू छोटेलाल जी : मूक साधक
डा० प्रेमसागर जैन १३

५. चमन में इनसे इबरत है
नेमीचन्द्र शास्त्री १६

६. श्रद्धास्पद बाबूजी
नीरज जैन २२

७. बयाना जैन समाज को बाबूजी का अपूर्व सहयोग
कपूरचन्द्र नरपत्येला २४

८. बाबू छोटेलाल जी और स्याद्वाद महाविद्यालय
कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी २८

९. बाबूजी की मधुर स्मृतियां
स्वामी सत्यभक्त २९

१०. पुरातत्त्व प्रेमी बाबूजी
शारदा प्रसाद ३०

११ स्मरणाञ्जलि
डा० राजाराम जैन ३३
१२. मनीषी बाबू छोटेलाल जी (कविता)
नेमीचन्द पटोरिया ३५
१३. बाबूजी
✓ पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ ३६
१४. एक सहज प्रेरक व्यक्तित्व
डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ३८
१५. पुरातत्त्व वेत्ता श्री बाबूजी
पं० नन्हेलाल शास्त्री ४०
१६. आदर्श व्यक्तित्व के प्रतीक
विमल कुमार जैन ४१
१७. तीन पुश्त का सम्पर्क
सुबोध कुमार जैन ४२
१८. श्रद्धेय बाबूजी
सुरेन्द्र गोयल ४३
१९. श्री बाबू छोटेलाल जी—एक मूक सेवक
भँवरलाल न्यायतीर्थ ४५
२०. बाबूजी की अमर सेवाएँ
सत्यंधर कुमार सेठी ४७
२१. बाबूजी का वीर सेवा मंदिर को योगदान
प्रेमचन्द जैन, बी० ए० .... ४८
२२. बाबू छोटेलाल जी और उनका व्यक्तित्व
श्री स्वतन्त्र, सूरत ५२
२३. श्रद्धाञ्जलियाँ ५४

द्वितीय खण्ड

(इतिहास, पुरातत्त्व एवं शोध)

१. प्राचीन भारतीय वस्त्र और वेशभूषा
गोकुलचन्द्र जैन, एम० ए० .... ५७
२. 'बप्पभट्टि चरित्' ऐतिहासिक महत्त्व
हरि अनन्त फड़के ७१

३. महाकवि रइधू युगीन अग्रवालों की साहित्य सेवा
डा० राजाराम जैन, एम०ए०पी०एच०डी० .... ७५
४. हिन्दी आदि काल के जैन प्रबन्ध काव्य
श्याम वर्मा, एम०एस०सी०, एम०ए० साहित्यरत्न ८३
५. जैन संस्कृति में नारी के विविध रूप
प्रेमसुमन जैन ९१
६. जैन समाज के आन्दोलन
स्वामी सत्यभक्त १०१
७. मथुरा की प्राचीन कला में समन्वय भावना
कृष्णदत्त वाजपेयी १०७
८. भट्टारक युगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियां
डा० नेमीचन्द्र शास्त्री १११
९. पंच कल्याणक तिथियां और नक्षत्र
मिलापचन्द्रजी कटारिया १२१
१०. जैन ग्रंथों में राष्ट्रकूटों का इतिहास
रामवल्लभ सौमानी १२९
११. भारतीय साहित्य में सीता हरण प्रसंग
डा० छोटेलाल शर्मा एम०ए० पी०एच०डी० ....१३५
१२. आचार्य हेमचंद्र की दृष्टि में भारतीय समाज
डा० जयशंकर मिश्र एम०ए०पी०एच०डी० ....१४१
१३. ५ वीं शती के ग्रन्थ वसुदेव हिन्डी की रामकथा
अगरचन्द नाहटा १५३
१४. अग्रवालों का जैनधर्म में योगदान
परमानन्द शास्त्री १६१
१५. हिन्दी का आदि काल और जैन साहित्य
डा० छविनाथ त्रिपाठी १७३
१६. दो ऐतिहासिक रचनाएँ
भँवरलाल नाहटा १७९
१७. राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन जैन प्रस्तर प्रतिमाएँ
बृजेन्द्रनाथ शर्मा, एम०ए० ....१८३
१८. आचार्य जिनेश्वर और खरतर गच्छ
म० विनयसागर, साहित्यमहोपाध्याय, साहित्याचार्य, जैनदर्शन शास्त्री, साहित्यरत्न, शास्त्र विशारद १८७

१६. जैनधर्म की प्राचीनता और सार्वभौमिकता
डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री एम०ए०पी०एच०डी० ....१६७

२०. बीसवीं सदी विक्रमी के जैन सन्त योगी श्रीमद् राजचन्द्रजी
श्री कस्तूरमल बांठिया २१३

२१. जैन ज्योतिष के प्राचीनतमतत्व पर संक्षिप्त विवेचन
वैद्य प्रकाश चन्द्र पांड्या, आयुर्वेदाचार्य २२१

२२. राजस्थान के कतिपय प्रमुख दिगम्बर जैन मंदिर
अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न २३३

२३. जैन दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य समन्तभद्र
प्रो० उदयचन्द्र जैन एम०ए० ....२३६

२४. प्रातः स्मरणीय सन्त गणेश वर्णी
नीरज जैन २४५

२५. आगमों और त्रिपिटकों के संदर्भ में अभयकुमार
मुनि श्री नगराजजी २५१

२६. भारत की जैन जातियाँ
भँवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य २५६

तृतीय खण्ड

(साहित्य, धर्म और दर्शन)

१. जैनदर्शन, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान में : आकाश और काल
मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी द्वितीय २६५

२. भूधरदास कृत पार्श्वपुराण और उसमें पशु-पक्षि वर्णन
डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, एम०ए० पी०एच० डी० ....२७६

३. समाधि योग
आचार्य श्री रजनीशजी २८७

४. आचार्य सोमदेव और उनका यशस्तिलक चम्पू
मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज २६१

५. जैन साहित्य में शान्त रस
डा० नरेन्द्र भानावत एम०ए०पी०एच०डी० ....२६७

६. साहित्य; व्युत्पत्ति और परिभाषा
डा० रवीन्द्र कुमार एम०ए०पी०एच०डी० .... ३०५

७. फागु काव्य की नवोपलब्ध कृतियाँ
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम०ए०पी०एच०डी० ····३१३

८. जैनदर्शन में अर्थाधिगम चिन्तन
दरबारीलाल कोठिया ···· ····३२५

९. दर्शन और विज्ञान में आत्मा
'उदय' नागोरी जैन बी० ए० सिद्धान्त ···· ····३३१

१०. दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ···· ····३४१

११. गंगनरेश मारसिंह की सल्लेखना
✓ विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री ···· ····३४५

१२. भारतीय जीवन नद के दो किनारे
स्व० श्री सत्यदेव विद्यालंकार ···· ···३४६

१३. अपभ्रंश साहित्य और मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि कृत 'व्यवस्था शिक्षा कुलकम्'
डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, एम०ए०, एल०एल०बी०, डि० फिल् ····३५५

१४. संस्कृत के जैन सन्देश काव्य
गोपीलाल अमर एम०ए० 'साहित्यरत्न' ···· ····३६३

१५. वाग्भटालङ्कार : एक परिशीलन
अमृतलाल शास्त्री ···· ····३६६

१६. सिद्धसेन का अभेदवाद और दिगम्बर परम्परा
सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ···· ····३८१

१७. हिन्दी जैन भक्त कवियों की मधुर भावना
श्री रंजनसूरि देव ···· ····३८७

१८. निसीहिया या नसियाँ
हीरालाल सिद्धांतशास्त्री ···· ····३९३

प्राक्कथन

अभिनन्दन एवं स्मृतिग्रन्थों की प्रकाशन परम्परा इस युग का एक महत्त्वपूर्ण आयोजन है। जिन्होंने अपने पावन-जीवन को ज्ञानाराधना, आत्म-साधना, साहित्यसेवा, परोपकार, दया और सहानुभूति आदि लोकहितकारी कार्यों से पुनीत एवं अनुकरणीय बना दिया है उनका सत्कार-समादर तो ऐसे आयोजनों से होता ही है किन्तु उनसे एक लाभ और भी है। ऐसे प्रकाशनों से दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्म एवं विभिन्न कलाओं पर भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे हुए लेख एक ही जगह अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। पाठकों को अपना ज्ञान भण्डार भरने के लिए यह उपलब्धि वस्तुतः असाधारण है। इससे नये एवं उदीयमान लेखकों को प्रोत्साहन एवं प्रेरणा भी मिलती है। यह लाभ भी कम नहीं है।

जहां तक मेरा ख्याल है हिन्दी में इस परम्परा का श्री गणेश हिन्दी के परम उन्नायक स्व० श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन ग्रन्थ से प्रारम्भ हुआ। जिन लोक हितैषियों का अपने जीवन काल में अभिनन्दन नहीं हो सका उनका उनकी मृत्यु के बाद ऐसे प्रकाशनों द्वारा समादर किया गया और अब तो यह परम्परा बड़ी तेजी से पल्लवित हो रही है और ऐसे लोगों के अभिनन्दन एवं स्मृति ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं जो उनके योग्य नहीं थे। फिर भी सब मिलाकर यह कहना होगा कि यह परम्परा ज्ञानाराधना आदि की दृष्टि से वास्तव में उपादेय ही है।

जैन समाज में भी ऐसे अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ऐसा याद पड़ता है कि सबसे पहिले प्रख्यात इतिहासज्ञ स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसके बाद श्री वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री महात्मा हजारीलाल अभिनन्दन ग्रन्थ, विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ, श्री राजिकसूरि स्मारक ग्रन्थ, तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, कानजी स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ आदि अनेकों अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुए जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और संग्रह योग्य हैं।

एक लम्बे अर्से से मेरा विचार था कि बाबू छोटेलालजी का भी एक ऐसा ही अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। यह विचार मैंने मेरे प्रिय शिष्य श्री बंशीधर शास्त्री एम० ए० के सामने रखा और उन्होंने इस विचार को आगे बढ़ाया। इसके फलस्वरूप कलकत्ते में श्री छोटेलाल अभिनन्दन समिति

का निर्माण किया गया और अभिनन्दन ग्रन्थ की सारी अर्थ-व्यवस्था का भार श्रीमान् सेठ जुगमंदिर लालजी जैन ने अपने ऊपर लिया। एक सम्पादक मण्डल चुना गया। हिन्दी और अंग्रेजी में अधिकारी विद्वानों से लेख मंगाये गये। लेख और संस्मरण एकत्रित हो जाने के बाद यह प्रश्न सामने आया कि उसका प्रकाशन कलकत्ता, जयपुर या वाराणसी इन तीन स्थानों में से कहां करवाया जाय इस उधेड़-बुन ने काफी समय ले लिया। मैं बारबार तकाजा करता रहा कि अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब करना ठीक नहीं है किन्तु मेरे तकाजों का कोई फल नहीं निकला। उनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरता जारहा था। मैं ही नहीं अनेक दूसरे सज्जन भी उनके स्वास्थ्य के विषय में चिंतित थे। वे तो चिर रोगी थे। एकाएक रोग का प्रकोप बढ़ा और उसने उनके जीवन को सदा के लिए ग्रस्त कर दिया। यह समाचार सभी ने मर्मान्तिक वेदना के साथ सुना। इस घटना ने अभिनन्दन की सारी योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया। कितना अच्छा होता कि उनके जीवनकाल में यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो जाता। किन्तु स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में "अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयम्" के अनुसार होता वही है जो होना होता है। भवितव्य के विधान को कौन टाल सकता है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं रह गया था कि उनके इस अभिनन्दन ग्रन्थ को उनके स्मृतिग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जाय। उनके अनुकरणीय जीवन से हमें उनके देहावसान के बाद भी प्रेरणा मिलती रहे यही इस स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का उद्देश्य है।

इस प्रसंग में उनके महान् व्यक्तित्व के विषय में भी यहां हम दो शब्द लिख देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

बाबूजी वस्तुतः परहितनिरतवृत्ति थे। वे सहानुभूति, सेवा और सहयोग के मूर्तिमान समन्वय थे। उनकी इस समन्वयता का पता उनके जीवन के अध्ययन से चलता है।

वास्तव में तो मनुष्य अज्ञेय है। इसका कारण यह है कि वह अनन्त चित्तवृत्तियों का केन्द्र है और वे चित्तवृत्तियां अत्यन्त परोक्ष होने के कारण औरों की कौन कहे स्वयं मनुष्य की अनुभूति में भी नहीं आतीं। जब वे कदाचित जागृत होती है तब उसको उनका अनुभव होता है; किन्तु अधिकांश मनो-भाव तो प्रसुप्त ही रहते हैं। जो चित्तवृतियां जागृत होकर मनुष्य की अनुभूति में आ जाती है उन्हें बहुत बार वह माया का आश्रय लेकर बाहर नहीं आने देता; इसलिए कि उसकी कमजोरी का दूसरों को पता न लग जाय, और वह अपरिज्ञेय ही बना रहता है। यह सच है कि मनुष्य जितना मनुष्य से डरता है उतना दूसरे किसी से भी नहीं डरता इसलिए उसके सामने वह अपने असली रूप में बहुत कम आता है। कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के बाह्य कार्यों को देख कर ही उसके प्रशस्त एवं अप्रशस्त होने का अनुमान करता है, इस का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य में यदि माया का बाहुल्य हो तो उसका ठीक रूप से अध्ययन करना बहुत कठिन हो जाता है। कारण यह है कि उस पर लोकैषणा का भूत बुरी तरह सवार रहता है।

यह छोटी सी भूमिका हमें इस संस्मरण को ठीक समझने में सहायता देगी। कहना यह है कि बाबू छोटेलालजी में मैंने जो सब से बड़ी बात देखी वह है उनकी निःशल्यवृत्ति। मैं इसे ही मनुष्यता की

कसौटी समझता हूँ। जैन-दर्शन की भी यही मान्यता है। शल्य का अर्थ है माया। जहां माया है वहां सच्चाई की थाह पाना मुश्किल है। मैंने बाबूजी को इस कसौटी पर कसा था। उनमें जो दया और करुणा का स्रोत बहता था उसमें प्रदर्शन का स्वांग नहीं था। वे मुझे बाहर भीतर एक से जान पड़े। दुनियां में विद्वानों की कमी नहीं, दानियों की भी विकलता नहीं और कार्यक्षम लोग भी यत्र-तत्र बहुत हैं। ये सारी चीजें प्रदर्शन को आधार बनाकर भी दुनियां की आंखों में धूल झोंक सकती हैं; इसलिए इनसे कभी मानवता नहीं निखर सकती।

बाबूजी को मैंने काफी निकट से देखा था। वे दो बार जयपुर आये। दूसरी बार तो केवल तीन दिन ही रहे; किन्तु जब वे पहली बार चिकित्सा के लिए यहां आये तो एक लम्बे अर्से तक ठहरे। इसके पहले 'वीरवाणी' के प्रकाशन के बाद व्यक्तिगत पत्रों के माध्यम से आपके साथ मेरा संपर्क स्थापित हो गया था; किन्तु कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। बाबूजी जब मुझे पहली बार मिले तो उनके व्यक्तित्व का मुझ पर काफी प्रभाव पड़ा। जयपुर में कुछ दिन चिकित्सा करा लेने के बाद स्वर्गीय सेठ बधीचंदजी जयपुर द्वारा निर्मापित वेदी की प्रतिष्ठा के अवसर पर जब वे महावीरजी गये तब हम करीब पांच दिन एक ही जगह रहे, एक ही जगह खाया-पिया, उठे बैठे और सोए; एक ही साथ कार में गये और एक ही साथ वहां से वापिस आये। उस समय सामाजिक एवं दूसरे विषयों पर उनसे मेरी खुलकर बातें होती थीं। उस प्रसंग में मैं उनके व्यक्तित्व का अविकल रूप से अध्ययन कर सका था।

बाबूजी वस्तुतः साहित्यिक पुरातत्व प्रेमी, सेवाभावी एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे। जयपुर में चिकित्सा के दौरान भी मैंने देखा कि वे स्वास्थ्य की बिना परवाह किये घण्टों तक अविरत भाव से काम करते रहते थे। जयपुर के शास्त्र भण्डारों के उल्लेखनीय प्राचीन एवं सचित्र ग्रन्थों को मंगाकर वे देखते, उनके फोटो लिवाने का प्रबन्ध करते और ऐसे ही पुनीत प्रयत्नों में वे लगे रहते। मैं बीमारी के समय इतना अधिक काम करने के लिए उन्हें मना करता पर उन्होंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व के प्रचार के लिए ऐसी लगन, ऐसी श्रद्धा और आस्था मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी। एक धनी कुल में उत्पन्न एवं संपन्न व्यक्ति में ज्ञानोपासना के प्रति इतनी लगन होने के उदाहरण हमारे देश में कम ही मिलेंगे।

बाबूजी ने यहां की कुछ संस्थाओं और वीरवाणी को अपने जयपुर प्रवास के समय कितनी आर्थिक सहायता दी, इसका उल्लेख यहां नहीं करूंगा; किन्तु मैं इस प्रसंग में उनकी एक उल्लेखनीय मानव वृत्ति के उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। जब बाबूजी अपनी चिकित्सा के लिए यहां आये तब पुरातत्व प्रेमी एवं अनुसंधानप्रिय स्थानीय विद्वान श्री श्रीप्रकाश शास्त्री क्षय रोग से ग्रस्त थे। बाबूजी वीरवाणी में प्रकाशित उनके खोजपूर्ण लेखों से प्रभावित थे। जब उन्हें इनके रोगग्रस्त होने का पता चला तो बाबूजी बहुत चिंतित हुए और मुझे कहने लगे कि इस होनहार युवक को जैसे हो वैसे बचाइये। इन्हें सैनीटोरियम में भर्ती करा दीजिए। वहां का सारा खर्चा मैं देता रहूंगा। बाबूजी ने अपनी बात अन्त तक निभाई किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है ? सैनीटोरियम की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ और एक लम्बी अवधि के बाद उनका देहान्त हो गया।

मैंने देखा कि बाबूजी में धर्म के मानव रूप का प्रकाश जल रहा था। उनकी कृपा जहां भी प्रस्फुटित होती कुछ करके ही विश्राम लेती। उनकी दया भी दान रहित नहीं होती थी। वे अनुकंपा

से किसी भी दुःख कंपित को देखकर स्वयं कांपने लगते और उसकी अवश्य सहायता करना अपना कर्तव्य समझते। ऐसा जान पड़ता जैसे ये सारे ही पुनीत कार्य उनके जीवनव्रत बन गये हों। मैंने उन्हें जब कभी किसी युवक को उसके योग्य कोई काम दिलाने के लिए लिखा उन्होंने उसे काम दिलाकर ही चैन ली। मै समझता हूं कि वे मानव हित के लिए कभी थकान का अनुभव नहीं करते थे। रोग शय्या पर पड़े-पड़े भी वे जनहित के कार्यों में लगे रहते और प्रायः सफल भी होते।

बाबूजी स्वतंत्र विचारक थे। रूढियों के गुलाम नहीं थे। वे युगानुसारी विचारधारा के कट्टर समर्थक थे। उनमे आदमी को ही नहीं उसकी लियाकत को परखने की भी क्षमता थी। यद्यपि वे भावुक थे; किन्तु उस भावुकता का उपयोग दूसरों के उपकार के लिए ही होता था। उपकार की जहां आवश्यकता होती वहीं उनकी क्षमता का उपयोग होता। मुझे उनकी दानवृत्ति के विषय में भी कुछ कहना है। मेरा खयाल है कि उनके दान में तामसिकता और राजसिकता की अपेक्षा सात्विकता की अधिक प्रेरणा होती थी। देश, काल और पात्रता का विचार करके ही वे दान में प्रवृत्त होते थे। उन्हें अपने दान का शोर कतई पसंद नहीं था। उन्होंने मुझे कई बार लिखा था कि उनकी किसी भी उपकृति की खबर दूसरों को न हो। इसमें कोई शक नहीं है कि ऐसी मानव वृत्ति दुनियां में बहुत दुर्लभ है। वे लोकैषणा से सदा ही दूर रहना चाहते थे। मैंने चाहा कि बाबूजी को जयपुर बुलाकर उनका यहां सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाय; किन्तु जब उन्हें मेरे इस इरादे का पता चला तो उन्होंने जयपुर आने का विचार ही छोड़ दिया।

बाबूजी से जैन समाज का हर क्षेत्र प्रभावित था। पूंजीपति, विद्वान, सामाजिक कार्यकर्ता, लेखक, पुरातत्व प्रेमी और कलाकार आदि सभी पर उनकी धाक थी। जैसा कि पहले कहा है उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी परहित निरतवृत्तिता और इसी कारण वे सब के आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। यद्यपि वे चिररोगी थे फिर भी अपनी परहितनिरतवृत्तिता को सजीव बनाए हुए थे। उसमें कभी व्यवधान नहीं आने देते थे। सचमुच वे जीवन्त साहस के पुतले थे। रोग के आक्रमणकारी दौरों की जैसे उन्हें परवाह ही नहीं थी। इस रोगी शरीर से वे अपने अक्षय यशः शरीर का निर्माण कर देश की भावी पीढ़ी के लिए एक आदर्श उपस्थित कर रहे थे। ऐसे असाधारण व्यक्तित्व का थोड़ा बहुत परिचय ऐसे स्मृति ग्रंथों के आधार से ही मिल सकता है और यही इसके प्रकाशन का उद्देश्य भी है।

इस स्मृति ग्रंथ को यथाशक्ति उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी इसमें कमियां एवं त्रुटियां रहना संभव है। मनुष्य तो अशक्त एवं अक्षम है इसलिए उसकी अक्षमताएँ क्षमा करने के योग्य हैं।

इस स्मृति ग्रंथ की सफलता का सारा श्रेय खासकर उन विद्वान लेखकों को है जिन्होंने इसके लिए अपनी कीमती रचनाएँ भेजकर हमें अनुगृहीत किया है।

—चैनसुखदास

प्रकाशकीय वक्तव्य

सुप्रसिद्ध समाज सेवी, पुरातत्ववेत्ता, उदारमना बाबू छोटेलालजी जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति थे। उन्होंने समाज संगठन और सुधार तथा संस्कृति के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भारत की राजधानी देहली स्थित वीर सेवा मंदिर उनके अथक श्रम एवं पुरातत्व प्रेम का प्रतीक है। उनका साहित्य प्रेम एवं विद्वानों के प्रति श्रद्धाभाव अनुकरणीय है। वे अपने व्यापारिक कार्यों का उत्तरदायित्व निभाते हुए निरंतर अस्वस्थता के काल में भी समाज सेवा, संस्कृति, पुरातत्व, व्यावसायिक संगठनों आदि के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहते थे।

अनेक मित्र आप जैसे समाज सेवी का अभिनन्दन करने का विचार प्रकट करते रहते थे किंतु आपने अभिनन्दन कराना कभी स्वीकार नहीं किया क्योंकि आप विज्ञापन के बिना सेवा में ज्यादा विश्वास करते थे।

श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी अध्यक्ष जैन संस्कृत कालेज, जयपुर मुझे उनके अभिनन्दन के लिए प्रेरणा करते रहते थे लेकिन बाबूजी से जब कभी इसकी चर्चा छेड़ता वे ऐसा विरोध करते कि कई दिन तक इस विचार को पुनः उठाने का साहस ही नहीं होता था।

सन् ६४ की रक्षा बंधन के पावन दिवस पर हम कुछ मित्रों ने बाबूजी की अस्वस्थता एवं वार्द्धक्य को लक्ष्य में रखकर उनके अभिनन्दन का निश्चय किया और उस निश्चय को उनकी जानकारी बिना ही क्रियान्वित करना प्रारम्भ कर दिया।

इस कार्य के लिए श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति का गठन किया गया (जिसकी सदस्य सूची आगे दी गई है) समाज के प्रमुख व्यक्तियों ने बाबूजी का अभिनन्दन करने के निश्चय की प्रशंसा की एवं अपना सहयोग देने का आश्वासन दिया।

समिति की प्रथम बैठक २८ फरवरी सन् ६५ को बेलगछिया उपवन में उद्योग पति श्री मिश्रीलालजी जैन की अध्यक्षता में हुई। समिति ने बाबूजी के अभिनन्दन के प्रतीक स्वरूप अभिनन्दन ग्रंथ

समर्पण करने का निश्चय किया। ग्रंथ के संपादनार्थ निम्नलिखित विद्वानों का संपादक मण्डल गठित किया गया :—

श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर।
,, डा० ए० एन० उपाध्याय, कोल्हापुर।
,, पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री; वाराणसी।
,, अगरचन्दजी नाहटा; बीकानेर।
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल; जयपुर।
डा० सत्यरंजन बनर्जी; कलकत्ता।
कालीदास नाग।

ग्रंथ में हिन्दी एवं अंग्रेजी के लेख रखना स्वीकार किया गया।

खेद है कि इनमें से श्री कालोदास नाग का देहावसान होगया।

समिति ने निश्चय किया कि ग्रन्थ के मुद्रण आदि का कार्य पं० चैनसुखदास जी के सान्निध्य में जयपुर में ही हो। एतद्धेतु एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव की गई जो प्रूफ रीडिंग आदि एवं अन्य कार्यों में उन्हें सहयोग दे सके और जो संस्कृत, अंग्रेजी का विद्वान् हो। अतः एतदर्थ पं० भँवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, की नियुक्ति की गई और उन्होंने यह कार्य करना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप श्री नाग के स्थान पर उनका सहवरण किया गया।

उक्त निश्चयानुसार अभिनन्दन ग्रंथ की तैयारी की जाने लगी। पं० चैनसुखदासजी एवं डा० उपाध्यायजी ने क्रमशः हिन्दी, एवं अंग्रेजी के लेखों का संपादन किया है। संपादक मण्डल के अन्य सदस्यों ने यथाशक्य सहयोग दिया है। इसके लिए समिति इन विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती है। जिन विद्वानों एवं महानुभावों ने ग्रन्थ के लिए लेखादि देकर सहयोग दिया उनकी भी समिति बहुत आभारी है।

अभिनन्दन ग्रन्थ की सामग्री के संकलन एवं संपादन हो जाने के बाद भी किन्हीं कारणों से उसका प्रकाशन प्रारम्भ नहीं हुआ था कि बाबूजी का स्वास्थ्य अचानक अधिक खराब हो गया और उन्हें ११ दिसम्बर सन् ६५ को अस्पताल में ले जाया गया। वहां कभी उनके पुनः स्वस्थ होने की आशा दिखती और कभी वह आशा क्षीण होती थी। वे उस अवस्था में भी साहित्य एवं समाज तथा विद्वानों की चर्चा में पूर्ण रस लेते थे।

मृत्यु से १० दिन पूर्व उन्होंने कहा था "देखो! पं० लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद ही राष्ट्रपति ने उनको भारतरत्न की उपाधि दी है। व्यक्ति की मृत्यु के बाद ही उसका अभिनन्दन होना

श्रेयस्कर है। मेरा भी अभिनन्दन या जो कुछ करना हो मेरी मृत्यु के बाद करना।" उनकी हार्दिक भावना पूरी हुई और हमारा अभिनन्दन न लेते हुए वे २६ जनवरी ६६ के दिन हमसे हमेशा के लिए बिछुड़ गए।

इस योजना में सहयोग देने वाले सभी धीमानों एवं श्रीमानों के प्रति समिति आभार प्रकट करती हुई कामना करती है कि बाबूजी की आत्मा समाज की भावी पीढी के पथप्रदर्शन के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती रहे।

सदस्य-सूची

१. साहू शांतिप्रसादजी जैन कलकत्ता
२. श्री विजयसिंहजी नाहर ,,
३. ,, सोहनलालजी दूगड़ ,,
४. ,, नरेन्द्रसिंहजी सिंधी ,,
५. ,, यशपालजी जैन देहली
६. ,, जुगलकिशोरजी मुख्तार ,,
७. ,, जुगमंदिरदासजी जैन कलकत्ता
८. ,, प्रेमचन्दजी जैन देहली
९. ,, जैनेन्द्रकुमारजी ,,
१०. ,, पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर
११. ,, मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत
१२. ,, धर्मचन्दजी सरावगी कलकत्ता
१३. ,, इन्द्र दूगड़, ,,
१४. ,, श्रीचन्दजी रामपुरिया ,,
१५. ,, गोपीचन्दजी चोपड़ा ,,
१६. ,, सत्यभक्तजी, वर्धा
१७. ,, नवरतनमलजी सुराणा कलकत्ता
१८. श्री लाभचन्दजी सुराणा ,,
१९. ,, मिश्रीलालजी ,,
२०. ,, नथमलजी सेठी ,,
२१. ,, मोहनलालजी साह ,,
२२. डा० ए० एन उपाध्याय, कोल्हापुर
२३. श्रीमती चंदाबाई जी आरा
२४. डा० नेमीचंदजी जैन, आरा
२५. पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी
२६. पं० जगमोहनलालजी कटनी
२७. श्री भगवतरायजी जैन देहली
२८. ,, अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर
२९. ,, नथमलजी टांटिया वैशाली
३०. ,, बाबूलालजी जैन कलकत्ता
३१. ,, लक्ष्मीचन्दजी जैन ,,
३२. ,, डा० कस्तूरचंदजी कासलीवाल जयपुर
३३. ,, बंशीधर शास्त्री कलकत्ता
३४. ,, गजराजजी गंगवाल कलकत्ता

३५. श्री अमरचन्दजी पहाड़िया कलकत्ता
३६. ,, मदनलालजी काला ,,
३७. ,, मदनलालजी पाण्ड्या ,,
३८. ,, हिम्मतसिंहजी जैन ,,
३९. ,, बाबूलालजी पाटणी ,,
४०. ,, शिखरचन्दजी पहाड़िया ,,
४१. ,, किसनलालजी काला ,,
४२. ,, इन्द्रचंदजी पाटणी ,,
४३. प्रो० कल्याणचंदजी लोढ़ा ,,
४४. श्री सुरजमलजी बच्छावत ,,
४५. ,, गजानन्दजी पांड्या गया
४६. रा० ब० हरखचंदजी रांची
४७. श्री मोहनलालजी पाटणी कलकत्ता
४८. ,, जगन्नाथजी पाण्ड्या कोडरमा
४९. ,, सागरमलजी गिरड़ी
५०. ,, नेमीचन्दजी पांड्या गौहाटी
५१. ,, चांदमलजी पांड्या ,,
५२. श्री भँवरलालजी बाकलीवाल मनीपुर
५३. ,, भागचन्दजी सोनी अजमेर
५४. ,, राजकुमार सिंहजी इंदौर
५५. ,, मटरूमलजी बैनाड़ा आगरा
५६. ,, महेन्द्रजी आगरा
५७. ,, अचलसिंहजी ,,
५८. ,, छिदामीलालजी फीरोजाबाद
५९. ,, विमलचन्दजी खरखरी
६०. ,, बद्रीप्रसादजी सरावगी पटना
६१. ,, दीपचन्दजी नाहटा कलकत्ता
६२. ,, सुबोधकुमारजी आरा
६३. ,, सीतारामजी सेकसरिया कलकत्ता
६४. ,, रामेश्वरजी टांटिया ,,
६५. डा० बनारसीदासजी केड़िया ,,
६६. श्री नन्दलालजी ,,
६७. ,, बजरंगलालजी जैन ,,

बन्शीधर शास्त्री
संयोजक
श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति

— :o: —

सम्पादकीय

जिनके जीवन में करुणा, अनुकंपा एवं सहानुभूति आदि अनेक मानवीय सद्वृत्तियों की अजस्र धारा बहती रहती है वे सभी के लिए अनुकरणीय होते हैं। ऐसा जीवन हर एक के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकता है और उसकी विशेषताएँ वर्तमान एवं अनागत मनुष्य के जीवन निर्माण के लिए सहायक हो सकती हैं। स्वर्गीय बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता ऐसे ही मानवोचित गुणों के धनी थे अतः उनके प्रति सामूहिक कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इस स्मृति ग्रंथ का प्रकाशित करना अत्यन्त आवश्यक था। इस स्मृतिग्रंथ में उनके जीवन परिचय एवं संस्मरण और श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण निबन्ध भी हैं जो पाठकों को विभिन्न विषयों के ज्ञानार्जन में सहायक सिद्ध होंगे।

इस ग्रंथ में चार खण्ड हैं।

इस स्मृति ग्रंथ के प्रथम खण्ड में स्वर्गीय बाबू छोटेलालजी जैन के प्रेरणास्पद व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करने के साथ साथ उनके भावभरे संस्मरण और विनम्र श्रद्धांजलियां हैं द्वितीय खण्ड में इतिहास, पुरातत्व एवं शोध सम्बन्धी सामग्री है। तृतीय खण्ड में साहित्य, धर्म और दर्शन सम्बन्धी लेख हैं। चतुर्थ खण्ड में अंग्रेजी में लिखे हुए गवेषणा पूर्ण लेख हैं। पाठकों की सुविधा हेतु प्रथमखण्ड को छोड़कर शेष खण्डों की सामग्री की संक्षिप्त सी सूचना यहां दी जा रही है।

'प्राचीन भारतीय वस्त्र और वेशभूषा" के लेखक श्री गोकुलचन्द्र जैन हैं। आपने आचार्य सोमदेव कृत 'यशस्तिलक चम्पू' जो दसवीं शताब्दी की असाधारण, महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रचना है, के आधार पर तत्कालीन भारतीय वस्त्र एवं वेशभूषा पर प्रकाश डाला है। लेख में सामान्य वस्त्रों का ही नहीं सिले हुए वस्त्रों का भी वर्णन है। लेख मे केवल तत्कालीन भारतीय और विदेशी वस्त्रों और वेशभूषा का ही ज्ञान नहीं होता अपितु उस समय के वस्त्रोद्योग और भारत के विदेशों के साथ सम्बन्धों का भी परिचय मिलता है।

"बप्पभट्टि चरित् : ऐतिहासिक महत्व" कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्री हरिअनन्त फड़के की कृति है। 'बप्पभट्टि चरित्' आचार्य प्रभाचन्द्र के 'प्रभावक चरित' का एक अंश है। ग्रंथ की रचना समाप्ति ई० स० १२७७ में हुई थी। लेखक के अनुसार उसमें राजा आम नागावलोक के सभा पंडित आचार्य बप्पभट्टि का जो जीवन-चरित है उसका केवल धार्मिक ही नहीं अपितु ऐतिहासिक महत्व भी है। 'बप्पभट्टि चरित्' में वर्णित ऐतिहासिक

इतिवृत्त का समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होता है। लेख इतिहास के विद्वानों और छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

"महाकवि रइधू युगीन अग्रवालों की साहित्य सेवा' डा० राजाराम जैन एम. ए. पी. एच. डी. की रचना है। इसमें अग्रवाल जातीय महाकवि रइधू और उनके समसामयिक अग्रवाल बन्धुओं की साहित्यसेवा का वर्णन किया गया है। लेख से अग्रवाल जाति के इतिहास के एक परिच्छेद का परिचय प्राप्त होता है।" वास्तव में जैन ग्रंथों की प्रशस्तियाँ केवल जैन इतिहास के लिए ही नहीं भारतीय इतिहास के लिये भी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं और उनके अध्ययन से इतिहास को कई विलुप्त कड़ियां जोड़ी जा सकती हैं। लेख संग्रह योग्य है।

"हिन्दी आदिकाल के जैन प्रबन्ध काव्य" के रचनाकार श्री श्याम वर्मा, एम. एस. सी. एम. ए. (संस्कृत, अंग्रेजी एवं हिन्दी) हैं। प्रस्तुत निबन्ध में विक्रम की आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के जैन प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त पर्यालोचन किया गया है। लेखक ने महाकवि स्वयंभूदेव, महाकवि पुष्पदन्त, और हरिभद्रसूरि की रचनाओं पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए कहा है कि इनकी विधाओं, शैलियों, काव्यरूढ़ियों आदि की पूर्व परम्परा और परवर्ती काव्य पर प्रभाव विस्तृत अध्ययन के विषय हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्येताओं के लिए निबन्ध का महत्त्व स्पष्ट है।

"जैन संस्कृति में नारी के विविध रूप" श्री प्रेमसुमन एम. ए. रिसर्चस्कालर की रचना है जिसमें जैन संस्कृति में नारी की स्थिति, वैवाहिक परम्परा, बौद्धिक नारियां, कलाविशारद, वीरांगना, सती प्रथा, विधवा विवाह, बहुपत्नीत्व प्रथा पर्दाप्रथा, गणिकाएं, साध्वी नारियां, एवं स्त्रियों की निन्दा और प्रशंसा आदि विषयों पर विविध रूपों और दृष्टिकोणों से नारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'जैन समाज के आन्दोलन" में सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्त ने जैनसमाज के पिछले साठ सत्तर वर्षों के आन्दोलनों का एक विहंगम सिंहावलोकन प्रस्तुत करते हुए अपने साथ बाबू छोटेलालजी के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है।

"मथुरा की प्राचीन कला में समन्वयभावना" के लेखक श्री कृष्णदत्त वाजपेयी हैं। लेख में लेखक ने मथुरा से प्राप्त प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि यहां के कुशल कलाकार अनेक देशी और विदेशी तत्वों तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन की विविध धाराओं का समन्वित रूप प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। पुरातत्व प्रेमियों और शोधकर्त्ताओं के लिए लेख का महत्व स्पष्ट है।

"भट्टारक युगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ"-लेखक—डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, एम. ए. डी. लिट् आरा हैं। अध्ययनशील और विद्वान लेखक ने इस निबन्ध में १३वीं शती से १८वीं शती तक के भट्टारक युगीन 'पौराणिक चरितकाव्य," "लघुप्रबन्धकाव्य," "संदेश या दूतकाव्य" आदि पन्द्रह प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास आदि पर मनन करने योग्य एवं

गवेषणापूर्ण विचार किया है। वास्तव में लेखक का यह कथन कि ग्रन्थबाहुल्य की दृष्टि से तो इस युग का महत्व है ही, पर विविध विषयक रचनाओं की दृष्टि से भी इस युग का कम महत्व नहीं है, अक्षरशः सत्य है।

'पंच कल्याणक तिथियां और नक्षत्र' लेखक–श्री मिलापचन्द कटारिया, केकड़ी। प्रस्तुत निबंध में लेखक ने उत्तरपुराण, अपभ्रंश महापुराण और कल्याण माला इन तीनों ग्रंथों की पंचकल्याणक तिथियों के मतभेद को ज्योतिषशास्त्र के प्रमाणानुसार शुद्ध करके समन्वित किया है और अन्त में पंचकल्याणकों की शुद्ध तिथियों और नक्षत्रों का एक चार्ट दिया है। लेखक की युक्तियां अकाट्य मालूम होती हैं और एतद् सम्बन्धी विवाद को समाप्त करने में सक्षम हैं। लेखक ने यह लेख बड़े अध्ययन और परिश्रम से लिखा है।

"जैन ग्रंथों में राष्ट्रकूटों का इतिहास' लेखक—श्री रामबल्लभ सोमानी। जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियां ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इनका परिश्रम पूर्वक अध्ययन किया जावे तो भारत के इतिहास की कई विलुप्त कड़ियां सहज ही जोड़ी जा सकती हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन ग्रंथों से राष्ट्रकूटों के इतिहास का वर्णन किया है जो श्लाघनीय है।

"भारतीय साहित्य में सीता हरण प्रसंग" लेखक–डा० छोटेलाल शर्मा एम. ए. पी. एच. डी.। प्रस्तुत लेख में भारतीय वाङ्मय में सीता हरण प्रसंग से सम्बन्धित जितने भी प्रकार की धाराएं उपलब्ध होती है उन सबका विवेचन किया गया है।

"आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में भारतीय समाज" लेखक—डॉ० जयशंकर मिश्र एम. ए. पी. एच. डी. प्रस्तुत निबंध में आचार्य हेमचन्द्र के ग्रंथों के आधार पर भारतीय समाज सम्बन्धी उल्लेखों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। वर्णव्यवस्था कैसी थी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों का समाज में क्या स्थान था, शूद्रों की उत्पत्ति कैसे हुई, आदि विषयों द्वारा तद्युगीन समाज के स्वरूप को समझने में लेख से बड़ी सहायता मिलती है।

"५वीं शती के प्राकृत ग्रन्थ वसुदेव हिन्डी की रामकथा"–लेखक श्री अगरचन्द नाहटा। प्रस्तुत लेख में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि सीता रावण की पुत्री थी अथवा जनक की, एतद् सम्बन्धी विवाद भारत में ५वीं शती से भी प्राचीनतर है। ग्रंथ के नाम के साथ जो हिन्डी शब्द लगा है हमारे विचार मे वह हिन्दी का ही पूर्व रूप है। वसुदेव हिन्डी अर्थात् वसुदेव भाषा अथवा हिन्दी भाषा में वसुदेव चरित्र। अगर हमारा यह विचार सत्य है तो हिन्दी शब्द और हिन्दी भाषा का प्रादुर्भाव ५वीं शती से भी अधिक पूर्व में चला जाता है। भाषा सम्बन्धी शोध कर्त्ताओं के लिये 'वसुदेव हिन्डी' वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हो सकता है।

'अग्रवालों का जैन धर्म मे योगदान' लेखक–श्री परमानन्द शास्त्री। प्रस्तुत लेख मे बारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक अग्रवाल जाति का जैन धर्म के प्रचार और विकास में क्या और कितना योग रहा है इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया है। अग्रवाल जाति का यदि इतिहास लिखा जावे तो यह निबन्ध लेखक को महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान करने में समर्थ है।

'हिन्दी का आदिकाल और जैन साहित्य' लेखक–डा० छविनाथ त्रिपाठी एम. ए. पी. एच. डी.। आदिकालीन जैन साहित्य की उपेक्षा कर हिन्दी साहित्य के आदिकाल के स्वरूप और

उसके सर्वांगीण महत्त्व का आकलन कर पाना संभव नहीं है, यह है वह निष्कर्ष जो लेखक ने हिन्दी के आदिकाल के जैन ग्रंथों का रासक, मुक्तक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत परिचय दे निकाला है। लेखक ने जो कुछ कहा है उसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। खेद है कि इधर इस सम्बन्धी शोध कार्य बहुत कम हुआ है। जब तक तत्कालीन प्राप्त जैन ग्रन्थो का इस दृष्टि से अध्ययन न किया जावे हिन्दी साहित्य के आदिकाल के इतिहास के पन्ने भरे नहीं जा सकते।

'दो ऐतिहासिक रचनाएं' लेखक—श्री भंवरलाल नाहटा। इस लेख में 'श्री पूज्य श्री चिन्तामणिजी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय, तथा 'गणनायक श्री खेमकरणजी जन्मोत्पत्ति संथारा विधि' नामक दो रचनाओं का परिचय दिया गया है जो १८वीं शताब्दी की हैं और अब तक अप्रकाशित हैं।

"राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन जैन प्रस्तर प्रतिमाएँ" लेखक—श्री बृजेन्द्रनाथ शर्मा एम. ए.। प्रस्तुत निबन्ध में राष्ट्रीय संग्रहालय में संगृहीत कतिपय जैन प्रस्तर प्रतिमाओं का, जो मध्यकालीन हैं, परिचय दिया गया है। जिनका परिचय प्रस्तुत लेख में है वे प्रतिमाएँ ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, तीर्थंकर, गोमेध और अम्बिका, तथा अम्बिका की हैं। लेख सचित्र है।

"आचार्य जिनेश्वर और खरतरगच्छ" लेखक—साहित्य महोपाध्याय श्री विनयसागरजी। इस लेख में खरतरगच्छ के उद्भावक आचार्य जिनेश्वर सूरि के जीवन दर्शन पर विवेचन करते हुए खरतर गच्छ शब्द पर विचार किया गया है तथा खरतर गच्छ का उत्पत्ति काल सं० १०६६ से १०७८ के मध्य महाराजा दुर्लभराज के राज्यकाल मे सिद्ध किया है।

"जैनधर्म की प्राचीनता एवं सार्वभौमिकता" लेखक—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री। लेख में अनेक पुष्ट प्रमाणों और युक्तियों द्वारा जैन धर्म को प्राचीन और सार्वभौम प्रमाणित किया गया है। लेख परिश्रम पूर्वक लिखा गया है और जैन इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए इसकी महत्ता स्वयंसिद्ध है।

"बीसवीं सदी विक्रमी के जैनसंत योगी श्रीमद्राजचन्द्रजी" लेखक—श्री कस्तूरमल बांठिया। श्रीमद्राजचन्द्र से प्रायः प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी पाठक परिचित होगा। श्रीमद् का प्रभाव गांधीजी ने स्वयं अपने ऊपर होना स्वीकार किया था। लेख पाठक को सदाचार की प्रेरणा देता है।

"जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन" लेखक—वैद्य प्रकाशचन्द पांड्या आयुर्वेदाचार्य। जैसा कि लेख के शीर्षक मे स्वयं प्रकट है प्रस्तुत लेख में जैन ज्योतिष को प्राचीनतम सिद्ध किया गया है। इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिये लेख महत्वपूर्ण है और परिश्रम पूर्वक लिखा गया है।

"जैन दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य समन्तभद्र" लेखक—प्रो० उदयचन्द्र जैन एम. ए.। उक्त लेख में आचार्य समन्तभद्र के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। दर्शन का क्या

अर्थ है ? जैन दर्शन के इतिहास में समन्तभद्र का क्या स्थान है ? उनके समय की दार्शनिक विचारधारा क्या थी ? उन्होंने सर्वज्ञ और वस्तु में उत्पाद व्यय ध्रौव्य की सिद्धि किस प्रकार की है ? आदि विषयों का विवेचन है जिससे पाठक को समन्तभद्र की दार्शनिक विचारधारा का तो भान होता ही है, साथ ही जैन दर्शन की मुख्य-मुख्य बातों का भी ज्ञान हो जाता है।

"प्रातः स्मरणीय सन्त गणेश वर्णी" लेखक-नीरज जैन। नीरजजी हिन्दी के जाने माने लेखक हैं। गणेशप्रसादजी वर्णी के नाम से भी शायद ही कोई जैन अपरिचित हो। उन जैसे सरल स्वभावी साधु कम ही देखने में आते हैं।

"आगमों व त्रिपिटकों के संदर्भ में अभयकुमार" लेखक मुनि श्री नगराज जी। श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का वर्णन जैन और बौद्ध दोनों ही साहित्य में आया है किन्तु उसका जीवन वृत्तान्त भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है। मुनि श्री ने प्रमाण सहित सिद्ध किया है कि जैन और बौद्ध अभयकुमार एक ही व्यक्ति न होकर दो पृथक-पृथक व्यक्ति हैं। लेख की अपनी ऐतिहासिक विशेषता है।

"भारत की जैन जातियां" लेखक-भंवरलाल पोल्याका। प्रस्तुत लेख में लेखक ने विभिन्न सूचियों के आधार से ३५० से भी अधिक जातियों के नाम गिनाये हैं जब कि प्रचलित जन श्रुति के अनुसार इनकी संख्या ८४ ही कही जाती है प्रत्येक सूचिकार ने भी यह संख्या ८४ ही रखी है। लेख में कुछ जातियों के प्राप्त प्राचीनतम उल्लेखों का भी वर्णन है। लेख खोज पूर्ण है।

तृतीय खण्ड

"जैन दर्शन, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान में आकाश और काल" लेखक-मुनि महेन्द्रकुमार जी द्वितीय। प्रस्तुत लेख में आकाश और काल सम्बन्धी जैन और पाश्चात्य दर्शनों एवं वैज्ञानिक मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और अन्त में निष्कर्ष निकाला गया है कि वैज्ञानिक आपेक्षिकता का सिद्धान्त आकाश और काल सम्बन्धी जिन धारणाओं को उपस्थित करता है उनकी सत्यता असंदिग्ध एवं उनका दार्शनिक प्रतिपादन सर्व-सम्मत नहीं है। आकाश, काल और विश्व की गतिस्थिति सम्बन्धी समस्याओं का हल करने वाले जैन दर्शन के सिद्धांत एक सम्यक् दार्शनिक प्रणाली आज के वैज्ञानिको के समक्ष उपस्थित करते है। मुनि श्री स्वयं बी. एस. सी है अतः उनका विवेचन वैज्ञानिक एवं अधिकृत है। आज इस ही प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जैनदर्शन के सिद्धान्त विश्व के समक्ष रखने की महती आवश्यकता है।

"भूधरदास कृत पार्श्वपुराण और उसमें पशु-पक्षि वर्णन" लेखक—डा. महेन्द्रसागर प्रचंडिया एम. ए. पी एच. डी.। लेख में कवि भूधरदास ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति हेतु पार्श्वपुराण में जिन पशु-पक्षियों का आधार लिया है उनका अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि कवि का जीवन धार्मिक मर्यादाओं में नियमित और सीमित था तथापि उन्होंने जीवन की अनेक स्थिति-परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था।

"समाधियोग" लेखक—आचार्य श्री रजनीश। लेखक के अनुसार सत्य की खोज के दो मार्ग हैं। एक वैचारिक और दूसरा दार्शनिक। वैचारिक मार्ग तर्क पर आधारित होने से

मिथ्या और दिशा भ्रामक है और उससे सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। तत्व चिन्तन ग्रन्थों द्वारा प्रकाश की विचार और विवेचना है जब कि योग स्वयं को आंखें देता है और सत्य के दर्शन की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है। चित्त की शून्य और पूर्ण जागृत अवस्था ही समाधि है। समाधि सत्य की चक्षु है। सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति ही वास्तविक जीवन है। उसके पूर्व मानव मृतक के समान है।

"आचार्य सोमदेव और उनका यशस्तिलक चम्पू" लेखक—मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज। प्रस्तुत लेख में मुनि श्री ने आचार्य सोमदेव के व्यक्तित्व और उनकी बहुचर्चित कृति यशस्तिलक चम्पू का अध्ययन करते हुए यह परिणाम निकाला है कि आचार्य सोमदेव लोक व्यवहार के प्रबल पक्षपाती थे और इसी व्यवहार मार्ग से निश्चय मार्ग की ओर अग्रसर होना उन्हें अभीष्ट था। वास्तव में जैसा कि लेखक महोदय ने कहा है इस दृष्टि से आचार्य के कृतित्व का मूल्यांकन निःसंदेह अपेक्षित है।

"जैन साहित्य में शान्त रस" लेखक—डा० नरेन्द्र भानावत एम.ए. पी.एच.डी.। "जैन धर्म और दर्शन का मूल स्वर आत्मा पर पड़े हुए विभिन्न कर्म पुद्गलों का आवरण हटा कर उसे अपने विशुद्ध सहज रूप मे देखना है। यही मनोभूमि उसे साहित्य सर्जन की ओर प्रेरित करती है। यही कारण है कि जैन साहित्य मे जीवन के विभिन्न पक्षों का निरूपण होते हुए भी उसकी अन्तिम परिणति शांतरसात्मक है ......" इस पृष्ठ भूमि में लेखक ने साहित्य में रस शब्द के विभिन्न प्रयोगों का दिग्दर्शन कराते हुए जैन दृष्टिकोण से शांत रस की प्रमुखता सिद्ध करते हुए एवं रस सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण से विचार करते हुए शांत रस का रसराजत्व प्रमाणित किया है तथा जैन साहित्य में शांतरस की प्रमुखता देखकर जो लोग इसे वर्तमान जीवन के लिये अनुपयोगी मानते हैं और उसे सामाजिक हित में बाधक मानते हैं; क्योंकि उनके अनुसार शांतरस की प्रमुखता जीवन को निराशा की ओर ले जाती है और अभिव्यक्ति को अकर्मण्य बना देती है, उनकी इस मान्यता का युक्तिपुरस्सरपूर्वक खण्डन किया है।

"साहित्य, व्युत्पत्ति और परिभाषा" लेखक—श्री रवीन्द्र कुमार जैन, एम.ए. पी.एच.डी.। प्रस्तुत लेख में लेखक ने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा का भारतीय, पाश्चात्य एवं उर्दू भाषा के विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हुए स्थापना की है कि साहित्य अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण मानव जगत को उसकी विविधताओं में देखते हुए भी उसे एक मैत्रीपूर्ण सहअस्तित्व के सूत्र में आबद्ध करना चाहता है। लेखक के इस विचार से कि साहित्य मूलतः जीवन निष्ठा के प्रकाशनार्थ होना चाहिए असहमत होना कठिन है।

"फागु काव्य की नवोपलब्ध कृतियां" लेखक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम.ए. पी.एच.डी.। रास, बेलि आदि की भाँति ही फागु भी प्राचीन साहित्य का एक काव्य रूप रहा है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने अपने शोध संदर्भ में उपलब्ध छह नवीन फागु काव्यों का विवरण प्रस्तुत कर प्राप्त फागु काव्यों की संख्या में वृद्धि की है।

"जैन दर्शन में अर्थाधिगम चिन्तन" लेखक—श्री दरबारीलाल जी कोठिया। जैनदर्शन में अर्थ के अधिगम का साधन प्रमाण और नय को स्वीकार किया गया है जबकि जैनेतर दर्शनों

में केवल प्रमाण को। विद्वान् लेखक ने युक्ति पुरस्सरपूर्वक आगम प्रमाणों के साथ जैन दर्शन का पक्ष सिद्ध किया है।

"दर्शन और विज्ञान में आत्मा" लेखक–श्री उदय नागौरी, बी.ए. सिद्धांत। आत्मा है या नहीं, यह प्रश्न बहुत प्राचीन काल से ऊहापोह का विषय बना हुआ है। प्रस्तुत लेख में पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिकों का आत्मा के सम्बन्ध में जो विचार है उनको एकत्र कर अन्त में विज्ञान का इस सम्बन्ध में क्या अभिमत है यह बताया है। लेख काफी अध्ययन और मनन के पश्चात् लिखा गया है। यह लेख के अन्त में सहायक ग्रंथों की दी गयी सूची से ही प्रकट है।

"दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण" लेखक–श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'। लेखक हिन्दी संसार के जाने माने हैं। विषय को प्रकट करने की उनकी अपनी एक विशिष्ट ही शैली है। प्रस्तुत लेख में भी उन्होंने अपनी उस ही विशिष्ट शैली में बड़े ही रोचक ढंग से अनेकान्त का प्रतिपादन किया है। "हम अपनी राय पर दृढ़ रहें, पर दूसरे की राय पर अपनी राय न चढ़ावें, उसे नगण्य न मानें। इससे मतभेद के आगे एक दीवार खिंच जाती है और क्रोध, हिंसा, प्रतिहिंसा और युद्ध नहीं हो पाते। यह भी एक दृष्टिकोण ही है। 'दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण' भारत के ज्ञानकोष को भगवान् महावीर का प्रेमोपहार है।" यह है लेख का निष्कर्ष और गृह, देश और विश्वशांति का अमोघ उपाय।

"गंग नरेश मारसिंह की सल्लेखना" लेखक–पं. के. भुजबली शास्त्री। गंगनरेश मारसिंह ने ई० सन् ९७४ में आचार्य अजित सेन के पादमूल में सल्लेखना द्वारा शरीर त्याग किया था। गंग नरेश के प्रताप का वर्णन श्रवणबेलगोल के लेख सं. ३८ और ५९ में है। उस ही वृत्तान्त को लेखक ने अपनी भाषा में कथोपकथन शैली में लिखा है।

"भारतीय जीवन महानद के दो किनारे" लेखक–स्व० श्री सत्यदेव विद्यालंकार। शायद ही हिन्दी का कोई ऐसा पाठक हो जो श्री सत्यदेव जी के नाम से परिचित न हो। वे कई दैनिक पत्रों के सफल सम्पादक रहे थे। प्रस्तुत लेख उन्हीं की यशस्वी लेखनी से उद्भूत है। "श्रमण संस्कृति का मूल आधार श्रम है जिसके द्वारा आत्म विकास में संलग्न व्यक्ति अणुव्रतों और महाव्रतों का पालन करते हुए भगवान् पद की प्राप्ति कर सकता है।.....अपने श्रम के अनुसार हर व्यक्ति को उसका परिणाम भोगना ही होगा..............हर व्यक्ति की आत्म साधना उसके अपने श्रम पर निर्भर है। वह उसके लिये किसी दूसरे को दान दक्षिणा देकर कमीशन एजेण्ट अथवा ठेकेदार नहीं बना सकता। यह दोनों संस्कृतियों (श्रमण और वैदिक) में मूलभूत अन्तर है। ....जैन धर्म का वर्तमान रूप मानव जीवन में युगों तक किये गये सांस्कृतिक प्रयोगों का सार अथवा निचोड़ है................आदि।" बताते हुए उन्होंने परामर्श दिया है कि जैन धर्म के मूल तत्वों की व्याख्या इस रूप में अवश्य ही की जानी चाहिए कि वे वर्तमान कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सर्वसम्मत हल उपस्थित कर सके। अन्त में उन्होने चेतावनी दी है कि व्यावहारिक रूप में जैनधर्म की क्षमता असीम है। दुर्भाग्य यह है कि जैन धर्म के अभिमानी लोगों में ही विश्वास, श्रद्धा तथा निष्ठा की कमी उसकी क्षमता के लिये घातक सिद्ध

हो रही है। भारतीय जीवन महानद के दोनों किनारों को पुष्ट करने के बजाय हम उनको कमजोर करने में लगे हैं। इस वस्तु-स्थिति को जितनी जल्दी समझा जावेगा, उतना ही हमारा कल्याण सुनिश्चित और सुरक्षित है। आशा है समाज के नेता, विद्वान् और धर्म के ठेकेदार स्वर्गीय आत्मा की इस चेतावनी को सुनेंगे।

"अपभ्रंश साहित्य और मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि कृत व्यवस्था-शिक्षा-कुलकम्', ।" लेखक—डा० हीरालाल माहेश्वरी, एम.ए. पी-एच डी. एल.एल.बी. डि-फिल, प्राध्यापक राजस्थान विश्वविद्यालय। 'व्यवस्था शिक्षा कुलकम्' मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि की अपभ्रंश भाषा की उपदेश प्रधान मुक्तक रचना है। रचनाकाल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है। इसी रचना का विवेचन लेख का विषय है। लेख परिश्रम से लिखा गया है।

'संस्कृत के जैन संदेश काव्य" लेखक—श्री गोपीलाल अमर, एम.ए. साहित्यरत्न। जैन संदेश काव्यों की इतर संदेश काव्यों से विशेषता बताते हुए लेखक ने पार्श्वाभ्युदय, नेमिदूत, जैन मेघदूत, शीलदूत, पवनदूत, चेतोदूत, इन्दुदूत, मेघदूत समस्या लेख इन आठ संदेश काव्यों का विस्तार से वर्णन बताते हुए इन्दुदूत, चन्द्रदूत, चन्द्रदूत, मनोदूत और मयूरदूत इन पांच सन्देश काव्यों का केवल नाम मात्र ही उल्लेख किया है। जैन सन्देश काव्यों का परिचय प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य रहा है।

"वाग्भटालंकार : एक परिशीलन" लेखक—श्री अमृतलाल शास्त्री। संस्कृत अलंकार ग्रन्थों में वाग्भटालंकार का अपना एक विशेष स्थान है। यद्यपि प्राप्त अलङ्कार ग्रन्थों में यह सबसे छोटा है किन्तु अलङ्कार सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों की जानकारी प्रस्तुत ग्रन्थ से हो जाती है। ग्रन्थ का रचना काल विक्रम की १२वीं शताब्दी है। लेखक ने इस लेख में उक्त ग्रंथ का परिशीलन किया है।

'सिद्धसेन का अभेदवाद और दिगम्बर परम्परा" लेखक-सिद्धांताचार्य पं० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री। केवली के ज्ञानोपयोग को लेकर जैनाचार्यों मे मतभेद है। एक मत के अनुसार दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है। दूसरे मत के अनुसार दोनों उपयोग युगपत् होते है। तीसरे मत के अनुसार ज्ञान और दर्शन में कोई भेद ही नहीं है। यह तीसरा मत है सन्मति तर्क के कर्ता आचार्य सिद्धसेन का। लेखक ने जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् हैं सिद्धसेन की उन तमाम युक्तियों का जो कि उन्होने प्रथम दोनों मतों के खण्डन में दी है, दिग्दर्शन कराते हुए द्वितीय मत के साथ उसका समन्वय किया है और बतलाया है कि द्वितीय मत में निश्चय दृष्टि से केवली के ज्ञान और दर्शन अभिन्न है जबकि सिद्धसेन की तार्किक दृष्टि में अभिन्न है। केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर इन दोनों में है। इसीलिये सिद्धसेन के अभेदवाद का द्वितीय मत के अनुयायियों की परम्परा में प्रबल विरोध नही मिलता, अपितु प्रकारान्तर से समर्थन ही मिलता है। कहना नहीं होगा कि लेखक ने इस सम्बन्ध में नया दृष्टिकोण विद्वानों के समक्ष उपस्थित किया है जो विचारणीय और मननीय है।

"हिन्दी जैन भक्त कवियों की मधुर भावना" लेखक—श्री रंजन सूरि देव, पटना। लेखक ने उदाहरणपूर्वक बताया है कि जैन कवियों ने दाम्पत्य रति को भौतिक धरातल पर

नहीं उतारा क्योंकि जैन कवि गृहस्थ होते हुए भी आचरण में साधु ही के समान होते थे। अतः जो कुछ उन्होंने कहा वह आध्यात्मिक स्तर पर ही कहा। उन्होंने अपनी कविता को विलासिता के स्तर से परे ही रखा। उनकी दृष्टि में विलासिता या मधुर भावना ही अशांति का कारण है। फिर भी जैन कवि मधुर भावना से सर्वथा अछूते रहे ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

'निसीहिया या नशियां'' लेखक-- श्री हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, ब्यावर। भारत में बहुत से नगर एवं ग्राम ऐसे हैं जिनके बाहर जैन मंदिर बने हुए हैं जो नशियां कहलाते हैं। इन मंदिरों में पर्याप्त ऐसा स्थान होता है जहां साधु सन्त आदि रह सकें। यह नशियां शब्द कैसे बना, इसका पूर्व रूप क्या था आदि पर विचार करना ही इस लेख का विषय है। लेखक ने कई प्रमाणों और युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नशियां निसिहियां का ही बिगड़ा हुवा रूप है। "ऊँ जय जय जय, निस्सही निस्सही निस्सही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु" पाठ का जो अर्थ वर्तमान में प्रायः प्रचलित है लेखक ने उससे भी अपना विरोध प्रकट किया है और उन्होंने सयुक्तिक बतलाया है कि यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'निषीधिकायै नमोऽस्तु', अथवा 'णमोत्थु णिसीहियाए'' होना चाहिये। लेखक की युक्तियां विद्वानों के लिये विचारणीय हैं।

चतुर्थ खण्ड

"Jainism as I understand." लेखक-श्री नरेन्द्रसिंह सिंघी। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन धर्म में ईश्वर, जैन साधु और गृहस्थों का आचार, धर्म एवं विभिन्न देशों में रहने वाले जैनों को एकता में बांधने वाले साधनों आदि की अति संक्षिप्त जानकारी दी है जिससे जैनधर्म के मोटे २ सिद्धांतों का ज्ञान पाठक प्राप्त कर सकता है।

"Jainism in the eye of Swami Vivekanand." लेखक-श्री समरेश बंदोपाध्याय, एम. ए.। वर्तमान युग के प्रसिद्ध वेदान्ती सन्त स्वामी विवेकानन्द का जैनधर्म के सम्बन्ध में क्या विचार था, यह इस लेख के पढ़ने से ज्ञात होता है। यद्यपि जैन वेदों को प्रमाण और ईश्वरकृत नहीं मानते तथापि वे हिन्दू हैं ऐसी स्वामीजी की मान्यता थी।

"Ahimsa in Indian Thought." लेखक-डा० सुकुमार सेन। अहिंसा सिद्धांत भारतीय धर्मों का प्राण है। प्रायः सभी धर्मों ने इस पर जोर दिया है। इतना होने पर भी जैन, बौद्ध और हिन्दू इन तीन प्रमुख धर्मों के अहिंसा सम्बन्धी दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। इस अन्तर को संक्षेप में स्पष्ट करना ही इस लेख का उद्देश्य है जिसमें लेखक सफल हुआ है।

"Place of Jain Philosophy in Indian Thought." लेखक-महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्रा। सर्वोच्च सत्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय की खोज करना प्रायः सब ही भारतीय धर्मों का मूल उद्देश्य रहा है। विभिन्न ऋषि महर्षियों ने विभिन्न उपायों की खोज की है अथवा यों कहें कि उद्देश्य तो सबका एक है किन्तु उसकी प्राप्ति के मार्ग सबके भिन्न भिन्न हैं। जैनों का भी अपना एक मार्ग है। भारतीय दर्शनों में जैन धर्म की स्थिति और

महत्त्व को स्पष्ट करना ही लेख का विषय है। लेख निष्पक्ष दृष्टि से लिखा गया है और पठनीय है।

'The Bold Jaina Conception of the Nature of Reality" के लेखक डा. भवती भट्टाचार्य एम.ए. पी. एच. डी. हैं। सत्य का स्थापन अनुभवों की भित्ति पर होता है। कोई भी बात केवल इसलिये सत्य नहीं है कि शास्त्रों में ऐसा लिखा है अथवा परम्परा से ऐसा चला आ रहा है अपितु, अनुभव से भी वह बात सत्य भासित होनी चाहिये और वह अनुभव तर्क की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये। जैन दर्शन की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए पदार्थ अनेक धर्मात्मक है, वह उत्पाद, व्यय और उभयात्मक है, परस्पर तीन और छह का विरोध रखने वाले धर्म भी एक ही पदार्थ में एक ही समय विभिन्न दृष्टि कोणों से रह सकते हैं, जैन दर्शन के इस अनेकान्त वाद का प्रतिपादन लेखक ने बड़े ही सुन्दर और रुचिपूर्ण ढंग से इस लेख में किया है। जैन दर्शन के इस वाद जो कि केवल उसकी ही धरोहर है, को समझाने में लेख पूर्णतः सक्षम है।

"The Basic Idea of God" लेखक– डा. हरीश भट्टाचार्य, एम. ए. बी. एल., पी. एच. डी.। विश्व के जितने भी वर्तमान और भूतकालिक धर्म हैं उनकी ईश्वर संबंधी मान्यता अलग अलग हैं। कोई एक ईश्वर मानता है कोई दो और कोई इससे भी अधिक, कोई ईश्वर को सृष्टि कर्ता बताता है तो कोई इसका खण्डन करता है। किन्तु वह सर्वशक्तिमान है, पूर्ण ज्ञानी है, सम्पूर्ण रूप से सुखी है और निर्भय है ईश्वर के इस स्वरूप पर सब एक मत हैं। लेखक ने ईश्वर संबंधी विभिन्न मान्यताओं का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि किस प्रकार जैन ईश्वर के सर्वमान्य स्वरूप से सहमत होते हुए भी उनसे इस विषय में असहमत हैं कि वह एक है, सृष्टि कर्ता है और सुख दुख का देने वाला है। जैन प्रत्येक आत्मा में ईश्वर होने की शक्ति मानता है। चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर उसमें वे चारों शक्तियां आ जाती हैं जो ईश्वरत्व के आवश्यक गुण हैं। इसे ही जैनी अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति कहते हैं।

'Omniscience, a Fiction or a Fact" लेखक– प्रोफेसर जी. आर. जैन। जैन मान्यताओं के अनुसार प्रदेश की अवगाहना शक्ति और वैज्ञानिक आदम्स और एडिंग्टन की मान्यताओं की एक रूपता, पदार्थ और उसकी शक्ति के सम्बन्ध में आईस्टीन के सिद्धान्त के साथ जैनों के बताए हुए पदार्थ के स्थूलत्व सूक्ष्मत्व आदि गुणों के साथ समता, पुद्गल की पूरयन्ति और गालयन्ति क्रिया का वर्तमान पदार्थ विज्ञान के साथ समत्व बताते हुए बताया है कि एटम बम पुद्गल की गालयन्ति क्रिया का और हाईड्रोजन बम पूरयन्ति क्रिया का उदाहरण है। परमाणु की वैद्युतिक शक्ति के सम्बंध में भी जैनियों को ज्ञान था। जैनियों के परमाणु में माने हुए स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा विद्युत में मानी हुई ऋण और धन शक्तियां ही हैं। विश्व की स्थिति, उसकी परिमिति के सम्बन्ध में जैन मान्यता और वर्तमान में वैज्ञानिक मान्यता की परिवर्तनशीलता बताते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक दीपक बसु के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार विज्ञान विश्व की स्थिति, निर्माण आदि के सम्बन्ध में उस ही परिणाम पर पहुंचेगा जिस पर कि जैन पहुंचे थे। जैनों के धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के साथ वैज्ञानिकों के ईथर और फील्ड की तुलना करते हुए तर्कानुसार जैन

मान्यता का मण्डन किया है। इस प्रकार जैनों की छह मान्यताओं का वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ मेल बैठाते हुए लेखक ने पाठकों से यह निर्णय मांगा है कि आज के वैज्ञानिक असंख्य धनराशि खर्च करके एवं दिन रात परिश्रम करके जिन सिद्धान्तों का निर्माण कर रहे हैं वे जैन तीर्थंकरों ने पहले ही आज से हजारों वर्ष पूर्व स्थापित कर दिये थे। ऐसी अवस्था में वे केवलज्ञानी थे या नहीं अथवा जैनों का केवलज्ञान केवल एक ढकोसला ही है? लेखक ने अपने लेख की स्वस्थ आलोचना भी आमंत्रित की है। आज वास्तव में ऐसे ही लेखों की आवश्यकता है। किन्तु खेद है कि इधर जैनों का ध्यान ही नहीं है। जैन प्रति वर्ष लाखों रुपया मेलों-ठेलों में खर्च करते हैं किन्तु अभी तक भी किसी धनी मानी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि एक ऐसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की जाय जहाँ प्रयोगों द्वारा जैन मान्यताओं को कसा जावे और वर्तमान वैज्ञानिक अनुसंधानों के साथ उनके साम्य और वैषम्य का पता लगाया जावे। यदि हमें विश्व में जैनधर्म का प्रचार करना है और दुनिया को यह बता देना है कि जैन धर्म पूर्ण रूप से एक वैज्ञानिक धर्म है तो हमें एक न एक दिन ऐसा करना ही होगा। यह कार्य जितना शीघ्र हो सके उतना ही हितकर है।

"Essentials of Jaina Metaphysics and Epistemology." लेखक–श्री हरिमोहन भट्टाचार्य, एम.ए. (दर्शन एवं संस्कृत)। पदार्थ विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल स्याद्वाद अथवा अनेकान्त ही सक्षम है यह लेखक ने बड़े ही तार्किक ढंग से सिद्ध किया है। जैसा कि लेखक ने स्वयं ही कहा है और हम भी उससे सहमत हैं लेखक का इस विषय के अध्ययन और मनन में पर्याप्त शक्ति और समय व्यय हुआ है।

"The Jaina Architecture–Ancient and Mediaeval." लेखक–डा० ज्योति प्रसाद जैन, एम.ए., एल.एल.बी., पी-एच.डी.। प्राच्य और मध्यकालीन जैन शिल्पकला, स्तूप, गुफा और मन्दिर आदि का अति संक्षिप्त परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि जैनों ने केवल निर्माण ही नहीं किया अपितु इस विषय के ग्रंथ भी लिखे। अर्थात् शिल्पकला के व्यावहारिक और भौतिक दोनों ही पक्षों को जैनों ने समृद्ध किया यह दिग्दर्शन कराना ही लेख का उद्देश्य है।

"Religious Syncretism as Revealed in the Jaina Sculpture Art of the Eastern India." लेखक–श्री डी. के. चक्रवर्ती एम.ए.। पूर्वीय भारत की जैन मूर्तिकला के उदाहरण देकर लेखक ने सिद्ध किया है कि प्राचीन समय में भारत में धार्मिक सहिष्णुता अपने चरमोत्कर्ष पर थी और विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं का प्रभाव जैन मूर्ति कला पर भी पड़ा है। लेख चिंतनपूर्ण है और अपने विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। लेखक स्वयं पश्चिम बंगाल सरकार के अधीन आर्किओलोजिकल विभाग के अध्यक्ष हैं अतः इस विषय पर उनके निष्कर्ष एक अधिकृत व्यक्ति के निष्कर्ष हैं।

'Mathura–The Centre of Jaina Art." लेखक– श्री मिहिर मोहन मुखोपाध्याय। मथुरा से प्राप्त जैनकला अवशेषों का परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि बौद्धों

और हिन्दुओं के समान ही जैनों की भी कला के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी देन है और जैन कला अपनी एक अलग विशेषता रखती है।

"The Early Phase of Jaina Iconography.' लेखक- श्री आर. सी. शर्मा। लेखक स्टेट म्यूजियम, लखनऊ के क्यूरेटर हैं। वराहमिहर द्वारा प्रतिपादित जैन मूर्तियों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मूर्तिपूजा का आविर्भाव काल खोजने का प्रयत्न किया है। वर्तमान में प्राप्त अवशेषों के अनुसार यदि लोहानीपुर पटना से प्राप्त नग्न प्रतिमा के भाग को जैन सन्यासी की प्रतिमा मानी जावे तो यह काल ईसा पूर्व द्वितीय तृतीय शताब्दी माना जा सकता है किन्तु इसका क्रमिक इतिहास ईसा की प्रथम शताब्दी से चालू होता है। डा० स्मिथ के मत का उल्लेख करते हुए लेखक ने बताया है कि मथुरा का देवनिर्मित स्तूप भारत के ज्ञात भवनों में प्राचीनतम है। जैन मूर्तिकला के विकास का अध्ययन करने वालों के लिये लेख की उपादेयता स्वीकार्य है।

'The Iconography of Sacciya Devi." लेखक-M.A. Dhaky। सच्चिया देवी ओसवाल जैनो की गृह देवता है। वे प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में उसकी पूजा करते हैं। लेखक के मतानुसार उक्त देवी की पूजा ब्राह्मण भी करते हैं। आपने हेमाचार्य के शिष्य रत्न प्रभुसूरि के कथानक पर विस्तार से दृष्टिक्षेप करते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ओसिया, जहां से कि ओसवालों का निकास हुआ है, में स्थित सच्चिया देवी की मूर्ति का पूर्व रूप परिवर्तित किया हुआ है। लेखक ने कथानक के अतिरिक्त अपने मत के प्रतिपादन में शिलालेख एवं अन्य तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। लेख गवेषणापूर्ण है किन्तु उसमें प्रस्तुत तर्क विचारणीय हैं।

"A Jaina Cameo at Chittoregarh." लेखक-श्री आइशबनर्जी। चित्तौड़गढ़ अपने यहां समय समय पर हुए युद्धों और जौहर के लिये ही प्रसिद्ध नहीं है अपितु यह विभिन्न सम्प्रदायों का संगम स्थल भी रहा है। यहां पर स्थित शैव वैष्णव, जैन, सौर और बौद्ध मंदिर इसके प्रमाण हैं। लेख में 'शृङ्गार चँवरी" नामक जैन मन्दिर की कला और निर्माण शैली का जिसमें अब प्रतिमा नहीं है किन्तु जो कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और जिसका निर्माण महाराणा कुम्भा के समय में पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था, विस्तृत वर्णन है।

"An Introduction to the Iconography of Padmawati, The Jain Sasandevata" लेखक—श्री ए. के. भट्टाचार्य, एम. ए. पी. आर. एस. ए. एम. ए. (लण्डन)। पद्मावती प्रारंभ में यद्यपि २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ से संबंधित शासन देवता रही है किन्तु कालान्तर में किस प्रकार वह एक विषहारी एवं मारण उच्चाटन आदि कार्यों के लिए स्वतन्त्र देवता के रूप में पूजी जाने लगी इसका क्रमिक इतिहास तथा उसका प्राचीन नाग पूजा एवं हिन्दू देवी सरस्वती, लक्ष्मी एवं बौद्ध देवी तारा से उसका संबंध आदि विषयों पर महत्व पूर्ण प्रकाश इस लेख में डाला गया है। लेख में स्थापित तथ्य तर्कों और प्रमाणों की भित्ती पर आधारित हैं और इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिये वह महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।

"Jain Art of Mathura." लेखक—डा० वी. एस. अग्रवाल। मथुरा जैन कला का केन्द्र रहा है प्रस्तुत लेख मथुरा में प्राप्त जैन कला के भग्नावशेषों पर एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है।

"The Image of Heaven in the Ceiling of the Adinath Temple at Ranakpur," लेखक—डा० Klans Fisher, Bonn. प्रस्तुत लेखमें भारत प्रसिद्ध राणकपुर के आदिनाथ जैन मंदिर की वास्तुकला, खुदाई कला आदि पर कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। लेख का महत्व इस कारण भी है कि वह एक विदेशी विद्वान द्वारा लिखा गया है।

"Gandhawal-A Rare Jaina Site of Malva." लेखक-श्री एम.पी. गुप्ता। मध्य प्रदेश के देवास जिले की तहसील सोनकच्छ में गंधावल एक छोटा सा गांव है जहां बहुमूल्य मूर्तिकला का खजाना है किन्तु अब तक यह गाँव सरकार और विद्वान् दोनों की ओर से प्रायः उपेक्षित रहा है। यहाँ प्राप्त मूर्तियां कला की दृष्टि से ग्वालियर के अन्य स्थानों में प्राप्य ९ वीं १० वीं शताब्दी की मूर्तियों से साम्य रखती हैं। प्रस्तुत लेख में वहाँ से प्राप्त कतिपय मूर्तियों की कला दृष्टि से विवेचना करते हुए सचित्र झाँकी प्रस्तुत की गई है।

"Temples of Orissa and Bundelkhand." लेखक—पद्मभूषण श्री टी. एन. रामचन्द्रन। लेख में जैसा कि शीर्षक से प्रकट है उड़ीसा और बुन्देलखण्ड के कोणार्क और खजुराहों के मंदिरों की कला की समीक्षा करते हुए नागर शैली के क्रमिक विकास पर विचार किया गया है।

"Nayanar Temple." लेखक—श्री जीवबंधु श्रीपाल। जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, प्रसिद्ध ग्रंथ थिरुकुरल के लेखक की स्मृति में मद्रास. माइलापुर में स्थित एक प्राचीन जैन मंदिर का इतिहास प्रस्तुत लेख में चित्रित किया गया है। लेख खोजपूर्ण है।

"Some Thoughts on Jain Wall Paintings." लेखक-डा. एस. परमाशिवन्, एम० ए० डी० एस० सी०। प्रस्तुत लेख में सित्तनवासल के जैन मंदिर, अलौरा की गुफाओं, तरुमलई के जैन मंदिर और तीरु परुट्टी कुन्रम् के जैन मंदिर के भित्ति चित्रों का कला दृष्टि से मूल्याङ्कन करते हुए उनकी दीर्घकाल तक स्थिति रह सके इसके लिए वैज्ञानिक उपायों पर विचार प्रस्तुत किया गया है। कलात्मक चित्रों को दीर्घकाल तक ठीक अवस्था में रखने की एक विकट समस्या है जिस पर आधुनिक वैज्ञानिक विचार कर रहे हैं और इटली आदि में एतद्संबंधी प्रयोग हुए हैं। लेखक की दृष्टि में इसके लिये Stripping and mounting की विधि श्रेष्ठ है। अन्य वैज्ञानिकों को इस पर विचार करना चाहिये और ऐसी विधि खोजने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे कला की ऐसी अमूल्य निधियां काल के थपेड़ो से सुरक्षित रह सकें।

"Jain Mythology and Rituals." लेखक-प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती एम. ए. काव्यतीर्थ। जैन रामायण और हिन्दू रामायण में राक्षसों वानरों आदि के संबंध में दृष्टिभेद,

रक्षाबंधन और दीवाली के प्रसिद्ध त्यौहारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हिन्दू और जैन कथानकों में भेद, जैनों के दैनिक षडावश्यक और हिन्दुओं के पांच महायज्ञ की समानता आदि पर संक्षिप्त चर्चा की गई है।

"The Sociological Approach of the Jain Ritualistic study......" लेखक-श्री एल० के० भारतीय, एम० ए०। "पुराण और धार्मिक साहित्य जहां उनको मानने वाली जाति विशेष में एकत्व स्थापित करते हैं वहां वे अन्य जातियों के साथ जो उस साहित्य को नहीं मानते अनैक्य भी फैलाते हैं," यह बताते हुए लेखक ने जैनों की मंत्र विद्या, मूर्ति पूजा, यज्ञोपवीत, छट्ठीपूजा, वैवाहिक संस्कार, ईश्वर संबंधी मान्यता, आदि धार्मिक और सामाजिक रीतिरिवाजों का वर्णन किया है और आगे बताया है कि इन सबसे भी महत्वपूर्ण बात जैनों की यह है कि वे चारित्र पर सर्वाधिक बल देते हैं। लेखक के विचार से आज जो जैन केवल व्यापारिक समाज के रूप में ही रह गये है उसका भी एक कारण यह है कि जैन अपनी धर्म पुस्तकों में बताये हुए आचार विचार को केवल व्यापार करते हुए ही सुरक्षित रख सकते हैं योद्धा बन कर नहीं। अन्त में यह निष्कर्ष लेखक का है कि अहिंसा और समत्व की निर्माण शक्ति तब तक फलीफूत नहीं हो सकती जब तक कि एक सम्प्रदाय विशेष की सीमा में वह कैद है क्योंकि ऐसी स्थिति में मानव मात्र उसका पालन नहीं कर सकता। लेखक के कुछ विचारों से किसी का विरोध हो सकता है किन्तु उसने जो निष्कर्ष निकाला है वह ध्यान देने योग्य है।

"Jaina Tradition Regarding Yasovarman's Lineage." लेखक-श्री डी० एस० सरकार। ७२८ से ७५३ ईस्वी तक कन्नौज पर राज्य करने वाले प्रतापी राजा यशो-वर्मन के वंश के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद चला आरहा है। लेखक ने जैन और जैनेतर प्रमाणों से सिद्ध किया है कि वह मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का वंशज था। लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।

'Simapati plates of Chahaman Prince Jayatsiha-Smvt. 1238" लेखक—श्री के० वी० सौन्द्रराजन्, एम० ए० सुप०-आर्किओलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया। राजस्थान के पाली जिले के नाडोल ग्राम से लेखक को प्राप्त दो ताम्र पत्रों का विवरण प्रस्तुत लेख में है। ताम्रपत्र सम्वत् १२३८ की वैशाख ७, शनिवार का है जो २५ अप्रेल सन् ११८१ के समकक्ष है। ताम्रपत्र अनन्तपुरा के पार्श्वनाथ मंदिर को ४ स्थानीय व्यक्तियों द्वारा दिये गये दान से सम्बन्धित है। लेख के अन्त में दोनों ताम्र पत्रों की रोमन लिपि में नकल भी है। लेख से सीमापटी ग्राम और चौहान (चहमान) राजा जयतसिंह के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है।

"Jainism in Bengal." लेखिका—श्रीमती वन्दना सरस्वती, एम० ए०। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान का मत है कि बंगाल पहले आर्य क्षेत्र में नहीं था किन्तु वह जैनों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और अन्य जैन विद्वानों और साधुओं द्वारा अपने धर्म के प्रचारार्थ वहां विहार करने के फलस्वरूप बाद में आर्य क्षेत्र में सम्मिलित किया गया था। विद्वान लेखिका ने ऐतिहासिक और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर भण्डारकर के इस मत को सही प्रमाणित किया है। लेख पठनीय है।

"Cultural Heritage of Bengal in Relation to Jainism." लेखक–डा० एस० सी० मुकर्जी। जैनधर्म से सम्बन्धित जो विरासत बंगाल को मिली है उसकी महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान कराना ही इस लेख का उद्देश्य है जिसमें लेखक पर्याप्त सीमा तक सफल हुआ है।

"Social and Cultural Glimpses from the Kuvalayamala." लेखक–प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये। कुवलयमाला श्री उद्योतन सूरी की प्राकृत भाषा की एक रचना है। इस रचना का महत्व इस कारण से बढ़ जाता है कि इसके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों, रीति रिवाजों आदि का वर्णन मिलता है। इसके अध्ययन से कई रोचक बातों का पता चलता है। उदाहरणतः उस समय सोप्पार्य नामक नगर में व्यापारियों का एक क्लब था जहां विदेशी व्यापारी अपनी यात्रा के अनुभव व वृत्तान्त दूसरे व्यापारियों को सुनाते थे और वे इस प्रकार की जानकारी भी दूसरों को प्रदान करते थे कि विभिन्न स्थानों पर क्या क्या वस्तुएं प्राप्य हैं और कौन वस्तु किस जगह अधिक मूल्य पर बेची जा सकती है जैसे :— पलास के फूलों की एवज स्वर्ण द्वीप से सोना मिल सकता था। नीम की पत्तियां बेच कर रत्न द्वीप से रत्न प्राप्त किये जा सकते थे। आदि।

"Jainism in Kongunadu." लेखक–श्री बी० एन० श्रीनिवास एम०ए०, बी० ए० (आनर्स)। इस में दक्षिण के कोंगूनाडू प्रदेश से संबंधित जैन इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री की चर्चा करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि कोंगूनाडू जो कि वर्तमान कोयम्बटूर जिले का ही एक भाग है ईस्वी सन् से तीन शताब्दी पूर्व भी जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र स्थल था। इतिहास के विद्वानों के लिये लेख महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है।

'A Note on Jainism in Orissa." लेखक–श्री K.S. Behira। लेखक उत्कल यूनिवर्सिटी के इतिहास विभाग की स्नातकोत्तर कक्षाओं के व्याख्याता हैं अतः उनके निष्कर्ष एक अधिकृत व्यक्ति के निष्कर्ष हैं। लेखक के मतानुसार उड़ीसा में जैन धर्म का अस्तित्व भगवान् महावीर से भी पहले कमसे कम ईसा से आठ शताब्दी पूर्व तक था और वहां इस धर्म को कई बार उत्थान और पतन का सामना करना पड़ा तथा जैन धर्म की उड़ीसा को धर्म, कला, भवन निर्माण, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में बड़ी महत्वपूर्ण देन है।

"The Electro Magnetic Field in Man." लेखक–श्री ज्ञानचन्द जैन, एम० ए०। जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सांसारिक प्राणी के भौतिक शरीर के अतिरिक्त तैजस और कार्माण ये दो शरीर और होते हैं। कार्माण शरीर में आकर्षण शक्ति होती है जो अपने कार्यों से भावी जीवन के लिये पुद्गलों का आकर्षण करता रहता है और तैजस शरीर का कार्य जीवन शक्ति प्रदान करना है। लेख में डा० कासलीवाल के मत की आलोचना करते हुए वर्तमान वैज्ञानिक आधार पर जैन धर्म के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। लेख वैज्ञानिक महत्व का है और वैज्ञानिकों को शोध के लिये एक नई दिशा प्रदान करता है। ऐसे लेखों से पता चलता है कि जैनधर्म के सिद्धान्त कितने वैज्ञानिक हैं।

"Growth and Development of Urban life in Rajasthan." लेखक– डा० कैलाशचन्द जैन, एम. ए. पी. एच. डी. डी. लिट्। राजस्थान में नागरिक जीवन के विकास-क्रम का अध्ययन करते हुए लेखक ने बताया है कि राजस्थान के विभिन्न नगरों के नामकरण के आधार भिन्न भिन्न हैं। जैसे चित्तौड़, विशालपुर, अजमेर आदि का नाम उन नगरों की स्थापना करने वाले राजाओं के नाम पर है। आमेर शाकम्भरी आदि नगर किसी देवी अथवा देवता के मंदिरों के चारों ओर बस गए और उनका नाम करण उस देवी अथवा देवता के नाम पर ही होगया। माण्डव्यपुर (मण्डौर) और वशिष्ठपुर आदि ग्राम वहां रहने वाले सन्तों के नाम से हैं। कुछ नगर जातियों के नाम से भी हैं—जैसे भीलमाल, (भीलों का), नागौर (नागों का), तक्षकगढ़ (तक्षकों का) आदि। कुछ नगरों के प्रारम्भिक नाम अपभ्रंश मे थे किन्तु बाद में विद्वानों ने उन्हें संस्कृत रूप दे दिया। यद्यपि लेख केवल राजस्थान के नगरो को दृष्टि में रख कर ही लिखा गया है किन्तु हमारा विश्वास है कि जो कारण लेखक ने राजस्थान के ग्रामों के नामकरण के संबंध में गिनाए हैं वे सारे भारत के नगरों के संबंध में पूर्णतः लागू होते हैं।

"Salient Common Features between Jainism and Buddhism" लेखक– डा० बी० एच० कापडिया। श्री कापडिया सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ में संस्कृत के रीडर हैं। जैसा कि लेख के शीर्षक से विदित है जैन और बौद्ध धर्मों के सिद्धान्त और आचार विचार में जो साम्य है उसका सविस्तार परिचय इसमें है।

"Gujarati Society and the Jainas." लेखक– डा० एम. आर. मजूमदार एम० ए० पी. एच. डी., एम० ए० एल० एल० बी०। योग्य व्यापारी, वित्तीय बुद्धि के धनी, मुद्रा विनिमय में उनका नेतृत्व, मध्यकाल, लोककथाओं में व्यापारी राजा, विदेशी व्यापारियों के साथ उनका व्यवहार, धार्मिक सहिष्णुता और समानता, गुजरात में महाजनों का प्रभाव, धनी-गरीब और मध्यम वर्ग, उनका साहित्य और संगीत, गुजरात की उन्नति में जैन धर्म का योगदान, आदि शीर्षकों के अन्तर्गत गुजराती समाज का अध्ययन करते हुए लेखक ने बताया है गुजराती प्रधानतः आर्थिक दृष्टिकोण वाले, विशाल हृदय वाले और पड़ौसियों से मेलजोल रखने वाले होते हैं। यही कारण है कि गुजराती सभ्यता ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यों की सभ्यता न होकर भारतीय सभ्यता है और भारतीय होते हुए भी उसमें विश्वमैत्री के गुण हैं।

"Some Forms of the Obligatory Participle in Prakrit." लेखक–श्री L. A. Schwrizschild, Australia। एक विदेशी विद्वान् द्वारा लिखे गये इस लेख में प्राकृत भाषा में विधिवाचक कृदन्त शब्दों के विकास पर महत्वपूर्ण शोध सामग्री प्रस्तुत की गई है जो स्तुत्य और स्पृहणीय है।

"Jaina Arungalam in Tamil Literature." लेखक–श्री के. जी. कृष्णन्, एम० ए०, सुप. फार ईपीग्राफी ऊटकमाण्ड। मद्रास के उत्तरी अर्काट जिले के वान्दीवास तालुके के सियामंगलम् ग्राम के स्थम्भेश्वर मंदिर से उत्तर पश्चिम की तरफ दो फर्लांग दूर एक शिलालेख है। जैनों में अरुंगलान्वय भी एक अन्वय है। लेखक की कल्पना अनुसार गुण-

सागर के शिष्य अमित सागर जिन्होंने तामिल भाषा के दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की (यप्प रुंगलम् और यप्पमंगलकारिकै) रचना की वे इसी अन्वय के थे । लेखक की युक्तियां अन्य विद्वानों के लिये विचारणीय हैं ।

"Jaina Philosophy of Nonabsolutism and Omniscience." लेखक—प्रोफेसर रामजीसिंह । लेखक भागलपुर यूनिवर्सिटी में दर्शन विभाग के प्रोफेसर हैं । लेखक ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से स्याद्वाद और सर्वज्ञता में भेद बताते हुए वेदान्तियों के उच्चतर और निम्नतर ज्ञान से तुलना करते हुए बताया है कि यद्यपि बहुत सी बातों में दोनो सिद्धान्तों में साम्य है किन्तु एक बहुत बड़ा मतभेद भी है । लेख बड़े परिश्रम से लिखा गया है और इस विषय पर जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है ।

"An Analysis of the Contents of the Kalkacharya Kathanak." लेखक-डा० बी० एन० मुकर्जी । लेखक ने कालकाचार्य कथानक की ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना करते हुए स्थापना की है कि उसमें वर्णित लोअर इण्डस के पश्चिमी किनारे पर शक बस्ती का अस्तित्व, उस प्रान्त पर पार्थियन्स का अधिकार और सुराष्ट्र में शकों की हलचल तो ऐतिहासिक तथ्य माने जा सकते है किन्तु सुराष्ट्र में शकों की हलचल से जैनाचार्य कालक का कोई सम्बन्ध था या नहीं यह संदिग्ध है । विद्वानों को लेखक की इस स्थापना पर गम्भीरता से विचारना चाहिये ।

"The Conception of Dravyas in Jain Philosophy." लेखक-डा० कमलचंद सोगाणी । लेखक उदयपुर यूनिवर्सिटी में दर्शन विषय के व्याख्याता हैं । जैन दर्शन में जो जीवादि ६ द्रव्य माने गये हैं उन पर उन्होंने जैन दृष्टिकोण से गहन चिंतन कर अपने विचार प्रस्तुत किये है ।

"The Nasal's Influence upon the Neighbouring Syllables." लेखक-डा० एस. एन. घोषाल, व्याख्याता कलकत्ता यूनिवर्सिटी । अनुनासिक वर्ण का अपने समीपस्थ वर्ण के उच्चारण पर क्या प्रभाव पड़ता है इस पर सोदाहरण विस्तार से विचार करते हुए जेकोबी के मत की समीक्षा की गई है, जो तर्कपूर्ण है ।

"The Spirit of Jaina Prayaschitta." लेखक-श्री Colette Caillat. पेरिस । इस लेख द्वारा जैनों में प्रायश्चित की जो प्रवृत्ति है और उसके पीछे जो मूल भावना है उससे यह ठीक ही अनुमानित किया गया है कि जैन प्रारम्भ से ही अपने दोषों की ओर दृष्टिपात करके उनको दूर करने के लिये और आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहे हैं । वास्तव में प्रायश्चित के मूल में अपराधी को दण्ड देने की भावना उतनी नहीं है जितनी कि अपने अपराध को स्वीकार कर भविष्य में उसे न दुहराने की ।

"On the Jaina School of Mathematics." लेखक-श्री एल० सी० जैन । लेखक गवर्नमेंट कालेज सीहोर में गणित विभाग के प्रोफेसर और हैड़ हैं । जैन गणित के सम्बन्ध में बड़े परिश्रम से लिखा गया यह लेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । पीथागोरीय गणित और

जैन गणित के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि जैन पीथागोरस के गणित सिद्धान्त से परिचित थे अथवा सम्भव है पीथागोरस ने यह ज्ञान जैनों से ही लिया हो। भगवान् महावीर और पीथागोरस के काल में बहुत कम अन्तर है। लेखक के अनुसार या तो दोनों समकालीन थे या महावीर पीथागोरस से कुछ ही पहले हुए थे। कुछ भी हो लेख गणित विषय में बड़े ही रोचक तथ्य उपस्थित करता है और गणित विषयक अनुसंधित्सुओं के लिये बड़े काम का है।

अन्त में दो शब्द ग्रन्थ की छपाई आदि के बारे में भी कहना है। छपाई करते समय कहीं कहीं कुछ टाइप टूट जाने से कई स्थानों पर वे अक्षर छपने में नहीं आए हैं। अंग्रेजी के कुछ लेखों में चिन्हित टाइप की प्रेस में कमी हो जाने से कहीं कहीं वे टाइप ही नहीं लगाये जा सके हैं और साधारण टाइप लगा कर ही वहां काम चलाया गया है। विशेषकर 'The Nasal's Influence upon the Neighbouring syllables' में ऐसा हुआ है। कई लेखों की टाइप कापियों में spelling की पर्याप्त अशुद्धियां थीं जिन्हें ठीक करने पर भी कुछ अशुद्धियां रह ही गई हैं। प्रूफ पढ़ने में असावधानी के कारण भी कुछ अशुद्धियां रही हैं। समयाभाव से और ग्रन्थ शीघ्र पाठकों के हाथ पहुंच सके इस विचार से क्योंकि पहले ही पर्याप्त विलम्ब हो चुका है, ग्रन्थ के साथ शुद्धि-पत्र नहीं लगाया जा सका है। इस सबके लिये हम पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं।

जयपुर
३१ अक्टूबर, १९६७

—चैनसुखदास



बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रंथ

खण्ड
१

व्यक्तित्व
कृतित्व, संस्मरण
एवं श्रद्धांजलियां

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोएसव्वसाहूणं

ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम

ले० कल्याण कुमार जैन 'शशि' रामपुर

दिया राष्ट्र सेवाओं में, अर्जित, बहुचर्चित योग ।
दिया सतत् साहित्योन्नति में हितकारी सहयोग ।
ओझल रखा दृष्टि से, फल की इच्छा का विनियोग ।
गौण समझते रहे स्वयम् का, शारीरिक सुख-भोग ।

अपने श्रम से दिया निरंतर औरों को विश्राम ।
ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम ।

कोटि कोटि विपदाओं में भी दिखे नहीं भयभीत ।
कर्मठता से भरा पुरा, सहकारी रहा अतीत ।
स्वार्थ रहित सक्रिय जीवन से, बनता प्राण पुनीत ।
हित चिन्तन के दृष्टि कोण से, जीवन किया व्यतीत ।

करते रहे समस्याओं से, जीवन भर संग्राम ।
ऐसे उपकारी जीवन को, श्रद्धा सहित प्रणाम ।

हर सुधार आन्दोलन में, नित रहा प्रमुखतर हाथ ।
बढ़ते रहे सदा सक्रिय पग, नई प्रगति के साथ ।
शुभाचरण के पालन में, दीखे नित उन्नत माथ ।
यहां अनेकों भटके जीवन, बनते रहे सनाथ ।

जीवन वह है जोकि अकारण आये सबके काम ।
ऐसे उपकारी जीवन को, श्रद्धा सहित प्रणाम ।

बढ़ा प्रयत्नों द्वारा इनके पुरातत्व का मान ।
पुरातत्व ही संस्कृतियों का उज्ज्वल गौरव-गान ।
शोध कार्य में किया इस तरह अपना योग प्रदान ।
जिसके द्वारा बढ़ा रुका पग नूतन अनुसन्धान ।

जीवन वह जो आदर्शों पर बढ़े नित्य अविराम ।
ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम ।

उदारमना श्री बाबू छोटेलाल जी जैन

ले० बंशीधर शास्त्री

१९६६ का जनवरी मास भारतीय इतिहास में अशुभ माह समझा जावेगा। जिसमें डा० भाभा जैसे महान अणु वैज्ञानिक एवं श्री लाल बहादुर जी शास्त्री जैसे प्रधानमंत्री आकस्मिक मृत्यु के शिकार बनें। इनकी क्षति पूर्ति होना निकट भविष्य में संभव नहीं लगता। यह माह जैन समाज के लिए भी विशेष तौर पर अशुभ रहा जिसमें २६ जनवरी को प्रात: श्री छोटेलाल जी जैन जैसे पुरातत्व संस्कृति के प्रेमी एवं निर्भीक कार्यकर्त्ता का देहावसान हो गया।

उन जैसे विविध प्रवृत्तियों में लीन व्यक्ति की जीवन गाथा आने वाली पीढ़ी के लिए हमेशा प्रेरणा स्पद रहेगी। वे वास्तव में महान थे। वे व्यापार व्यवसाय में व्यस्त रहते हुए भी पुरातत्व, शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, समाज सुधार संगठन तथा अभावग्रस्त एवं पीड़ित मानवों की सेवा आदि में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते रहते थे।

श्री छोटे लाल जी जैन का परिचित वर्ग उन्हें "बाबू जी," "जैन जी," "सरावगीजी" आदि नामों से पुकारता है, किन्तु इन नामो में उनका 'बाबू जी' नाम ही अधिक प्रचलित है।

आपके पूर्वज राजस्थान के फतहपुर (सीकर-जयपुर) से आए थे। आपके पिता श्री रामजीवन दास सरावगी कलकत्ता जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। वे दीन दुखियों की गुप्त रीति से सहायता करते थे। वे मन्दिर जी में प्रातः और सायं नियमित रूप से शास्त्र सभा में उपस्थित रहते थे। उन्होंने हमेशा सादा जीवन और उच्च विचार को अपना मूल मंत्र रखा। कलकत्ता जैसे बड़े शहर में रहते हुए भी साबुन और बर्फ जैसी वस्तुओं का भी उन्होंने उपयोग नहीं किया, अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या। वे बाजार में बनी हुई चीज कभी नहीं खाते थे, चाहे भयंकर गर्मी ही क्यों न हो पानी भी बाजार में न पीकर घर में ही आकर पीते थे।

आप प्रारम्भ से ही बोरा के व्यापार में लगे, जहां आपने अपने बुद्धि कौशल से धन कमाने के साथ-साथ अपने सहज निर्मल व्यवहार से प्रतिष्ठा भी अर्जित की। उस समय बोरा बाजार मे अंग्रेज, मारवाड़ी, गुजराती, नाखुदा तथा बंगाली आदि विभिन्न जातियों के व्यापारी थे, किन्तु वे सब उनको अत्यन्त सम्मान देते थे। उनकी जैन समाज में भी बहुत प्रतिष्ठा थी, वे कई दिगम्बर जैन मन्दिरों के ट्रस्टी थे। वे आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की परवाह न करते हुए मन्दिरों की रक्षा में तत्पर रहते थे। एक बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय नया मन्दिर की स्थिति बहुत भयावह हो गई थी, वहां भय के कारण कोई भी नहीं जाना चाहता था; किन्तु वे सब के मना करने पर भी वहां गये और मन्दिर की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करके ही लौटे। इस पर भी जैनी भाई वहां पूजन पृक्षाल के लिए जाने में डरने लगे तब श्री रामजीवनदास जी स्वयं अपने दोनों पुत्रों को लेकर वहा गए जिनमें श्री छोटेलाल जी भी थे। वहां पूजन पृक्षाल की समुचित व्यवस्था करवाई।

कलकत्ता जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति होने के कारण उनका भारत के प्रमुख जैन बंधुओं से परिचय था। वे सस्थाओं के पैसे को निजी काम के लिए कभी उपयोग में नहीं लाते थे। यहां तक कि मन्दिर के कोष से अपने रुपये खुदरा कराना भी पाप समझते थे।

ऐसे आदर्श, सात्विक वृत्ति वाले श्री रामजीवन-दास जी के शिखर चन्द, फूलचन्द, गुलजारी लाल, दीनानाथ, छोटेलाल, नन्दलाल, लालचन्द और दुलीचन्द (जिनका १७ वर्ष की अवस्था में ही देहावसान हो गया था) नामक ८ पुत्र तथा रतन बाई एवं नानीबाई नामक दो पुत्रियां हुईं। इस प्रकार अपने सहोदरों में श्री छोटेलाल जी का ५ वां स्थान था।

अब इन दस भाई बहनों में श्री नन्दलाल जी एवं दो बहनें ही जीवित हैं।

बाबू जी का जन्म ७० वर्ष पूर्व १६ फरवरी सन् १८६६ तदनुसार फाल्गुन शुक्ला २ वि० सं० १६५२ को हुआ था। आप बचपन से ही अपने पिता जी के अधिक सम्पर्क में रहे थे। पिता जी के पास आने वाले व्यापारियों एवं विद्वानों की चर्चा आप रुचिपूर्वक सुना करते थे एवं कभी कभी आप चर्चा में भाग भी लेते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि बाबू जी प्रारम्भ से ही सार्वजनिक व सामाजिक क्षेत्र में अभिरुचि लेने लगे। इस अभिरुचि ने ही इन्हें मूक सेवक बनने की प्रेरणा दी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय दिगम्बर जैन पाठशाला में हुई। यहां पं० कलाधर जी ने आप को अक्षराभ्यास कराया। आपके साथ ही कलकत्ता के सुप्रसिद्ध पं जयदेव जी भी पढ़ते थे। आपने मैट्रिक परीक्षा श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय से पास की। तत्पश्चात् कालेज में पढ़ना जारी किया, किन्तु कुछ विशेष कारणों से आप अध्ययन छोड़कर व्यापार में लग गये।

आपका विवाह १४-१५ वर्ष की अल्पायु में ही सेठ खेतसीदास जी अग्रवाल की सुपुत्री मूंगा बाई से हुआ था। आप की धर्म पत्नी हमेशा पतिभक्ति को सर्वोच्चस्थान देती रहीं। बाबू जी के यहां प्रायः अतिथियों का नियमित रूप से आगमन होता रहता था। आप उनकी सेवा में उत्साह पूर्वक लगी रहती थी। आप १९३६ ई० में बीमार हुईं। यह बीमारी धीरे-धीरे बढ़ती गयी। अनेकानेक उपचार किये गए किन्तु सफलता नहीं मिली। अन्त में १६-८-४० को वह काल-कवलित हो गई।

बाबू जी १४-१५ वर्ष की उम्र से ही सामाजिक कार्यों में रुचि लेने लगे थे। वे कलकत्ता के सुप्रसिद्ध रथयात्रा की व्यवस्था हेतु स्वयंसेवक के रूप में भाग लेते थे। जिस समय का उपयोग धनिकों के पुत्र प्रायः खेल कूद, सिनेमा, नाटक आदि में व्यतीत कर दिया करते हैं उसी समय का उपयोग बाबू जी समाज हित में करते थे। आपने व्यवसाय से सन् १९५२ के दिसम्बर में ही निवृत्ति लेली थी। तबसे आप अपना पूर्ण समय साहित्य, पुरातत्व एवं समाज सेवा में देने लगे। जब किसी असहाय व्यक्ति के बीमार होने का समाचार मिलता तो बाबू जी के पिताश्री स्वयं जाकर उसकी सेवा सुश्रूषा की व्यवस्था करते थे, वे अपने अन्य पुत्रों के साथ बाबू जी को भी रोगी के पास ले जाते थे। आप की निस्वार्थ सेवा से रोगी अपनी बीमारी के सारे दुख भूल जाता था। आप बीमार के मल-मूत्रादि साफ करने में भी नहीं हिचकते थे।

स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी से बाबू जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। कुमारजी जब भी कलकत्ता आते थे इन्हीं के यहां ठहरते थे। वे एक बार इनके घर पर आकर बीमार पड़ गये। उनका ज्वर बढ़ता ही गया, जो अन्त में भयंकर चेचक के रूप में परिवर्तित हो गया। उनके सारे शरीर पर चेचक के दाग हो गए। बाबू जी व उनके भाइयों ने उनकी चिकित्सा विशेषज्ञों से कराई। किन्तु इस चिकित्सा से भी बढ़ कर बाबू जी ने उनकी जो परिचर्या की वह चिरस्मरणीय रहेगी। बाबू जी उनको लेटे-लेटे ही पाखाना और पेशाब करवा कर अपने हाथों फेंकते रहे और वैद्यों द्वारा रोग को घोर संक्रामक बताने पर भी उनकी सेवा वे ही नहीं उनके सारे भाई भी करते रहे। आरा से कुमार जी के भाता



स्व० श्रीमती मूंगाबाई, धर्मपत्नी बाबू छोटेलाल जी

जी, मामा जी आदि परिजन भी आ गये। इन भाइयों की निस्वार्थ सेवा वृत्ति से वे बहुत ही प्रभावित हुए। अंतिम दिन उनके मामा के सुपुत्र भी आ गए। जब वे कुमार साहब से मिलने कमरे के भीतर जाने लगे तो बदबू के मारे उनका जी घबरा गया और वे उनके शरीर की भयंकर स्थिति देख कर बाहर ही रह गए तथा उनसे मिले भी नहीं। ऐसी परिस्थिति में भी बाबू जी उनकी अथक परिचर्या यथावत करते रहे।

इसी प्रकार बिहार भूषण, दयानिधि, राय-बहादुर बाबू सखीचन्द्र जी की भी, हैजा होने पर, पांच दिन तक बाबू जी अनवरत सेवा करते रहे। इन्होंने उनकी विष्ठा, पेशाब आदि साफ करने में भी संकोच नहीं किया।

इस प्रकार की परिचर्या बाबू जी केवल सम्बन्धी या परिचित की ही करते हों, ऐसा नहीं था। सन् १६१८ दिसम्बर में कलकत्ता में हुए इन्फल्यूएन्जा के समय बड़ा बाजार में गरीबों को ढूंढ़ २ कर बाबू जी उनकी चिकित्सा, पथ्य आदि की व्यवस्था करवाते थे। उन्होंने कलकत्ता कारपोरेशन से लिखा पढ़ी कर एक चिकित्सक की व्यवस्था कराई। इस प्रकार रोगाक्रांत मानवों की सेवा में आप एक माह तक लगे रहे।

आप प्रारम्भ से ही सेठ पद्मराज जी रानी वालों के सम्पर्क में आए। उनके पिता सेठ फूलचन्द जी से आपके पिता जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिए आपका उनके यहाँ बराबर आना जाना बना रहता था। आप उनकी समाज सुधार एवं राजनैतिक विचारधारा से बहुत प्रभावित थे। सिद्धांत भवन आरा के बाबू करोड़ीचन्द जी कलकत्ता आते रहते थे। वे रानी वालों के यहाँ ठहरते थे अतः बाबू जी का भी उनसे परिचय हुआ जो आगे चलकर घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया। आपमें पुरातत्त्व एवं साहित्य के प्रति रुचि जागृत करने में श्री करोड़ीचन्द जी का बहुत बड़ा हाथ था। यह रुचि आपके जीवन का मुख्य अंग बन गई।

आप कलकत्ता—जैन समाज की ही नहीं अपितु बाहर की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं में भी सक्रिय भाग लेते रहे थे जिनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है ;—

१—वे स्थानीय महावीर दि० जैन विद्यालय के २५-३० वर्ष तक मन्त्री रहे। आप अपने कार्य-काल में बच्चों की धार्मिक शिक्षा एवं संस्कारों पर विशेष जोर देते थे। जैन बच्चों के लिए धार्मिक विषय में सफल होना अनिवार्य रखते थे, जिसका परिणाम हुआ कि उस काल के विद्यालयों के विद्यार्थियों में धार्मिक रुचि अधिक थी।

२—अपने पिता श्री के ट्रस्टी होने के कारण आप भी प्रारम्भ ही से दिगम्बर जैन मन्दिरों की व्यवस्था आदि में सक्रिय भाग लेते रहे। जीवन के अन्त तक वे दिगम्बर जैन मन्दिरों एवं रथ यात्रा कमेटी के ट्रस्टी रहे।

३—आपने जैन भवन के निर्माण में प्रमुख भाग लिया।

४—वे अहिंसा प्रचार समिति के संस्थापकों में से थे एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सक्रिय भाग लेते रहे।

५—कलकत्ता में सन् १६४४ में वीर शासन जयन्ती महोत्सव विशाल स्तर पर मनाया गया। उस समय वीर शासन संघ एवं विद्वत् परिषद् की स्थापना आप ही के प्रयत्नों से हुई थी।

६—आप कलकत्ता में श्वेताम्बर व दिगम्बर समाजों की संयुक्त रूप से महावीर जयन्ती मनाने के पक्ष में प्रारम्भ से ही रहे। आप जैन समाज के सभी सम्प्रदायों में ऐक्य चाहते थे। जैसे आप दिगम्बर समाज में प्रिय एवं सम्मानित थे वैसे ही श्वेताम्बर समाज में भी थे। आप जैन समाज की एकता की प्रतीक जैन सभा कलकत्ता में कार्य करते रहे। आप

१९४७-४८ में इसके सभापति चुने गए थे। आपके कार्य काल में सभा की ओर से राजगृह में औषधालय की स्थापना की गई। इसी वर्ष में सभा की ओर से महावीर जयन्ती उत्सव मनाया गया जिसमें जैन एवं जैनेतर समाजों के उच्च कोटि के विद्वान् सम्मिलित हुए थे। उसके बाद से सभा की कार्य समिति में आप बराबर रहे। आपने सदैव जैन समाज की सभी शाखाओं की एकता पर बल दिया।

७—श्री दिगम्बर जैन युवक समिति कलकत्ता की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसकी स्थापना एवं प्रारम्भिक कार्यों में बाबू जी का विशेष हाथ रहा है। इस समिति की ओर से महावीर पुस्तकालय संचालित होता है, उसमें आपने अपनी संग्रहीत बहुमूल्य पुस्तकें दी थी। समिति की ओर से सन् १९२१ में जैन विजय नामक पत्र प्रकाशित हुआ था, उसमें आप सहायक संपादक नियुक्त किए गए थे। सन् १९२२ में बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए जो चन्दा हुआ उसके लिए भी आपने प्रयत्न किया था।

८—सन् १९१७ में सेठ पद्मराजजी रानी वालों एवं बाबू जी के प्रयत्नों से जैन समाज की एकता व उन्नति के लिए श्री महावीर जैन समिति की स्थापना की गई, जिसके सभापति उक्त रानी वाले एवं मन्त्री बाबू जी थे। समिति की ओर से मासिक सभा आयोजित करने तथा विशेषतः स्त्रियों में विद्या का प्रचार करने आदि का तय किया गया। समिति की ओर से १९१७ में जैन धर्म भूषण स्वर्गीय ब्र० शीतलप्रसाद जी के सभापतित्व में भारत जैन महामन्डल का अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रायः सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। समिति की ओर से कांग्रेस अधिवेशन के समय २७-१२-१७ को All India Jain Association व Political Jain Conference का भी आयोजन किया गया था, जिसमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक व देशपूज्य दादासाहब खापर्डे भी सम्मिलित हुए थे। दादा साहब खापर्डे जैन पोलिटिकल कान्फ्रेंस के सभापति थे। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि "स्वराज्य आन्दोलन के साथ ही मेरा दूसरा कार्य पण्डित अर्जुनलाल जी सेठी को छुड़ाना होगा।"

समिति १९१७ में कांग्रेस द्वारा Affiliated हो गई थी और उस को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया था। बाबू जी भी अनेक वर्षों तक कांग्रेस के प्रतिनिधि नियुक्त होते रहे थे।

९—बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अनेक वर्षों तक मन्त्री रहे। बिहार प्रान्तीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की एवं अखिल भारतीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की प्रबन्धकारिणियों में अनेक वर्षों तक वे सम्मानित सदस्य के रूप में रहे थे।

१०—आपने खण्डगिरि, उदयगिरि का इतिहास समाज के सामने रखा। भ० महावीर के फूंफा जितारी का निर्वाण स्थल सिद्ध कर इसे सिद्धक्षेत्र घोषित किया। इस क्षेत्र को प्रसिद्धि में लाने का श्रेय आपको ही है।

११—आप कलकत्ता के गनी ट्रेड एसोसिएशन के स्थापनाकाल (सन् १९२५) से ही सक्रिय कार्यकर्ता रहे। आप ३२ वर्ष तक इसकी कार्य कारिणी समिति के सदस्य रहे। दस वर्ष तक अवैतनिक संयुक्त मंत्री के पद को सुशोभित करते रहे। तीन वर्ष तक आप एसोसिएशन के उप-प्रधान एवं दो वर्ष तक प्रधान पद पर भी आसीन रहे। अपनी निष्पक्षता के आधार पर आपने जो ख्याति प्राप्त कर ली थी, उसके कारण आपका निर्णय सहर्ष स्वीकार होता था। आपके मंत्रित्व काल में एसोसिएशन को व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त जन-कल्याण की ओर भी प्रवृत्त किया गया, जिसमें लगभग पाँच लाख रुपए खर्च किए गए। आप इस एसोसिएशन की ओर से अनेक व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि भी रहे थे।

१२—आप जैन संस्कृति की सुरक्षा एवं उत्थान के लिए हमेशा अग्रसर रहते थे। आप पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की लेखनी से प्रभावित हुए। उनके कार्यों के प्रकाशन आदि के लिए हजारों रुपये दान में देते रहते थे। वीर सेवा मन्दिर को सरसावा जैसी छोटी जगह से लाकर देहली जैसे केन्द्रीय स्थान में लाने का श्रेय आप ही को है। आपने स्वयं व औरों से हजारों रुपया दिला कर इस संस्था को स्थायित्व प्रदान किया। मन्दिर का अपना भवन बना जो आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा स्रोत एवं जैन इतिहास व संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र सिद्ध होगा। आपने इस संस्था की ओर से प्रकाशित "अनेकांत" पत्र को महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। आप अपनी रुग्णावस्था में भी इस पत्र के लिए चिंतित रहते थे एवं इसे समय पर निकालने की आवश्यक व्यवस्था भी करते थे। लेखादि के लिए विद्वानों को प्रेरित करते थे।

१३—साहू शांतिप्रसाद जी ने साहित्यिक विकास उन्नयन एवं सांस्कृतिक अनुसंधान तथा प्रकाशन के उद्देश्य से सन् १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की। इसकी स्थापा की प्रेरणना में भी बाबूजी का प्रमुख हाथ था। आप इसके ट्रस्टी एवं संचालन समिति के सदस्य थे। आप इसके जैन प्रकाशनों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव देते रहते थे। स्वर्गीय पं० नाथूराम जी प्रेमी के अनुरोध पर आपने ही माणिकचन्द्र ग्रंथ माला का कार्य भार ज्ञानपीठ को स्वीकार करने की प्रेरणा दी थी।

१४—आप स्वामी सत्य भक्तजी एवं ब्र० शीतल प्रसाद जी से बहुत प्रभावित थे। आप ने सत्य भक्त जी के आश्रम के संचालन एवं साहित्य प्रकाशन के लिए हजारों रुपया दान दिया था। आप शीतल प्रसाद जी की धर्मप्रचार-भावना एवं साहित्य-सृजन की अथक वृत्ति से बहुत प्रभावित थे। आप उन्हें हर प्रकार का सहयोग देते रहते थे।

१५—आप जैन संस्कृति के पुरातत्त्व विभाग से प्रेम रखते थे, इसलिए पुरातन जैन सामग्री की खोज में विभिन्न स्थानों पर जाते रहते थे। आप वहाँ से सामग्री भी एकत्रित करते थे। आप के पास पुरातत्त्व की दुर्लभ सामग्री के अनेक बहुमूल्य चित्र थे जिनमें से कुछ को विस्तृत करा कर स्थानीय बेलगछिया उपवन के हाल में सर्व साधारण के प्रदर्शनार्थ रख दिया गया है। आप की इच्छा पूरे हाल में ऐसे चित्र लगाने की थी जिससे कि दर्शनार्थी जैन संस्कृति के प्राचीन गौरव से परिचित हो सकें। किन्तु खेद है कि अपनी अस्वस्थता के कारण आपके जीवन काल में उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। आप के पास २५००-३००० के लगभग बहुमूल्य पुस्तकें थीं। आपका पुरातत्व के अनेक विशेषज्ञों एवं अधिकारियों से घनिष्ट संपर्क था। आप यथावसर जैन पुरातत्व पर लेख भी लिखते थे। आपने कलकत्ता के जैन मन्दिरों की मूर्तियों और यंत्रों के लेखों को भी पुस्तकाकार प्रकाशित कराया था। आपने जैन बिबियोलोजी का प्रथम भाग प्रकाशित कराया था। आप दूसरा भाग तैयार कर रहे थे जो लगभग प्रायः पूर्ण हो चुका था किन्तु आपकी निरंतर बीमारी के कारण वह उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सका। आशा है वह अब प्रकाशित हो सकेगी।

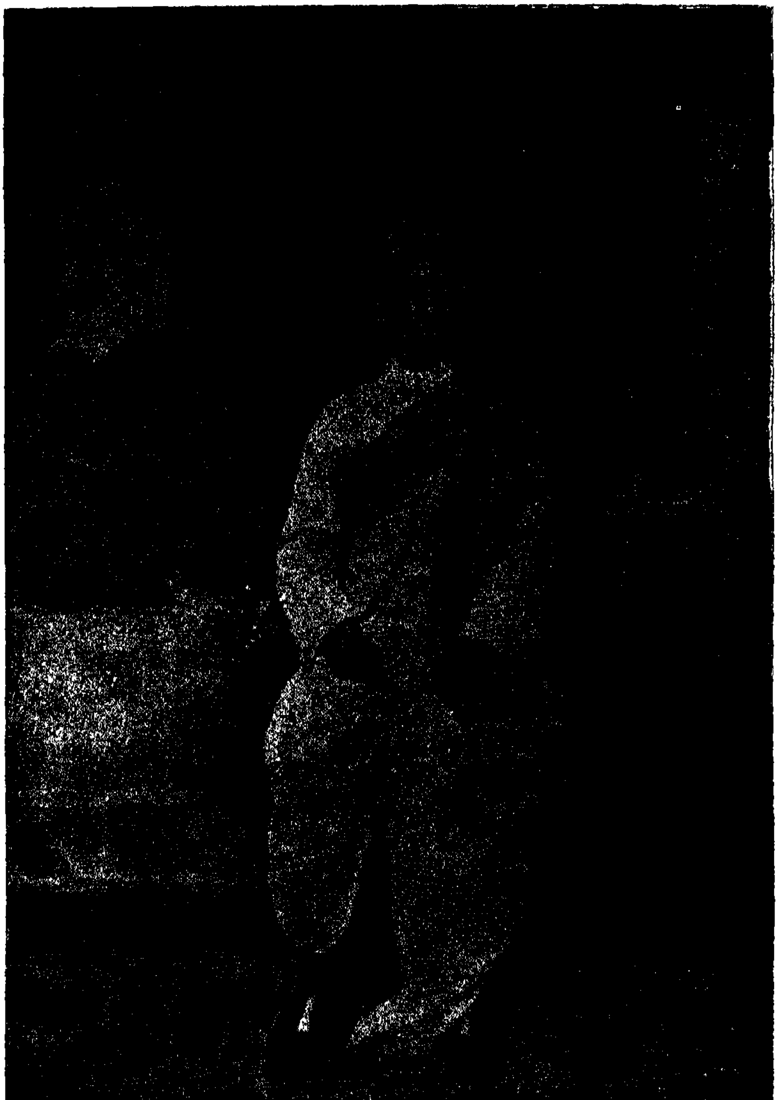
आप का विद्वानों के प्रति अपार प्रेम-भाव रहता था। आप युवकों के प्रति असीम स्नेह रखते थे। उनके पथ प्रदर्शन एवं सहायता के लिए आप सब कुछ करने को तैयार रहते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने गत १० वर्षों में उनसे जो असीम स्नेह पाया उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

आप रायल एसियाटिक सोसाइटी के सम्मानित सदस्य थे। आप इसके प्रतिनिधि के रूप में हिस्ट्री कांग्रेस में भी कई बार गए थे। आप कु०चन्दाबाई जी के जैन-बाल-विश्राम आरा से भी सम्बन्धित रहे हैं। आप वहां की व्यवस्था, शिक्षा आदि से बहुत प्रभावित थे। किसी भी कन्या की पढ़ाई का जिक्र



बाबू छोटेलाल जी

(नवम्बर सन् १९१३, श्री नन्दलाल जी के विवाह में, छपरा में)



बाबू छोटेलाल जी

(नवम्बर सन् १९१३, श्री नन्दलाल जी के विवाह मे, छपरा में)

सब के जरिये आप जैन सामग्री प्राप्त करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। आपकी पुरातत्त्व की अभिरुचि एवं सेवाओं के सम्मानार्थ भारत सरकार ने आपको सन् १९५२ में पुरातत्त्व विभाग का अवैतनिक Correspondent बनाया था।

आपने जैन युवकों को पुरातत्त्व की ओर अभिरुचि लेने के लिए प्रेरित किया था। एक बार सन् १९२३ में आपने हजारों पत्र लिख कर जैन पंचायतों को हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की सूची तैयार करने की प्रेरणा दी थी।

१८-आप देश-विदेश के जैन-अजैन विद्वानो को जैन साहित्य एवं संस्कृति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री देते रहते थे एवं उन्हें जैन विषयों को प्रकाश में लाने के लिए प्रेरित भी करते रहते थे। डा० विन्टर निट्ज, डा० ग्लासिनव, श्री आर डी० बनर्जी, राय बहादुर आर० पी० बनर्जी, श्री एन० जी० बनर्जी० श्री एन० जी० मजुमदार, श्री के० एन० दीक्षित, अमूल्यचन्द्र विद्याभूषण, डा० विभूतिभूषण दत्त, डा० ए० आर० बनर्जी, डा० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० कालिदास नाग आदि अनेक विद्वान जैन विषयों पर आपसे जानकारी प्राप्त करते रहे।

आपका जैन विद्वानों से तो बहुत ही निकट का सम्बन्ध रहता था। आप उनकी सेवा एवं सम्मान का कोई अवसर हाथ से नही जाने देते थे। आपका पं० नाथूराम जी प्रेमी, पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ब्र० शीतलप्रसाद जी, बैरिस्टर चम्पत राय जी, पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, डा० हीरालाल जी जैन, डा० ए० एन० उपाध्याय, प्रो० चक्रवर्ती, पण्डित कैलाशचन्द जी, पण्डित चैनसुख दास जी न्यायतीर्थ आदि से नियमित एवं मधुर सम्पर्क रहता था।

बाबू जी जहाँ पुरातत्त्व, संस्कृति और शिक्षा के प्रेमी थे वहाँ दीन दुखियों के दुखों से जल्दी ही द्रवित हो जाते थे। धनी होते हुए भी वे उनके दुखों और अभावों की अनुभूति अन्तः करण से करते थे इसलिये हमेशा उनके दुखो को दूर करने के लिए तन, मन, धन से तत्पर रहते थे।

बाबूजी ने स्वयं बंगाल के प्रसिद्ध ४२-४३ के अकाल में पीड़ित अभावग्रस्त गरीबों की सहायता की। वे गनी ट्रेड एसोसियेशन की तरफ से मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के तत्वावधान में बंगाल के नोआखाली काण्ड के समय हिन्दूओं की सहायतार्थ वहाँ गए थे। वहाँ महीनों रह कर असहाय अल्प संख्यकों की हर प्रकार से सहायता करते रहे। वे निर्भीक होकर मुसलमानी मुहल्लों व गांवों में पहुँच जाते थे एवं असहाय और लीगी नादिरशाही के शिकार अल्प-संख्यकों की सहायता एवं रक्षा कर के कृतकृत्य होते थे।

आप जैसे दीन दुखी सेवकों के कारण जैन समाज ही नहीं अपितु प्रत्येक भारतीय का सिर गौरव से ऊँचा हो उठता है। ऐसे निःस्वार्थ सेवक की याद हमेशा बनी रहेगी।

लक्षाधिक दान देकर भी आप अपनी विज्ञापनबाजी से हमेशा दूर रहे। आप हमेशा कृत्य को प्रधानता देते थे, नाम की कभी चिन्ता नही करते थे। आपने दान कभी प्रचार की भावना से नहीं दिया था क्योंकि आप मानते थे कि 'परिग्रह पाप है' उस पाप का प्रायश्चित दान है किन्तु यह दान ख्याति लाभ पूजा के लिये नही होना चाहिए। प्रायश्चित की दृष्टि अपने पाप का संशोधन अथवा अपराध का परिमार्जन करके आत्म शुद्धि करने की ओर होती है।

आप अनेक संस्थाओं में विभिन्न पदों पर रहे। आपका सभी प्रकार के वर्गों से नियमित सम्पर्क रहता था किन्तु आपने स्वाभिमान को हमेशा प्रमुखता दी। किसी धनी या बड़े आदमी के सामने कभी नहीं झुके, इन्हे ठकुर सुहाती कहना या सुनना पसन्द नहीं था, किन्तु साथ ही योग्य पात्रों के

प्रेरणादीप बा० छोटेलालजी

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन
एम.ए., एल.एल.बी., पी.एच डी., लखनऊ

कलकत्ता निवासी आदरणीय बाबू छोटेलाल जी जैन अखिल भारतवर्षीय जैन समाज के तो एक अमूल्य रत्न थे ही, वे सम्पूर्ण राष्ट्र के भी एक प्रतिष्ठित नागरिक एवं महान सेवाभावी सज्जन थे। मेरा सम्पर्क श्रद्धेय पं० जुगल किशोरजी मुख्तार तथा उनके वीर सेवा मन्दिर सरसावा एवं अनेकान्त मासिक पत्र के साथ लगभग तीस वर्ष पूर्व हुआ और इन्ही के द्वारा शनैः शनैः बाबूजी के साथ भी परोक्ष सम्पर्क स्थापित होने लगा। मुख्तार साहब की प्रेरणा और बाबूजी के सत्प्रयत्नों एवं अदम्य उत्साह से १९४४ में राजगृह के पुनीत विपुलाचल पर्वत पर वीर शासन का सार्द्ध-द्वि सहस्त्राब्दी महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया और उसी अवसर पर वीर शासन संघ की स्थापना हुई। यह मात्र एक संस्था न थी वरन् इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण योजना थी जिसके लिये बाबूजी ने बड़े प्रयत्नपूर्वक लगभग दस लाख रुपयों की सहायता के वचन विभिन्न धर्म प्रेमी श्रीमानों से प्राप्त कर लिये। संघ का केन्द्र कलकत्ता महानगरी निश्चित हुई और उसका कार्य प्रारम्भ करने के लिये उपयुक्त व्यक्ति की खोज होने लगी। अन्ततः श्रद्धेय मुख्तार साहब के परामर्श से बाबूजी ने इस कार्य के लिये मुझे चुना। विद्याव्यसन तो था ही, संस्कृति सेवा की भी आकांक्षा थी और कुछ यौवनावस्था का उत्साह था, अस्तु किंचित ऊहापोह के उपरान्त मैंने स्वीकृति दे दी और सन् १९४५ के अक्तूबर मास में एक दिन मैं हावड़ा स्टेशन आ पहुँचा। ट्रेन से उतरते ही टोपी, बन्द गले के कोट और धोती में एक शान्त भव्य मूर्ति के दर्शन हुए। मैंने बाबूजी को पहले कभी नहीं देखा था, न उन्होंने ही मुझे देखा था, तथापि एक ने दूसरे को सहसा पहिचान लिया। मात्र दो शब्द 'ज्योतिप्रसादजी हैं?' उन्होंने कहे और साक्षात् परिचय हो गया। स्टेशन से बाहर निकलकर अपनी गाड़ी में लेकर जैन भवन पहुँचे, मेरे ठहरने आदि की व्यवस्था की और चले गये। फिर तो नित्य उनसे भेंट होती, घंटों विचार विनिमय भी होता उनके स्वयं के निवास स्थान पर भी, व्यावसायिक दफ्तर और जैन भवन के मेरे कमरे में भी। एक-डेढ़ मास मैं वहां उनके सर्वथा निकट आत्मीय की भाँति ही रहा। अपने साथ वे मुझे अपने सहयोगियों यथा-स्व० बाबू निर्मल कुमार जी, स्व० सेठ बलदेवदासजी सरावगी, आदि से मिलाने के लिये भी जब तब ले जाते। शीघ्र ही कार्तिक महोत्सव का अवसर था जिसे देखने के लिये बगाल के तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर तथा अन्य उच्च पदाधिकारी आमन्त्रित किये गये थे। बाबूजी की प्रेरणा पर मैंने उक्त महोत्सव की एक छोटी सी सचित्र विवरणिका अंग्रेजी में तैयार की, जो मुद्रित होकर विशिष्ट आमन्त्रित अजैन एवं विदेशी दर्शकों में वितरित हुई।

बाबूजी का स्वास्थ्य उस समय भी अच्छा नहीं रहता था। महोत्सव के कुछ ही दिनों बाद कलकत्ता में भयंकर दंगा हुआ और उस दंगे के बीच ही मुख्तार साहब भी वहाँ जा पहुँचे। उनके आगमन का उद्देश्य भी संघ की व्यवस्था के सम्बन्ध में सन्तोष प्राप्त करना था। उस दंगे के समय गोलियों की बौछार से बचते हुए मुख्तार साहब को स्टेशन लिवा लाने के लिये जाने का रोमांचक प्रसंग यहाँ वर्णन नहीं करूँगा। अनेक कारणों से वीर शासन संघ का कार्य

स्वागत के लिए वे तन, मन, धन से तैयार रहते थे।

आप स्पष्टवादिता में भी अपूर्व थे। आपका चाहे कोई कितना ही निकट का क्यों न हो, आप उसके दोष देखने पर उसे कहने में नहीं हिचकते थे। अपने मतभेद को प्रकट करने में संकोच नहीं करते थे, इसी कारण कई व्यक्ति इनसे सन्तुष्ट नहीं रह पाते थे। ये अपने विरोधी को भी आवश्यकता पड़ने पर सहयोग देने में आनाकानी नहीं करते थे।

आप प्रेमी जी एवं मुख्तार सा० जैसे परीक्षा प्रधानी साहित्यान्वेषियों के मंतव्यों से परिचित थे इसलिए आप प्रत्येक क्रिया की भूमिका, आधार का पूरा अध्ययन कर ही उसकी विधेयता या अविधेयता स्वीकार करते थे। आप कभी गलतरूढ़ि को स्वीकार नहीं करते थे। जो भी रूढ़ि या अंधश्रद्धा जनित मूर्खतापूर्ण कार्य करता उसका आप विरोध करते थे। आप कभी दूसरों की प्रसन्नता की खातिर अपने सिद्धांत की बलि नहीं करते थे। आपने जैन समाज के सुधारकों की यथा संभव सहायता कर सुधार का मार्ग प्रशस्त किया था।

आप नवयुवकों का हमेशा पथ प्रदर्शन करते थे। किसी भी नवयुवक को सुमार्ग में लगाने, उसे व्यवसाय साधन जुटाने में हमेशा सहायता करते थे। आप विद्यार्थियों एवं विद्वानों को अध्ययन की प्रेरणा देते रहते थे। वे स्वयं रुग्णावस्था में भी थोड़ी सी शांति होने पर अध्ययन में लग जाते थे। आपने कितने ही व्यक्तियों को नव-साहित्य सृजन की प्रेरणा दी और उनकी रचनाओं के प्रकाशन में भी सहयोग दिया।

आपको जैन संस्कृति के संरक्षण एवं विकास की हमेशा चिंता बनी रहती थी। आप विद्वानों नेताओं एवं समाज के कार्यकर्त्ताओं से अपनी चिंता व्यक्त करते रहते थे। इसके लिए उन्होंने अपने ढंग से अनेक कार्य किए। आप पुरातत्त्व सामग्री का स्लाइडलेम्प से प्रदर्शन भी यथावसर करते थे। आपने कलकत्ता, देहली आदि केन्द्रीय स्थानों पर जैन कला एवं संस्कृति की प्रदर्शनियां भी लगाई थी जिसकी सभी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

ऐसे निर्भीक समाज सेवी का अभिनंदन करने की योजना चल ही रही थी कि कराल काल ने उन्हें हमेशा के लिए छीन लिया। वे हमेशा अभिनन्दन का विरोध करते रहते थे। उन्होंने कहा कि हमने जो कुछ भी किया था सेवा व कर्त्तव्य समझ कर किया था उसके लिए सम्मान या अभिनन्दन कैसा? ऐसे मूक सेवक, निरभिमानी दानी, उदारमना बाबूजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

गत नवम्बर-दिसम्बर माह में आप विशेष रूप से पीड़ित रहे। दिसम्बर के द्वितीय सप्ताह में स्थानीय मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के अस्पताल में आप को भर्ती कराया गया था। आप इतनी भयंकर बीमारी में भी सांस्कृतिक व साहित्य की चर्चा में रुचि लेते थे। आपने इस रुग्णशय्या पर रहते हुए भी वीर शासन संघ की ओर से प्रकाशित होने वाली जैन निबंध रत्नावली का प्रकाशकीय वक्तव्य लिखवाया जो आपका अंतिम वक्तव्य कहा जा सकता है।

इस रुग्ण शय्या पर ही आपने श्री अगरचन्द जी नाहटा के निबंधों को प्रकाशित करने की योजना बनाई थी।

प्रारम्भ नहीं हो पा रहा था। मुख्तार साहब असन्तुष्ट होकर चले आये। मैं दस पांच दिन और वहीं रहा और तदनन्तर लखनऊ वापस चला आया।

किन्तु उस प्रवास मे बाबू छोटेलाल जी को जितना निकट से देखने व समझने का अवसर मिला उतना फिर नही मिला। मुझे तो यही लगा कि इस भद्र पुरुष में मनस्विता है, समाजहित और संस्कृति संरक्षण की उत्कट लगन है, उपयुक्त योजनायें बनाने और उनका ॐ नमः करने की निपुणता है, दूसरों में उत्साह फूंकने और प्रेरणा देने की भी क्षमता है, किन्तु कुछ अपनी स्थायी अस्वस्थता एवं तज्जन्य मानसिक उद्विग्नता के कारण तथा बहुत कुछ सहयोगियो एवं मित्रों की उपेक्षा एवं ढील से शीघ्र ही असन्तुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति के कारण उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण योजनायें कार्यान्वित न हो सकी। आशा और निराशा के बीच उन्हें बहुत झूलना पड़ा तथापि अपनी शक्ति, समय और प्रभाव का उपयोग वे यथाशक्य समाज और संस्कृति के हित में निरन्तर करते ही रहे।

उक्त कलकत्ता प्रवास के पश्चात् बाबूजी से पत्र-व्यवहार चलता रहा। कभी-कभी वे किंचित् रुष्ट और असन्तुष्ट भी प्रतीत हुए-विशेषकर प्रारम्भ में, उक्त योजना के सफल न हो पाने के कारण, किन्तु दो तीन वर्ष बाद से फिर उनका स्नेह एवं सद्भाव पूर्व की अपेक्षा भी कुछ अधिक अनुभूत हुआ। सन् १९६३ के दिसम्बर में जैन सिद्धान्त भवन आरा की हीरक जयन्ती के अवसर पर उनसे फिर साक्षात्कार एवं वार्तालाप हुआ जिसने उनके सौजन्य एवं स्नेह भाव की मधुर छाप नये सिरे से हृदय पर छोड़ी।

बाबू छोटेलाल जी जैसे विद्वत्प्रेमी, संस्कृति प्रभावक एवं समाजसेवी, धर्म और देश के बन्धु के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं॥

विनय रहित मनुष्य की सारी शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय के फल सारे कल्याण हैं।

ज्ञान का महत्त्व

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं॥

ज्ञान का उद्योत ही सच्चा उद्योत है; क्योंकि उसके उद्योत की कहीं रुकावट नहीं है। सूरज भी उसकी समता नहीं कर सकता क्योंकि वह अल्पक्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान सम्पूर्ण जगत को।

बाबू छोटेलाल जी : मूक साधक

डॉ० प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, दि० जैन कॉलिज, बड़ौत

आज से वर्षों-पूर्व की बात है। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० विण्टरनित्स कलकत्ता विश्वविद्यालय में ठहरे थे। उस समय 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' की रचना का कार्य चल रहा था। एक दिन कलकत्ता का एक युवा जैन उनसे मिलने आया। उसने बातचीत के सिलसिले में ओजस्विता-पूर्वक कहा कि भारतीय इतिहास के प्रत्येक पहलू में जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, उस पर लिखे बिना आपका यह ग्रन्थ अधूरा ही रहेगा। डॉक्टर साहब ने उसी तेजी के साथ उत्तर दिया कि जैन लोग अपने साहित्य को छिपाये रहते है, दिखाते नहीं, उस पर हम कैसे लिख सकते हैं। नौजवान कुछ क्षण मौन खड़ा रहा, फिर एक सप्ताह बाद मिलने का वायदा कर शीघ्रता से चला गया। यथा समय वह लौटा, उसके हाथ में कागजों का एक बण्डल था। डॉ० विण्टरनित्स की ओर फेंकते हुए उसने कहा कि इस आधार पर आप अपने इतिहास का 'जैन खण्ड' पूरा कर सकेंगे, और ओठों पर मुस्कान लिये बिदा हो गया। डॉक्टर महोदय आश्चर्यान्वित हो उसे देखते रहे। आश्वस्त हो बण्डल उठाया। 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' के तीसरे खण्ड का जैनधर्म-सम्बन्धी विभाग, जिसमें लगभग २५० पृष्ठ हैं, अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने पढ़ा है। मेरी दृष्टि में जैन साहित्य का वैसा इतिहास कोई जैन विद्वान नहीं लिख सका। वह अपने में पूर्ण प्रामाणिक और अनूठा है। आज डॉ० विण्टरनित्स को समूचा विश्व जानता है, किन्तु उस नौजवान को कोई नहीं, जिसने वह सामग्री संजोयी थी। उसका नाम था बाबू छोटेलाल जैन। आज कौन जानता है कि इसके पश्चात् डॉ० ग्लासिनव, श्री आर० डी० बनर्जी, रायबहादुर आर० पी० चन्दा, श्री एन० सी० मजूमदार, डॉ० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० एस० आर० बनर्जी और अमूल्यचन्द्र विद्याभूषण आदि के जैन साहित्य और पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुष्ठान में बाबू छोटेलाल जी ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने अपनी सहायता का उल्लेख तक नहीं किया। नाम के पीछे मतवाला आज का विद्वज्जगत, उनकी इस मौन साधना का सही आकलन कर सके, ऐसा मैं चाहता हूँ।

आज से ४० वर्ष पूर्व के कलकत्ता के निवासी एक ऐसे युवा व्यापारी से परिचित थे, जो दिन-रात वहाँ की 'पब्लिक लायब्रेरी' में पड़ा रहता था। उसने शतशः नहीं सहस्रशः ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाओं को लौटा-पलटा। उनमें जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व-परक उद्धरण संकलित किये। उन्हें व्यवस्थित और सम्पादित किया। उनका एक अंश जैन बिब्लियोग्राफी के पहले खण्ड में प्रकाशित हो चुका है। विश्व के ख्याति-प्राप्त विद्वानों ने इस पुस्तक की प्रशंसा की है। रायल एशियाटिक सोसाइटी की एक बैठक में अनेक विद्वानों ने इसके दूसरे खण्ड के शीघ्र प्रकाश में आने का आग्रह किया था। दूसरा खण्ड भी रफ पेपर्स पर लिखा पड़ा है, उसको व्यवस्थित करना-भर है। किन्तु बाबू जी के अत्यधिक अस्वास्थ्य के कारण यह कार्य पूरा नहीं हो सका। एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो यह काम कर सके। कोई आंग्लभाषा का जानकार जैन निष्ठावान व्यक्ति अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। काश, ऐसा हो सके। बाबू जी का यह जैन-संकलन-कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे उनकी जीवन-

साधना कहें तो अनुपयुक्त न होगा। इसके लिए उन्हें बड़े-बड़े मूल्य चुकाने पड़े है। उनमें पत्नी का दिवावसान और व्यापार की क्षति मुख्य है। घर वालों का रोष भी अपना एक स्थान रखता है। उस दिन वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली के एक कक्ष में, मैंने उन्हें अपनी पत्नी की अन्तिम अस्वस्थ दशा की स्मृति में हिलते देखा था। वर्षो-पूर्व का एक दृश्य उनकी आँखों में बार-बार तरल हो उठता था। उन्होंने कहा कि जैन बिब्लियोग्राफी के कार्य में मैं इतना संलग्न रहता था कि अपनी पत्नी के स्वास्थ्य पर ठीक ध्यान न दे पाया। उस मानवी ने इसकी एक क्षण को भी शिकायत न की। मरते समय भी उसने यह ही चाहा कि मेरी साधना पूरी हो और मैं आनन्द तथा सुख का अनुभव कर सकूँ। भारतीय नारी की यह प्रतिमा और किस देश में उपलब्ध होगी। यदि बाबूजी उसके ध्यान में द्रवित हो उठते थे तो यह उनका मानवीय रूप ही था। यदि कोई साधक मानव नहीं तो उसकी साधना पक्षाघात से प्रपीडित रहेगी। जैनधर्म इसी कारण मानव को मोक्ष पाने के योग्य मानता है और किसी को नहीं। साहित्य साधना के मूल गुण भी मानव की मूल वृत्तियों से ही सम्बद्ध हैं। 'ब्रह्मानन्द' और 'ब्रह्मानन्द सहोदर' एक ही आधार पर टिके हैं। दोनों का मूल एक ही है। बाबूजी ने उसे समझा और अनुभव किया था।

भारतीय पुरातत्त्व विश्व का एक मूल्यवान अध्याय है। अनेक विदेशी पुरातत्त्वज्ञों ने उसे समीप से देखा और परखा है। वे उसकी प्रशंसा करने से अपने को रोक नहीं सके। उनका मत है कि यदि उसमें से जैन खण्ड पृथक कर दें तो उसका महत्त्व अधूरा रह जायगा। बाबू छोटेलाल जी जैन पुरातत्त्व के प्रिय विद्यार्थी थे। अन्त तक उसके प्रति उनकी जिज्ञासा सतत जाग्रत रही इसीलिए विद्यार्थी शब्द का प्रयोग किया, अन्यथा मैंने अपनी आँखों से भारत के सर्वोत्कृष्ट पुरातत्त्वज्ञों को उनकी पाद-वन्दना करते देखा है। अभी उस दिन मैं उनके साथ दिल्ली के नेशनल म्यूजियम में चला गया। उसकी इमारत दिल्ली की शान के अनुरूप ही है। अनेक मूर्ति और स्तम्भों को पार करते हम एक कक्ष में पहुँचे। नितांत सादगी देखी वहाँ और एक बड़ी मेज के सामने कुर्सी पर बैठे सादा मानव के दर्शन किये। खद्दर के कपड़े, बाल उड़ते हुए, भाल पर आड़ा तिलक, कुछ स्थूल शरीर। हम लोगों को देखते ही उनका शरीर अविलम्ब हिला और उन्होंने बाबूजी के चरणस्पर्श किये। परिचय के उपरान्त विदित हुआ कि वे ही वे शिवराम मूर्ति हैं, जिनके पुरातात्त्विक निबन्ध 'एनसाइक्लोपिडिया ऑव वर्ल्ड आर्कियोलाजी' में प्रकाशित हुए हैं। दुनियाँ के चोटी के विद्वानों ने उन्हें पुनः-पुनः पढ़ा है। मैं आश्चर्य-चकित था। जैन चैत्यों के सम्बन्ध में कुछ पुरातात्त्विक जानकारी बढ़ाने गया था वहाँ। जो कुछ जाना वह मेरे आगामी निबन्ध में प्रकाशित होगा। दो घण्टे वहाँ रहा, अभिभूत-सा, एक विनीत विद्यार्थी-सा। भारतीय ज्ञान का वह प्रकाश स्तम्भ कितना अनूठा और विस्मयकारी था। उनकी यह विनम्र स्वीकारोक्ति उनके सरल हृदय की प्रतीक ही थी कि बाबूजी (छोटेलालजी) के ठोस ज्ञान से बहुत कुछ सीख कर ही मैं इस दिशा में आगे बढ़ सका हूँ। तो फिर समीप बैठा दुबला पतला व्यक्तित्व मेरे हृदय में प्रेरणा-पुञ्ज-सा समाहित हो उठा। बाबूजी किसी म्यूजियम के क्यूरेटर नहीं बने; किन्तु न जाने कितने क्यूरेटर्स उनके आशीर्वाद के अभिलाषी रहे हैं। इसे शायद बहुत से लोग न जानते हों।

इसी भाँति भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ टी० रामचन्द्र बाबूजी के प्रति श्रद्धा ही नहीं, भक्ति-भाव संजोये रहते हैं। मैंने उन्हें दिल्ली में बाबूजी को सदैव श्रद्धानत हो प्रणाम करते देखा है। टी० रामचन्द्र, एक जंचता हुआ व्यक्तित्व, शोध-खोजों में तपा-निखरा साधक दिख कर कौन प्रभावित न हो। प्रतिभा और परिश्रम की सजीव कहानी हैं वे।

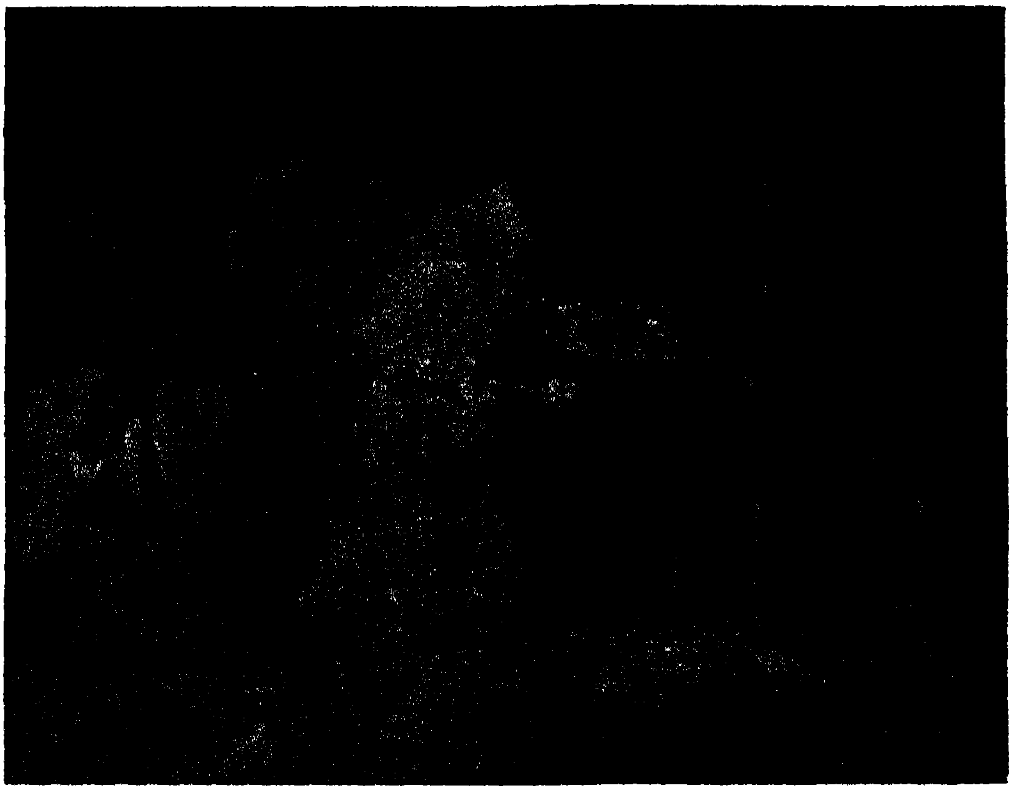
भारतीय धरा ऐसे नर रत्न सदैव उगलती रही है। ऐसे ही लोगों को प्राचीन युग में मन्त्र-द्रष्टा कहा जाता था। उनके जैन विषयों से सम्बन्धित निबन्ध यदि एक ओर अनुसन्धान-परक है तो दूसरी ओर निष्पक्ष हृदय के द्योतक। वे बाबू छोटेलालजी को उच्चकोटि का पुरातत्त्वज्ञ मानते थे। बम्बई के नेशनल म्यूजियम के चीफ क्यूरेटर डॉ० मोतीचन्द्र तो यदि दिल्ली या कलकत्ता आयें और वहाँ बाबू छोटेलालजी हों तो उनसे अवश्य मिलते थे। डॉ० मोतीचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से प्रकाशित उनका 'शृंगार हाट' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्राचीन पाषाणों में सजा यह 'शृंगार हाट' भारतीय संस्कृति के मध्यरात्रि के बाजारों की कहानी है। साहित्य और पुरातत्त्व का ऐसा अनूठा समन्वय अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। डॉ० मोतीचन्द्र भी साहित्य और पुरातत्त्व के समन्वित रूप है, साथ-ही-साथ मानव प्रवृत्तियों के पारखी। उनकी श्रद्धा सस्ती नहीं हो सकती। जिसके प्रति सँजोयेंगे, वह उनकी कसौटी पर पहले ही खरा उतर चुका होगा। बाबू छोटेलालजी उनके श्रद्धास्पद थे।

बाबूजी को जैन पुरातत्त्व का असीम ज्ञान था। कुछ वर्ष पहले दिल्ली में एक विशाल जैन म्यूजियम स्थापित करने का आयोजन किया गया। भारत के राष्ट्रपति के पद पर आसीन होते ही डॉ० राधाकृष्णन से उसके उद्घाटन की बात भी सोच ली गई। भारतीय पुरातत्त्व के एक विशेषज्ञ, जिन्हें डायरेक्टर के रूप में नियुक्त किया था, राजस्थान और मध्यप्रदेश से जैन पुरातात्त्विक सामग्री ले आये। उस सामग्री से सजे भवन का निरीक्षण करने पहुँचे बाबू छोटेलालजी। मैंने देखा कि उन्होंने एक-के-बाद-एक दस अशुद्धियाँ बताईं, जिनका समाधान डायरेक्टर महोदय न कर सके। सामग्री के सस्ते रूप को देख कर आयोजन रोक दिया गया। उस समय मैंने बाबूजी के सूक्ष्मावलोकन को साक्षात् देखा। कुछ वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ो की खुदाइयों में प्राप्त शिव की मूर्त्तियाँ भगवान ऋषभदेव की मान ली गईं। वे जैनों के प्रथम तीर्थंकर हैं। बनारस विश्वविद्यालय के डॉ० प्राणनाथ ने उन मूर्त्तियों पर 'जिनाय नमः' पढ़ा और उसी आधार पर उपर्युक्त मान्यता चल पड़ी। बाबू छोटेलालजी ने उसका सप्रामाणिक खण्डन किया। मुझे जहाँ तक स्मरण है, उनके कथन को किसी ने चुनौती नहीं दी। विद्वानों के मध्य बाबू छोटेलालजी के पुरातात्त्विक निबन्धों की सदैव प्रतिष्ठा हुई है। सन् १९२३ में उनकी एक छोटी-सी पुस्तक 'जैन प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रह' कलकत्ता की 'पुरातत्त्वान्वेषिणी परिषद्' से प्रकाशित हुई थी। इसमें बाबूजी ने कलकत्ता के मन्दिरों में विराजमान प्रतिमाओं और यन्त्रों पर खुदे लेखों का संकलन और सम्पादन किया था। इस विषय पर कार्य करने वालों को संस्कृत का ज्ञान अत्यावश्यक होता है। बाबूजी उसमें पीछे नहीं थे। इस पुस्तक ने अनेक विद्वानों का मार्ग दर्शन किया। आज विविध पत्र-पत्रिकाओं में जो यंत्र और प्रतिमा-लेख संग्रह प्रकाशित होते हैं, उनके पीछे बाबूजी की प्रेरणा ही थी। उन्होंने पं० परमानन्द शास्त्री को दिल्ली के मन्दिरों के मूर्त्ति और यन्त्र-लेखों को संकलित कर अनेकान्त में प्रकाशित करने का आदेश दिया था। इस विषय में बाबूजी की तीव्र रुचि और वैज्ञानिक जानकारी सुविदित है।

सन् १९६२ में बाबूजी वीर-सेवा-मन्दिर में ठहरे थे। 'अनेकान्त' के पुनः प्रकाशन का विचार उठा, तो प्रारम्भ कर दिया। किसी पत्र का निकालना आसान कार्य नहीं है और विशेषकर तब, जब वह एक शोध पत्र हो। बाबूजी ने अकेले ही, अस्वस्थ दशा में सब कुछ किया। सब कुछ का अर्थ है-अर्थ का प्रबन्ध, सामग्री का संकलन, सम्पादन, प्रकाशन, प्रूफ-रीडिंग और फिर यथा-स्थान भेजना, ग्राहक बनाना, चन्दा इकट्ठा करना। एक या दो अंक उपरान्त मुझे बुलाया। सचिन्त

होकर कहा कि मै अब कलकत्ता जाना चाहता हूँ, कोई 'अनेकान्त' के सम्पादन का उत्तरदायित्व ले तो मुझे शान्ति मिले। ग्रीष्मावकाश हो चुका था, में वीर-सेवा-मन्दिर में जाकर ठहर गया। उन्होंने मुझे कार्य समझाया। कुछ विद्वानों के निबन्ध प्रकाशन हेतु आये हुए थे। बाबूजी के साथ विचार-विनिमय होता था। तब मैंने जाना कि उनकी पकड़ कितनी पैनी है और विद्वत्ता के क्षेत्र में कितनी सूक्ष्म पैठ है। सस्ती विद्वत्ता उन्हें कभी नहीं रुचती। कलकत्ता जाने के उपरान्त भी उनकी सम्मतियाँ और निर्देशन सतत मिलते रहे। बाबूजी की तीव्र अभिलाषा थी कि अनेकान्त एक उत्तम शोध पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो, किन्तु उसके साथ कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सम्बद्ध थीं जिनसे बाबूजी विवश थे और मैं तो नितांत परवश हूँ। बाबूजी ने बाबू जयभगवान जी, जो उस समय वीर-सेवा-मन्दिर के सेक्रेटरी थे, को लिखा था कि डॉ० प्रेमसागर के साथ विचार-विमर्श कर 'अनेकान्त' को एक श्रेष्ठ पत्रिका का रूप दें। उसी समय के आस-पास बाबू जयभगवान के दिवावसान से वह कार्य सम्पन्न न हो सका। 'अनेकान्त' जैसे रूप में चल रहा था, बाबूजी उससे सन्तुष्ट नहीं थे। उसे एक उत्तम रूप प्राप्त हो, मेरी भी अभिलाषा है. मेरे ठोस सुझाव हैं, जिन्हें बाबूजी ठीक मानते थे, किन्तु उनके कार्यान्वयन में विचित्र कठिनाइयाँ हैं, अतः एक हुमस-भरी विवशता है। फिर भी 'अनेकान्त' में प्रकाशित मेटर से विद्वान सन्तुष्ट हैं और अनुसन्धित्सुओं को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इसी कारण बाबूजी उसके संचालन से सहमत थे और 'अनेकान्त' निकल रहा है। इस अनुच्छेद का तात्पर्य इतना ही है कि बाबूजी 'अनेकान्त' को जैनशोध का एक रोचक पत्र बनाना चाहते थे। उनकी यह भावना जैन शोध-खोज में सतत लगे रहने का परिणाम थी।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी के डायरेक्टर्स में बाबू छोटेलालजी का नाम सबसे ऊपर था। मूलतः भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना, जैन साहित्य की शोध-खोज, सम्पादन और प्रकाशन के लिए ही हुई थी। ज्ञानपीठ ने वर्षों इस कर्त्तव्य का निर्वाह ईमानदारी से किया। स्वर्गीय पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के निर्देशन मे जो कार्य हुआ, उसका अपना एक पृथक महत्त्व है। श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय भी इस दिशा में सजग, सावधान और रुचि-सम्पन्न बने रहे। किन्तु जैन ग्रन्थों के विक्रय की विकट समस्या ने भारतीय ज्ञानपीठ के जैन वाङ्मय के प्रकाशन तक ही सीमित रहने के संकल्प को डिगा दिया। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के सेक्रेटरी बनते ही लोकोदय ग्रन्थमाला का जन्म हुआ। उससे नई विधाओं और विचारों को संजोये हिन्दी का सृजनात्मक साहित्य प्रकाशित हो उठा। एकाकी नाटक, छोटी-छोटी कहानियाँ, उपन्यास और कविता-संकलन धड़ल्ले से निकले। उनकी बिक्री होती है। अब ज्ञानपीठ हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों की एक प्रमुख संस्था है। मुझे या किसी जैन विद्वान को उसके ऐसा होने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु साथ ही उसका मूल उद्देश्य भी धूमिल नही होना चाहिए। अब देखा जाता है कि जैन-ग्रन्थों के प्रति न वह रुचि है और न सजगता। मैंने बाबू छोटेलालजी को एकाधिक बार भारतीय ज्ञानपीठ की इस प्रवृत्ति के प्रति गम्भीर रूप से सचिन्त होते देखा है। अभी दो-चार वर्षों में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कतिपय ऐसे जैन ग्रन्थ हैं जिनके लिये यदि बाबूजी का कड़ा आदेश न होता तो शायद वहाँ से प्रकाशित ही न हो पाते। बाबूजी चाहते थे कि भारतीय ज्ञानपीठ केवल भारत मे ही नहीं, अपितु समस्त एशिया महाद्वीप में जैन साहित्य का मानस्तम्भ बन सके। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि वे आज इस संसार में होते तो उसे इस रूप में परिणत कर ही दम लेते। यदि भारतीय ज्ञानपीठ के सेक्रेटरी महोदय हिन्दी साहित्य और जैन साहित्य के मध्य अपनी रुचि निष्पक्ष भाव से सन्तुलित रख सकें तो भी बाबूजी की अभिलाषा के पूर्ण होने के चिन्ह



गनी ट्रेडर्स अमोसिएशन, कलकत्ता द्वारा बाबू जी के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर आयोजित टी पार्टी का एक दृश्य। (११-१०-१९५८)

दृष्टिगोचर हो सकते हैं। मैं भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक साहू शान्तिप्रसाद जी के विचारों से परिचित हूँ, वे उसे लेकर कोई व्यापार नहीं करना चाहते और न उसे आय का साधन समझते हैं। फिर तो हिन्दी साहित्य से प्राप्त आय जैन साहित्य में लगाई जा सकती है। यहाँ मेरा उद्देश्य बाबू छोटेलालजी की, जैन साहित्य के संशोधन, सम्पादन और विश्वव्यापी प्रकाशन के प्रति बलवती आकांक्षा को प्रगट करना ही है।

मनुष्य स्वयं विद्वान बन सकता है और विद्वत्ता के उत्तुंग शृंग पर भी चढ़ सकता है, क्योंकि यह उसके निज से सम्बन्धित बात है, किन्तु दूसरों को बनाना और उन्हें आगे बढ़ाना आसान कार्य नहीं है। यह वे ही कर सकते हैं, जो महासत्त्व हैं, जिनका दिल 'सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्' से बना है। आज जैन समाज में अनेक विद्वान हैं, जिनकी विद्वत्ता और ख्याति की तह में बाबूजी की प्रेरणा और सहायता के ही दर्शन होते हैं। बाबूजी ने कभी उसका उल्लेख भी नहीं किया। उल्लेख तो तब करते जब उन्होंने यह कार्य अपने नाम के लिए किया होता। उनका यह स्वभाव था। स्वभाव-वशात् ही वे ऐसा करते थे। सौभाग्य से उनके पिता ने उनके इस स्वभाव को निखारने के अवसर भी दिये। बाबूजी ने मुझे सुनाया "जब भी कोई विद्वान कलकत्ता आता तो मेरे पिताजी मुझे उस विद्वान को कलकत्ता घुमाने के लिए भेज देते। इस भांति प्रारम्भ से ही मैंने विद्वानों के प्रति श्रद्धा-भाव सँजोया है।" इसी भाव ने उन्हें स्वयं विद्वत्ता की ओर उन्मुख किया। विद्वत्ता उपार्जित कर भी वह श्रद्धा-भाव तदवस्थ बना रहा। इसी भाव के कारण अपने से छोटे युवा विद्वानों के प्रति उनका श्रद्धा-गर्भित प्रेम उमड़ उठता था। ये विद्वान प्रायः ऐसे होते कि उनके कदम लड़खड़ाते, दिल काँपता और कुछ परिस्थितियों से विवश से हुए आरहे होते। बाबूजी का अगाध स्नेह और प्रत्येक प्रकार का साहाय्य उन्हें मजबूत बना देता। अभी विगत वर्ष ही दिल्ली में 'International oriental conference' का आयोजन था। वीर-सेवा-मन्दिर की तीसरी मंजिल के एक कक्ष में कलकत्ता के एक युवा विद्वान ठहरे थे। परिचय हुआ तो बाबूजी के स्नेह का स्मरण कर गद्गद् हो उठे, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। केवल वे ही नहीं उस समय वहाँ ठहरे दक्षिण के एक वृद्ध भट्टारक, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० कैलाशचन्द्र, डॉ० कमलचन्द सोगानी, बाबू जयभगवान जी आदि सभी एक-ही स्नेह-सूत्र में बंधे थे। सभी के हृदय बाबूजी के पावन स्मरण से ओत-प्रोत थे। मैं औरों को छोड़ अपनी कहता हूँ। सन् १९६१ के जून के मध्यान्ह में मैंने सब से पहली बार बाबूजी के दर्शन वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली के मुख्य भवन में किये। मेरे हाथ में अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी के भक्ति काव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान।' की पाण्डुलिपि थी। उन्होंने उसे पढ़ा और सराहा। तुरन्त भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशन-हेतु स्वीकार कर लिया। मेरी एक बहुत बड़ी समस्या हल होगई। आज वह ग्रन्थ 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठ भूमि' और 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। प्रकाशन के समय इस ग्रन्थ के संशोधन में बाबू जी के ठोस सुझाव कार्यान्वित किये गये हैं। यह उनका स्नेह ही था। उनका स्नेह यहाँ तक बढ़ा कि जब वे कलकत्ता गये तो पूरे वीर-सेवा-मन्दिर की देखभाल और 'अनेकान्त' की जिम्मेदारी मुझे सौंप गये। मैं उनका विश्वास प्राप्त कर सका, इससे गौरवान्वित हूँ। उनकी सतत प्रेरणा से प्रेरित होकर ही जैन शोध के क्षेत्र में मेरी रुचि बढ़ती गई और मैं उस पथ पर अग्रसर हूँ।

वीर-सेवा-मन्दिर बाबू छोटेलाल जी की मूक साधना का प्रतीक है। यद्यपि इस मन्दिर की स्थापना बाबू जुगलकिशोर जी मुख्तार ने सरसावा में की थी, किन्तु उसे पल्लवित और पुष्पित करने का समूचा श्रेय बाबू छोटेलाल जी को ही है। इस संस्था को उन्होंने विपुल आर्थिक सहायता स्वयं दी और दिलवाई। अनेकान्त के संचालन का समूचा श्रेय उन्हीं

को दिया जा सकता है। पहले भी उन्होंने इसको जन्म दिया था और अब भी उन्होंने इसको पुनः प्रारम्भ किया। पहले तो वे इसके सम्पादक भी रहे और अनेक शोध-खोज पूर्ण निबन्ध इसमें प्रकाशित हुए। पैसा उन्होंने दिया और सम्पादन, निबन्ध लेखन सब कुछ भी उन्होंने किया। कभी ख्याति की आकांक्षा नहीं की। ख्याति उन्हें मिली भी नहीं, वह किसी और को उपलब्ध होती रही। किन्तु बाबू जी को इससे हार्दिक प्रसन्नता मिली, वे ऐसा ही चाहते थे। इस बार 'अनेकान्त' का संचालन उनके अद्वितीय साहस और लगन शील हृदय का प्रतीक था, उन्होंने विद्वान लेखकों की सूची बनाई, उनसे सम्बन्ध स्थापित किया, श्रीमन्त सेठों को दान के लिए अनुप्राणित किया, ग्राहक बनाये, प्रेस तै किया, मुख पृष्ठ की रूपरेखा स्वयं बनाई। संकलित लेखों को पढ़ा और सम्पादित किया। समूची प्रूफ-रीडिंग की। जब छपकर आया तो अपने हाथ से डिसपैच किया। लेई से कागज तक चिपकाये। यह सब कार्य उस समय किया जब कि वे अस्वस्थ थे। इस पर भी न तो वे प्रकाशक थे और न उनका नाम सम्पादक मण्डल में था। दूसरे अंक के पश्चात् जब वे कलकत्ता चले गये तो एक सज्जन यह कहते सुने गये "नौकर तक के काम उन्होंने खुद अपने हाथ से किये इसकी क्या जरूरत थी, फिर कहते हैं कि मैंने इतना काम किया, उतना काम किया।" मैं उनकी बात सुन 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' पर विचार करता रहा। भला वे सज्जन कैसे सोच सकते थे उस भाव भीने प्रेम और उत्तरदायित्व को जो उनके दिल में 'अनेकान्त' के प्रति भरा था। इस बार भी सम्पादक मण्डल में बाबूजी का नाम नहीं था। किन्तु उनके सुझाव और निर्देशन इतने ठोस होते थे कि कोई भी सम्पादक बिना विरोध के उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने को उद्यत हो जाता। मुझे जहाँ तक स्मरण है, उन्होंने अपना कोई सुझाव थोपा नहीं और न 'अनेकान्त' की गति में कोई हस्तक्षेप किया। 'अनेकान्त' एक उत्तम पत्रिका बन सकता है, यदि 'अनेकान्त' से सम्बन्धित व्यक्ति बाबूजी की आत्मा को समझ सकें।

विद्वत्ता के परिप्रेक्ष्य में बाबूजी का यह संक्षिप्त आकलन है। विद्वान विद्वद्मन्यः हो जाते हैं, अहंकार उनका सहचर बन जाता है। बाबूजी इन दोनों ही से मुक्त रहे। अन्त तक वे अपने को न कुछ मानते हुए विद्वानों का आदर-सम्मान करते रहे। विद्वानों में सबसे बड़ा दुर्गुण होता है यशः कांक्षा। वे इसके लोलुप होते हैं, धनिकों के धन से भी अधिक। बाबूजी यश के समूचे स्थल उदारता-पूर्वक दूसरों को देते रहे। यश मिला उन्हें भी, किन्तु उसकी गति धीमी और ठोस है। यदि हम मि० स्टीवेन्सन के शब्दों में कहें तो उनकी 'पोपुलरिटी' 'इन्टीमेट' है 'लोंग' नहीं। अर्थात् समाचार पत्रों में अपना नाम, ग्रन्थों पर नाम और व्याख्यानों के लिए अपने नाम की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई। इन आधारों पर नाम कमाने की उन्होंने कभी चेष्टा भी नहीं की। जो भी व्यक्ति उनके पास जाकर रहा, वह अवश्य ही यह प्रभाव लेकर गया कि हमने एक विद्वान के दर्शन किये और उससे भी पूर्व एक मानव के। मानवता के शवों पर उगने वाली विद्वत्ता को ही मि० स्टीवेन्सन ने 'लोंग पोपुलरिटी' की संज्ञा से अभिहित किया था। बाबूजी की मूक साधना ने उन्हें 'इन्टीमेट पोपुलरिटी' का प्रतीक ही बना दिया। उनमें विद्वत्ता और मानवता का अद्भुत समन्वय था।

चमन में इनसे इबरत है

नेमीचन्द्र शास्त्री, एम.ए., पी.एच.डी.,
प्राध्यापक एच. डी. जैन कॉलेज, आरा (मगध विश्वविद्यालय)

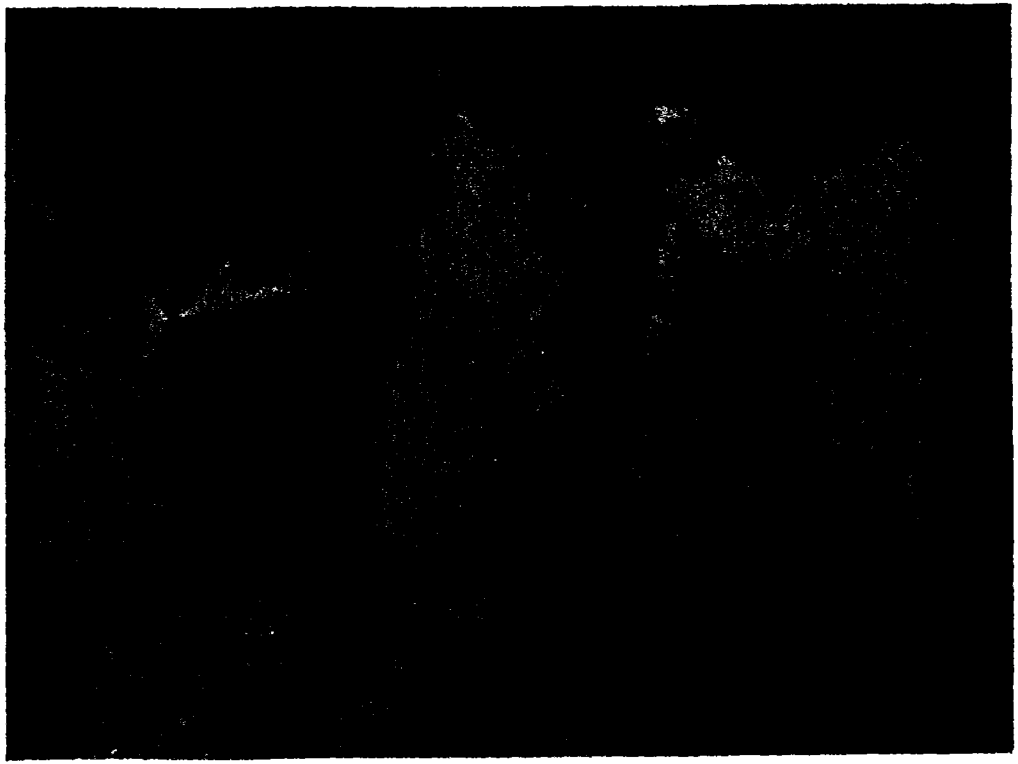
दिन आते हैं और चले जाते है, पर वे अपनी मधुर स्मृतियाँ मानस-पटल पर सदा के लिए अंकित कर जाते हैं। जो घटना मर्म को छू जाती है, वह सर्वदा के लिए टंकोत्कीर्ण हो जाती है। आदरणीय श्री बाबू छोटेलालजी का प्रथम दर्शन आज से २२ वर्ष पूर्व हुआ था, पर उनके प्रथम साक्षात्कार का प्रभाव आज भी तदवस्थ है। बाबूजी का व्यक्तित्व वस्त्र, वायु, वाक्, विद्या और विभूति रूप पञ्चवकार से नहीं आँका जा सकता है, बल्कि अहर्निश की प्रत्येक कार्यवाही उनके व्यक्तित्व की महत्ता सूचक है। जीवन के प्रतिपल की प्रत्येक घटना दीपावली की विद्युत्वल्लरी के समान अपने आलोक की स्निग्धकिरणों को विकीर्ण करती है। समाज, संस्कृति, साहित्य और धर्मोत्थान की भावना बाबूजी में पूर्णतया व्याप्त थी। उनका व्यक्तित्व हिमालय की हिमधवल गगनस्पर्शी चोटियों के समान उन्नत और श्रद्धास्पद था। हिमालय की करुणा जिस प्रकार अगणित निर्झरों और सरिताओं के रूप में विगलित होती है, उसी प्रकार बाबूजी की करुणा भी असहाय और निराश्रयों को आजीविका दिलाने में। बाबूजी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने दीपशिखा की भाँति अपने जीवन को तिल-तिल कर जलाया था, मात्र इसलिए कि साहित्य, संस्कृति, कला और समाज का उत्थान हो। उनमें दया, क्षमा, शालीनता, नम्रता और सहन शीलता आदि गुण वर्तमान थे। जीवन भर रोगों से जूझने पर भी कार्य करने की क्षमता ज्यों की त्यों थी। उनका अदम्य उत्साह कास और श्वास के प्रबल वेग से भी धूमिल न हो सका था। वे जीवन का एक-एक क्षण सरस्वती की आराधना में समर्पित करते थे। यद्यपि उन्होंने मुक्त हस्त से समाज और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लाखों रुपयों का दान दिया था, पर वे नामाङ्कन से सदा दूर रहे। विश्व में ऐसी विभूतियाँ कम ही परिलक्षित होती हैं, जिसमें सरस्वती और लक्ष्मी का एक साथ समवाय पाया जाय। यह सत्य है कि बाबूजी का तन, मन और धन दूसरों की सेवा के लिए सदा प्रस्तुत रहता था। वे साहित्यिक, विचारक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता होने के साथ २ वदान्य-वरेण्य भी थे, जो व्यक्ति जिस साध या इच्छा को लेकर उनके समक्ष उपस्थित होता, उसकी वह साध या इच्छा अवश्य पूर्ण हो जाती। उदार चेता बाबूजी का घर विद्वानों के लिए अनलस अतिथि-शाला था, बिना सूचना के पहुँच जाने पर भी समुचित अतिथिसत्कार प्राप्त होता था। बाबूजी दुर्दान्त दमे से मल्लयुद्ध करते हुए अतिथि को समस्त सुख-सुविधाएँ पहुँचाने का प्रयास करते थे। भोजन, स्नान प्रभृति समस्त आवश्यकताओं को वे स्वयं ही आगे आकर पूर्ण करते थे। उनका सौजन्यमय व्यवहार प्रत्येक अतिथि को मुग्ध कर देता था।

हाँ, तो मैं अपने प्रथम साक्षात्कार के प्रभाव का अंकन करने का आभास कर रहा हूँ। संभवतः सन् १९४३ का जुलाई मास था। नया सत्र आरम्भ हो चुका था। विद्यार्थीगण महत्त्वाकांक्षाओं के कुहासे से घिरे हुए अपनी २ कक्षा में प्रविष्ट हो रहे थे। मैं जैन बालाविश्राम आरा में धर्म-संस्कृता-ध्यापक था। सहसा एक दिन ज्ञात हुआ कि कल इस संस्था के सभापति कलकत्ता निवासी दानवीर बाबूजी श्री छोटेलालजी आने वाले हैं। सर्वत्र एक

नयी चहल-पहल थी। सफाई-स्वच्छता के निर्देशों के साथ छात्राओं को सावधानी सम्बन्धी अन्य प्रकार के निर्देश भी दिये जा चुके थे।

प्रातः कालीन कक्षाएँ चल रही थीं, जिनमें प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, अष्टसहस्री और गोम्मटसार के अध्यापन की व्यवस्था थी। मैं न्यायतीर्थ परीक्षा में प्रविष्ट होने वाली छात्राओं को 'मार्त्तण्ड' पढ़ा रहा था कि एक गौरवर्ण, क्षीणकाय, मध्यमकद, उन्नतललाट, आजानबाहु और दूध जैसी धवल वेष-भूषा से विभूषित व्यक्ति ने प्रवेश किया। शिष्टाचार प्रदर्शन के अनन्तर वे बैठ गये और मुझे पाठ चालू रखने का आदेश दिया। प्रकरण कारक साकल्य का चल रहा था। कुछ पंक्तियों के अध्यापन के पश्चात् उन्होंने छात्राओं से पूछा—'नैयायिकादि के यहाँ प्रमा में किस वस्तु को साधकतम माना गया है? छात्राओं द्वारा इन्द्रिय और सन्निकर्ष के उत्तर दिये जाने पर उन्होंने उनकी अप्रमाणता सिद्ध करने के लिए आदेश दिया, पर जब छात्राएँ मौन दिखलायी पड़ीं तो बाबूजी ने बतलाया कि जानना या प्रमारूप क्रिया के चेतन होने से साधकतम ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं। सन्निकर्षादि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्निकर्षादि के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतएव जानने रूप क्रिया का साक्षात् अव्यवहित कारण ज्ञान ही है, सन्निकर्षादि नहीं। प्रमिति या प्रमा अज्ञान निवृत्तिरूप होती है और इस अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही कारण हो सकता है, जैसे अन्धकार की निवृत्ति में अन्धकार का विरोधी प्रकाश। इन्द्रिय, सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन हैं, अतः अज्ञान रूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात्कारण नहीं हैं। यद्यपि कहीं-कहीं सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में सम्मिलित हैं, पर सार्वत्रिक और सार्वकालीन अन्वयव्यतिरेक न मिलने से उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। ज्ञान का सामान्य धर्म अपने स्वरूप को जानते हुए पर पदार्थ को जानना है। वह अवस्था विशेष में पर को जाने या न जाने पर अपने स्वरूप को हर स्थिति में जानता है। स्वसंवेदी होना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार अपने जानने रूप क्रिया में साधकतमता—अव्यवहितकारणता ज्ञान को ही प्रतिपादित है।

आयोजित सभा में शिक्षा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—"वर्तमान में हमारे विद्यालयों का पठन क्रम सदोष है। अध्ययन और अध्यापन ग्रन्थानुसार किया जाता है, जिससे एक ही विषय कई बार पुनरावृत्त होता है, फलतः छात्रों का सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता। आचार्यों ने ग्रन्थों का प्रणयन स्वाध्याय के हेतु किया है, पाठ्य क्रम को दृष्टि में रखकर ग्रन्थ नहीं लिखे गये हैं, अतः जैन विद्यालयों में विषयानुसार कतिपय शीर्षक निश्चित कर धर्म और न्याय की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रवेशिका प्रथम खण्ड से लेकर शास्त्रीय परीक्षा के अन्तिम खण्ड तक धर्म और न्याय के अनेक विषय बार-बार दोहराये जाते हैं, अतएव भा० दि० जैन परीक्षालय को अपने पाठ्यक्रम को ठोस और व्यापक बनाना चाहिए। धार्मिक शिक्षा जीवन विकास की दृष्टि से अत्यावश्यक है, इसकी उपेक्षा करने से समाज की उन्नति नहीं हो सकती। अतः धन के बिना भी मनुष्य उठ सकता है, विद्या के बिना भी बड़ा बन सकता है, पर चरित्र बल के बिना मनुष्य सर्वथा हीन और पंगु है। आचरणहीन ज्ञान पाखण्ड है। नैतिक व्यक्ति ही अपने प्रति सच्चा एवं ईमानदार हो सकता है। अतएव कॉलिज और स्कूलों में भी धर्म शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि यहाँ की छात्राएँ प्रमेय-कमल मार्त्तण्ड और अष्ट सहस्री जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थों का अध्ययन करती हैं। आदरणीय बाईजी (ब्र० पं० चन्दाबाईजी) ने दासत्व की शृंखला में जकड़ी, घूँघट में छिपी, अज्ञान और कुरीतियों से प्रताड़ित नारी को आत्मबोध ही नहीं कराया,



गनी ट्रेडर्स एसोसियेशन, कलकत्ता द्वारा बाबू जी के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर आयोजित टीपार्टी का एक दूसरा दृश्य। (११-१०-१९५९)

बल्कि उसके लिए उच्चशिक्षा का प्रबन्ध कर उसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। चन्दना, चेलना और सीता जैसी सती नारियाँ ज्ञान के क्षेत्र में आशातीत उन्नति कर रही हैं। मेरा तो यह दृढमत है कि नारियाँ ही देश के कलेवर का परिष्कार कर सकती हैं। वह समाज, जो अपनी नारियों को प्रतिष्ठित करने की बात नहीं सोच सकता, कभी भी विकास की ओर नहीं बढ सकता। मैं बाईजी के कार्यों की पुनः पुनः प्रशंसा करता हूँ।"

सभा में आपने पुरातत्त्व और इतिहास की महत्ता पर भी प्रकाश डाला। कलापूर्ण मूर्त्तियों और मन्दिरों के चित्र भी दिखलाये। आपका मत है कि अतीत के गौरव की गन्ध ही समाज को उत्तेजित करती है और इसी गन्ध की मस्ती उसे नया जीवन दान देती है। प्राचीन खंडहरों में हमारा अतीत छिपा है. हमें उसे ढूंढ कर अपने भविष्य को स्वर्णमय बनाना है। अभी तक जैन साहित्य का इतिहास नहीं लिखा गया है। दिगम्बर जैन साहित्य भण्डारों में उद्धारकों की प्रतीक्षा कर रहा है। सहस्त्रों ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं, अतएव हमें इस ओर भी ध्यान देना है वस्तुतः साहित्य जीवन की सतत गतिशील प्रेरणाओं में से एक है। समाज का अस्तित्त्व साहित्य पर ही अवलम्बित है।

प्रथम साक्षात्कार के पश्चात् तो बाबूजी के निकट सम्पर्क में आने का अनेक बार अवसर मिला। वे अत्यन्त कर्मठ, परोपकारी, सेवाभावी एवं समाज और साहित्य के लिए सतत चिन्तित रहते थे। जब कोई भी विद्वान् उनके पास पहुँचता, तो वे घण्टों बैठकर उसके साथ समाज और साहित्योत्थान की चर्चा करते रहते। विद्वान् के पहुँचने से उन्हें अपूर्व प्रसन्नता होती। शास्त्रीय और ऐतिहासिक चर्चा में उन्हें इतना रस आता कि चर्चा के समय में उनका चिर सहचर दमा भी न मालूम कहाँ चला जाता। श्री जैनसिद्धान्त भवन आरा के हीरक जयन्ती महोत्सव के बाबूजी स्वागताध्यक्ष होकर पधारे थे। जब आप आरा में आये तो दमा से पीड़ित थे, खाँसी बहुत परेशान कर रही थी; पर आश्चर्य की बात यह थी कि उत्सव आरम्भ होते ही आपका दमा न मालूम कहाँ चला गया। आप सभाओं में तीन-चार घण्टे लगातार बैठे रहते थे, पर एक बार भी खाँसी नहीं आती थी। ऐसा मालूम पड़ता था मानो आपने किसी योग क्रिया के बल से दमा को जीत लिया हो। आपकी लगन, तत्परता और प्रत्येक कार्य को सुन्दर ढंग से सम्पादन करने की क्षमता दर्शनीय थी। जिस स्थान पर विद्वान ठहरे हुए थे, उस स्थान पर आप कई बार पधारे और उन से मिलकर एवं चर्चा कर बड़े प्रसन्न हुए।

उत्सव समाप्त होने के अनन्तर आप जैन सिद्धान्त भवन की उन्नति के हेतु कई दिनों तक चर्चा करते रहे। समाज और साहित्य के कार्यों में आप विशेष रुचि लेते थे तथा छोटे-बड़े सभी प्रकार के लेखकों को उत्साहित करते थे। आपकी प्रेरणा से कलकत्ता में कितने ही विद्वान् जैन साहित्य के अध्येता बन गये हैं। वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव को सम्पन्न करने में आपने जो अथक परिश्रम किया था, उसे समाज सदैव याद रखेगा। इतने बड़े उत्सव की सफलता का श्रेय बाबूजी को ही था। आपकी बहुमुखी प्रतिभा, दूसरों के सुख के लिए सर्वस्व वितरण करने की भावना, राष्ट्र और देश सेवा का संकल्प एवं परोपकार करने की सत्-बुद्धि ऐसे गुण थे, जिनके कारण आपकी गणना विश्व के महान् व्यक्तियों में की जा सकती है। बाबू छोटेलालजी जैसे लाल किसी भी समाज को बड़े पुण्योदय से ही प्राप्त होते हैं। आपकी सत्-प्रेरणा से अनेक जैनेतर विद्वान् और श्रीमान् जैन साहित्य के मणि-माणिक्यों से परिचित हो गये हैं। कलकत्ता में गया बाहर का कोई भी जैन आपके पास पहुँच कर सुखसुविधाएँ तो प्राप्त करता ही, उसे रोजी-रोटी दिलाने में भी आप पूर्ण सहायता करते। आपका जीवन वास्तव में आदर्श, अनुकरणीय एवं अभिनंदनीय था।

साथ भेजी गई थी। बाबू जी के स्नेह और ममता की मिठास का स्वाद उन आमों में हम लोग लेते रहे। आत्मीयता की यह अथाह गहराई? सोचता हूँ शब्दों की पतवार के सहारे इसे नापना क्या मूर्खता नहीं है?

पूज्य वर्णी जी के अन्त समय में बाबू जी के साथ मैं भी लगभग बीस दिन वहाँ रहा। इस बीच बाबू जी की अनेक विशेषताएँ देखने-जानने को मिलीं। वर्णी जी के प्रति उनकी दृढ़ और गहन आस्था, समाधि-मरण के समय अन्तिम क्षणों तक वर्णी जी की सेवा-सम्हाल, और भारी भीड़ में उनकी प्रबन्ध-पटुता, बीच बीच में विद्वानों से चर्चा के समय उनका गहन गम्भीर ज्ञान और कतिपय अवांछनीय प्रसंगों पर उनका माध्यस्थ तथा हम सबके प्रति उनकी ममता और अनेक विशेषताओं का आगार उनका सम्मोहक व्यक्तित्व प्रायः प्रत्येक उस व्यक्ति पर जो बाबू जी के सम्पर्क में आया, एक अमिट छाप छोड़ता है

बाबू जी अपने आप में एक सम्पूर्ण संस्था थे। जैन पुरातत्व की अनगिनत अनजानी निधियों को प्रकाश में लाने की दिशा में उन्होंने जो श्रम-साध्य साधना की है तथा उस दिशा में उनकी जो उपलब्धियां है उनका मूल्यांकन करने के प्रयास अभी आरम्भ नहीं हुये। देश के वर्तमान गण्यमान्य पुरातत्त्व विशारदों से उनकी घनिष्ठता के फलस्वरूप अनेक पूर्वाग्रहों और कदाग्रहों का आवरण चीर कर हमारे प्राचीन वैभव के कलापक्ष की जो मान्यताएं स्थापित हो सकी हैं वे हमारी पीढ़ियों को सीढ़ियों का काम देंगी। उनकी निरन्तर और बलवती प्रेरणा से इस दिशा में टी० एन० रामचन्द्रन् और श्री ० सी० शिवराम मूर्ति जैसे कतिपय विद्वानों द्वारा जो साहित्य प्रस्तुत हुआ है वह जैन-कला के अनुसन्धान पथ पर प्रकाश स्तम्भ बन कर रहेगा। उन्होंने स्वयं भी जो लिखा है वह यद्यपि बहुत अधिक नहीं हैं तथापि उनके ज्ञान और अनुभव का परिचायक है। उनके द्वारा संयोजित "जैन बिबलियोग्राफी" का दूसरा भाग यदि प्रकाशित होकर सामने आ सका तो वह उनकी दीर्घ, एकान्त, मौन साधना का प्रमाण होगा। वीर सेवा मन्दिर के प्रति उनका औदार्य तथा वीर शासन संघ के प्रति उनकी सेवाएं उनकी यश-पताका का मेरु-दण्ड बनकर बहुत समय तक हमारे बीच रहने वाली हैं। वे स्वयं महान थे और अनेक महान कार्यों का सम्पादन उनके प्रयास से, उनके वित्त से और उनकी लगन से हुआ है। आने वाले कलके लिये कुछेक बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण योजनाओं की संभावनाएँ अभी उनके सपनों में तैर रही थीं कि कराल काल ने उन्हें हमसे छीन लिया। हमारी कामना है कि उनके जीवन से प्रेरणा लेकर हम उनके कार्यान्वियन का शीघ्र ही प्रयास करें।

सब लोगों की औचित्य की धारणा एक सी नहीं होती।

\+ + +

घटना का जो पहलू बाहर से दिखाई देता है वही उसका पूर्ण रूप नहीं होता।

\+ + +

विपत्ति में राहगीर को भी आश्रय दिया जाता है।

—बाबू जी की डायरी से

श्रद्धास्पद बाबू जी

नीरज जैन

सात आठ वर्ष पहले की बात है। पूज्य वर्णी जी की जयन्ती पर उनकी चरण रज लेने हम लोग ईसरी गये थे। जब तक बाबा जी ईसरी आश्रम में रहे तब तक प्रतिवर्ष उनके जन्म दिन पर एक अच्छा खासा मेला वहाँ लग जाता था। उस वर्ष भी भक्तों की भीड़भाड़ खूब थी और एक बड़े तथा सज्जित पण्डाल में सभा का आयोजन था।

रात्रि में उसी स्थान पर जैन तीर्थों के सिनेमा स्लाइड दिखाये जाने की योजना की गई और उसी कार्यक्रम में सर्वप्रथम श्रीमान बाबू छोटेलाल जी का दर्शन मुझे प्राप्त हुआ। वे प्रोजेक्टर पर स्लाइड दिखलाते थे और उनका विवरण ध्वनि-विस्तारक पर प्रस्तुत करते जाते थे। देश के अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध तीर्थस्थानों की सुन्दर और महत्त्वपूर्ण विविध शिल्प सामग्री की एक संक्षिप्त परन्तु अविस्मरणीय झाँकी उस दिन देखने को मिली। बाबू छोटेलाल जी की प्रसिद्धि और उनके नाम के "बाबू" शब्द का आधार लेकर उनकी बहुत 'टिप-टाप' और भारी-भरकम शरीर की कल्पना मैंने कर रखी थी, पर उसके एकदम विपरीत इकहरी देह पर साधारण धोती कमीज का पहिरावा और अगाध ज्ञान-गरिमा के बावजूद अत्यन्त सहज और नम्रता भरा व्यवहार पाकर मुझे कुछ और ही अनुभव हुआ। उस वर्ष उनकी व्यस्तता (या अपनी परवशता) के कारण यद्यपि वह परिचय परोक्ष ही रहा परन्तु श्रद्धास्पद व्यक्तियों की तालिका जो मेरे मानस-पटल पर थी उसमें यह एक नाम और उस दिन अंकित हो गया।

सतना लौटकर रामवन आश्रम के संस्थापक और विन्ध्य-क्षेत्र के एकमेव पुरातत्त्वान्वेषक बाबू शारदा प्रसाद जी से जब इसकी चर्चा हुई तब बाबू छोटेलाल जी का मानों एक नया ही परिचय मुझे मिला। इसी बीच भाई अमरचन्द के माध्यम से कुछ और उन्हें जाना और कलकत्ता में जब पहली बार उनके घर जाने का अवसर मिला उसके पूर्व ही उनके स्नेह की धारा का प्रवाह मेरे मन को छू चुका था। स्नेह की यह सरिता बाबू जी के पास से धारा-प्रवाह होकर बहती ही रहती थी। न जाने कितना गम्भीर था वह अजस्र स्रोत जो इतनी आत्मीयता, अनुकम्पा और सद्भाव का उद्गम बना उनकी दूबरी देह के किसी कोने में छिपा था। उसके माधुर्य का, उसकी शीतलता का अनुभव मेरे जैसे अनेक कृपा पात्रों को समय-समय पर होता रहता था।

पूज्य वर्णी जी के अवसान के कुछ समय पूर्व रक्षा-बन्धन के दिन की बात है। मैं सकुटुम्ब ईसरी में था। बाबू जी पहिले से वहाँ बाबा जी की सेवा में संलग्न थे। बच्चों ने सावन का पर्व मनाया और बिटिया की एक राखी मेरी कलाई तक पहुँच गई। हम सब मगन थे पर मेरी पत्नी कुछ न्यूनता का अनुभव कर रही थी। बाबू जी की अनुभवी दृष्टि से उसकी वह उदासी छिपी न रह सकी और एक प्यार भरा आदेश देकर तत्काल उन्होंने मेरी पत्नी से न केवल राखी बंधवाई वरन् उचित सम्बोधन देकर उसकी अनमनस्कता भी दो ही क्षण में दूर करदी। एक बार भाई अमरचन्द सतना आ रहे थे। उनके हाथ बाबू जी ने हम लोगों के लिये कलकत्ता से कुछ आम भेजे। बताया गया कि बड़ी रुचि पूर्वक दो तीन प्रकार के आम स्वयं पसन्द करके उन्होंने खरीदे थे और न केवल उन आमों के नाम वरन् उनके पकने के हिसाब से उन्हें उपयोग में लाने के लिये दिन तथा तारीखों तक की हिदायत उनके

बयाना जैन समाज को बाबूजी का अपूर्व सहयोग

कपूरचन्द्र नरपत्येला

सन् १९२८ ई० में बयाना जैन समाज दिनांक ६-१२-२८ से ९-१२-२८ तक "रथोत्सव मेला" करने की भरतपुर सरकार से स्वीकृति प्राप्त कर चुका था। मेले की समस्त तैयारियाँ बड़े समारोह और धूमधाम से की जा चुकी थीं। किन्तु समाज विरोधी तत्वों के कारण इसमें सफलता नहीं मिल सकी थी।

मेला न होने से हमारी पाँवों तले जमीन खिसक गई। हम किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये। हमारा समस्त उत्साह एक उफान की तरह थोड़ी ही देर में ठंडा हो गया। हमें चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। हमारे लिये अपने इस घोर अपमान को बर्दाश्त करना असह्य हो गया और इसलिये तत्काल ही हमने रथोत्सव न होने देने वाली घटना को धर्म और समाज पर कलंक लगना समझ कर मुकदमा लड़ने का निश्चय कर लिया। लेकिन मुकदमा दायर करने के पश्चात् हमें मालूम पड़ा कि हमारी परिस्थिति बड़ी ही कमजोर और दयनीय है। जैनेतर समाज के सन्मुख सफलता मिलना आकाश कुसुम तोड़ना है। जैसे मुख के अन्दर बत्तीस दांतों से घिरी हुई जीभ रहती है उसी प्रकार हम भी उन के बीच में घिरे हुए थे। हम अपने कमजोर पैरों को देख कर बुरी तरह घबड़ा उठे। आखिर हमने समस्त जैन समाज के कर्णधारों से अपनी दुखभरी अपील की तथा समाज से सहयोग देने की माँग की। लेकिन बिगड़ी में कौन किसका साथी होता है। हमें कहीं से भी सहयोग न मिला। उस समय हमें जो मर्मान्तक पीड़ा हो रही थी उसे हम ही जान रहे थे। किन्तु अचानक ही डूबते को तिनके के सहारे के समान बंगाल-बिहार-उड़ीसा दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के मंत्री श्रीमान् बाबू छोटे लाल जी जैन कलकत्ता का तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन प्राप्त हुआ। इस आश्वासन के प्राप्त होते ही हम लोगों में उसी प्रकार शक्ति जागृत हो गई जैसे कि लक्ष्मण जी में विशल्या के स्पर्श से हुई थी।

अब क्या था हम श्रीमान् छोटेलालजी कलकत्ता के इस असाधारण बल और सहयोग को पाकर मुकदमा लड़ने में पूर्ण रूप से जुट पड़े। कलकत्ता और बयाना के बीच बड़ा फासला है। मगर बाबूजी ने इस फासले को मिटा दिया। उनके और हमारे बीच प्रति दिन तारों, पत्रों, रजिस्टर्ड पत्रों और पार्सलों एवं समाचार पत्रों द्वारा वार्तालाप होता था। हमें यही मालूम न पड़ा कि बाबूजी हमारे पास न होकर कलकत्ता में रह रहे हैं। आपने हमें यह पूर्ण विश्वास दिला दिया कि यह विपत्ति मानों हम पर न आकर स्वयं बाबूजी ही पर आई है।

हम अपने साथ ऐसे उदार-त्यागी-कर्मठ-सेवाभावी, परदुःखहर्ता, परम विद्वान, धर्मात्मा-कर्मवीर और महान उत्साही व्यक्ति को पाकर निहाल हो गये।

आपने इस मुकदमे के सम्बन्ध में हमें जो सहायता दी वह निम्न प्रकार है :—

१—दुःख और निराशा के भयंकर गर्त से हमें निकाल कर आपने समय समय पर हमारा उत्साह वर्द्धन किया एवं हमें अपनी अमूल्य सम्मति देते रहने की महान कृपा की।

२—आपने जैन एवं अजैन श्रीमानों, धीमानों, नेताओं, पदाधिकारियों, वकील-बैरिस्टरों और सम्पादकों से हमारा सम्बन्ध स्थापित कराकर उन्हें हमें सहयोग देने को बाध्य किया।

३—भरतपुर राज्य के दीवान साहब की सेवा में जैन-अजैनों की तरफ से काफी संख्या में स्थान स्थान से तार एवं महत्त्वपूर्ण पत्र भिजवाये।

४—हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के अनेकों पत्रों में आपने रथोत्सव को विरोधियों द्वारा रोके जाने पर इसके विरोध में अनेकों जैन-अजैन विद्वानों, नेताओं एवं पदाधिकारियों द्वारा लेखादि प्रकाशित कराये।

५—हिन्दू महासभा के कार्यकर्ताओं से सम्पर्क स्थापित करके आपने हमारे इस रथोत्सव के सम्बन्ध में एक महान महत्त्वपूर्ण और उपयोगी प्रस्ताव हिन्दू महासभा के सूरत अधिवेशन में पास कराया।

६—हजारों की संख्या में "बयाना कांड" नामक एक महान महत्त्वपूर्ण और सफलताप्रद ट्रैक्ट छपवाकर विरोधियों में बँटवाया।

७—भरतपुर राज्य के दीवान साहब से मिलने के लिये जैन समाज के श्रीमन्तों व विद्वान बैरिस्टरो का एक शिष्ट-मण्डल तैयार कराया।

८—हमारे इस मुकदमे सम्बन्धी समस्त कागजात श्रीमान् बाबू अजीतप्रसादजी वकील लखनऊ एवं विद्या वारिधि जैन दर्शन दिवाकर बैरिस्टर चम्पतरायजी साहब के पास भिजवाये। जिनको देखकर दोनों महानुभावों ने हमें मुकदमा लड़ने के बारे में उचित परामर्श दिया।

९—हजारों की संख्या में प्रभावशाली पैम्फलेट छपवाकर विरोधियों में समय समय पर वितरण करवाये।

१०—श्रीमान् बैरिस्टर चम्पतरायजी, श्री राम स्वरूपजी भारतीय एवं अन्य नेताओं के साथ स्वयं भरतपुर एवं बयाना आये और इस मुकदमे के सम्बन्ध में समस्त जानकारी प्राप्त की।

आपने हमारे यहाँ के रथोत्सव निकलवाने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किये व परिश्रम किया एवं हमें तन-मन-धन से जो सहयोग दिया वह कहने और लिखने में आने वाली बात नहीं है। समय समय पर आपके हमें अनेकों पत्र प्राप्त हुये जिनमें कुछ पत्रों का संक्षिप्त सार मैं इसलिये दे रहा हूँ कि लोग यह जान जांय कि आपका धर्म व समाज के प्रति कितना अगाध प्रेम व सेवा भाव था तथा मैंने ऊपर जो कुछ भी आपके विषय में लिखा है वह कहाँ तक उचित है।

दिनांक १९-२-२९ के पत्र में आपने हमें लिखा—"रथोत्सव स्थगित होने के मर्म भेदी समाचारों के बारे में मैंने आपसे आवश्यक बातें पूछीं थीं। निहायत खेद की बात है कि अभी तक आपका किसी प्रकार का उत्तर नहीं मिला है। कई पत्रों में लेख निकल चुके हैं और प्रयत्न करने से जैन जीवन पर यह घोर कलंक दूर हो सकता है।"

दिनांक २०-२-२९—"प्रताप कानपुर, जैन मित्र, कृष्ण सन्देश आदि आदि पत्रों में प्रथम लेख प्रकाशित कराया गया है। हम आपके सहयोग से और प्रबल आन्दोलन कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में कौन ऐसा जैनी होगा जिसका हृदय दुख से न भरा हो। इस राष्ट्रीयता और संगठनवाद के युग में जैन जनता पर यह अत्याचार दूर करने में यदि ढील की जायगी तो भारी अप्रभावना का कारण होगा। मामला केवल बयाना का नहीं किन्तु सारी भरतपुर स्टेट और अन्य द्वेष भरे स्थानों में जैन जाति के धार्मिक स्वत्व रक्षा से सम्बन्ध रखता है। यह कलंक बयाना के सिर पर न रहे-इसके लिये आप चिन्ताशील हैं यह जानकर सन्तोष है। इस सम्बन्ध में हम हर प्रकार की शक्ति भर सेवा करने को तैयार हैं।

दिनांक ६-३-२६—"मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हमारी कमेटी और हमारी समाज तन-मन-धन से इस कार्य में सहायता करने को तैयार है। आप लोग यहाँ का पूरा भरोसा रखें। साथ साथ आप लोग भी पूरी तरह कटिबद्ध रहें तो संसार की कोई भी शक्ति हमारी पवित्र यात्रा को नहीं रोक सकेगी। आप लोगों की राय पहिले जोर से आन्दोलन करने की नहीं थी और ठीक भी था, नहीं तो मैं इतने जोर से आन्दोलन को उठाता कि सारे भारत में हल चल मच जाती। हिन्दी-उर्दू अखबारों में तो खूब लिखा गया है, पर अभी अंग्रेजी अखबारों में मैंने कुछ भी नहीं लिखा है। आज बाबू अजीतप्रसादजी की राय मँगा रहा हूँ फिर जोरों से इसकी तैयारी की जायगी। दीवान साहब के पास अंग्रेजी की चिट्ठियाँ सारे भारतवर्ष से पहुँचाने का प्रबन्ध कर रहा हूँ। साथ ही साथ जहाँ जहाँ से ऐसी चिट्ठियाँ जायेंगी उनकी सूचना आपको भेज दी जायगी।"

दिनांक १७-३-२६—"हिन्दू नेताओं के पास जो पत्र भेजे गये है एक मेरी तरफ से दूसरा बाबू अजीतप्रसादजी की तरफ से। उनकी नकल कल आपको भेज दी जायगी। इनका जवाब आने से पत्रों में प्रकाशित किया जायगा और आपको सूचित कर दिया जायेगा।"

दिनांक २७-३-२६—"आज राय बहादुर सेठ चम्पालालजी, रामस्वरूपजी ब्यावर, रा० ब० सेठ टीकमचन्दजी सोनी अजमेर और सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर को पत्र लिख दिये गये हैं। हम इसी प्रयत्न की विशेष चेष्टा में हैं कि किसी तरह रथ यात्रा निकल जाय।

दिनांक १४-४-२६—हिन्दू नेताओं के पास पत्र भेजे गये थे। इनके फलस्वरूप हिन्दू महा सभा ने सूरत में एक मत से निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया है :—

'बयाना (भरतपुर) के सनातनी हिन्दू भाईयों ने जैनियों के रथोत्सव निकालने में जो विघ्न किया है उसको जानकर महासभा अपना खेद प्रकट करती है तथा देश में परस्पर प्रेम व संगठन की आवश्यकता देखकर बयाना के हिन्दू भाईयों से यह अनुरोध करती है कि वे जैनियों के रथोत्सव व अन्य धार्मिक कार्यों में किसी प्रकार का विरोध न डालकर हर तरह की सहानुभूति दिखावें। हिन्दू महासभा के मंत्री इस सम्बन्ध में उचित योजना करें।"

दिनांक ८-५-२६—"यहाँ मैं यह सूचना कर देना मुनासिब समझता हूँ कि हमें श्री १००८ जिनेन्द्र भगवान की सवारी निकालने का जन्मसिद्ध अधिकार है और उससे रंच मात्र भी हटना अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना होगा।"

दिनांक ६-६-२६—"अस्तु इस पत्र को आप तार समझ कर तुरन्त कुछ सज्जन शिमला पधारें। वहाँ आप लोगों को ठहरने आदि का कष्ट नहीं होगा। आशा है, आप लोग यह मौका और बैरिस्टर साहब का सहयोग नहीं चूकेंगे। सफलता की पूरी आशा है। केवल पत्रों से कुछ लाभ नहीं होगा। यही सूरत कामयाब होगी। विशेष क्या लिखें। आप लोग अवश्य रवाना होकर सूचना देवें।"

दिनांक ९-६-२९—"हिन्दू महासभा के प्रधान मंत्री ने दीवान साहब, जुडीशल सैक्रेटरी साहब और पुलिस सुपरि० साहब को जो खत रवाना किये हैं उनकी नकल आपकी सेवा मे भेजी जाती है। हमारी सम्मति में अब अच्छे मजमून की दरख्वास्त बनवाकर मुहुर्त सुदवाकर रथोत्सब की आज्ञार्थ पुनः राज्य से निवेदन करने का समय आ गया है। आप मसौदा दरख्वास्त का माननीय विद्यावारिधि जैन दर्शन दिवाकर बैरिस्टर चम्पतराय जी से बनवाइयेगा और हिन्दू महासभा के मंत्री जी के पत्र की नकल भी उनके पास भेज दीजियेगा। अच्छा हो यदि आप साहब में से एक योग्य सज्जन जरूरी कागजात लेजाकर उनसे मसविदा बनवा लें।

इस सम्बन्ध में आप शीघ्र कार्यवाही करें और हमें तुरन्त अपने विचार से सूचित करें।"

दिनांक १०-८-२९—"कृपा कर २७ तारीख तक रोजाना एक लिफाफा भेजते रहिये, जिसमें नित्य का समाचार मालूम होता रहे। यहां इंगलिश का बंगाली एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र है। सरकार भी इस पत्र का ख्याल करती है। इसमें बयाने के सम्बन्ध में लेख छपा है। सम्पादक ने भी टिप्पणी लिखी है। सो आपके पास भेजते हैं।

१५ तारीख के लीडर ने भी इस सम्बन्ध में "जैनियों का दुःख" शीर्षक सम्बाद छापा है।"

दिनांक १७-८-२९—"आज बुक पोस्ट से २५ व अनरजिस्टर्ड पार्सल से १०० ट्रैक्ट रवाना किये जाते हैं। खास खास विरोधियों के घरों में, दूकानों में जहाँ मिले जल्दी से जल्दी पहुँचा दें।"

दिनांक २०-८-२९—"२०० कापियाँ कल दिन रजिस्टर्ड पार्सल से और भेजी हैं। हमने काफी संख्या में छपाई हैं, सो अच्छी तरह बांटियेगा। एक भी विरोधी ऐसा न रहना चाहिये जिस तक इसकी प्रति न पहुँचे।"

दिनांक २२-८-२९—"आज बुक पोस्ट से २०० विज्ञापन भेजे हैं। ट्रैक्ट आपने बँटवा दिये होंगे। न बँटवाये हों तो तुरन्त बँटवा दीजिये और उनके बँट जाने के १०-१२ घन्टे बाद यह नोटिस भी जरूर जरूर भिजवा दें।

प्रसिद्ध पत्र इंगलिश मैन ने भी हाल छापा है। कटिंग भेजते हैं।"

दिनांक २६-८-२९—"नजीरें दिखाने के लिये हमने एक स्थानीय बैरिस्टर से तय कर लिया है, आपको लिखेंगे। जो लोग विरोध को पहुँचे हों वे वे ही होने चाहियें जो समय समय पर आपको धमकी देते रहे होंगे और जिनसे अपने को खतरा हो सकता है। सालभर इन लोगों की नेक चलनी के राज मुचलके ले ले, ऐसी दरख्वास्त फौजदारी अदालत में आपको कर देनी चाहिये।"

दिनांक ६-९-२९—"श्री चाँदकरणजी शारदा को पत्र डाल दिया गया है और आशा है उसमें भी अपने को सफलता मिलेगी।"

आपके सभी पत्र विस्तार के साथ लिखे हुये हैं। किन्तु मैंने तो केवल कुछ पत्रों की कुछ पंक्तियाँ ही देने का प्रयास किया है। आपके अदम्य उत्साह और अपार सहयोग को पाकर ही हमारी समाज की विजय हुई और शीघ्र ही हमारे यहाँ बड़े समारोह और धूमधाम के साथ जैन रथोत्सव मेला हुआ। बयाना जैन समाज आपकी चिर ऋणी है। आपकी स्मृति स्वरूप भारतवर्षीय जैन समाज की ओर से जो ग्रंथ निकाला जा रहा है वास्तव में ही वे उसके अधिकारी थे।

बा० छोटेलाल जी और स्याद्वाद महाविद्यालय

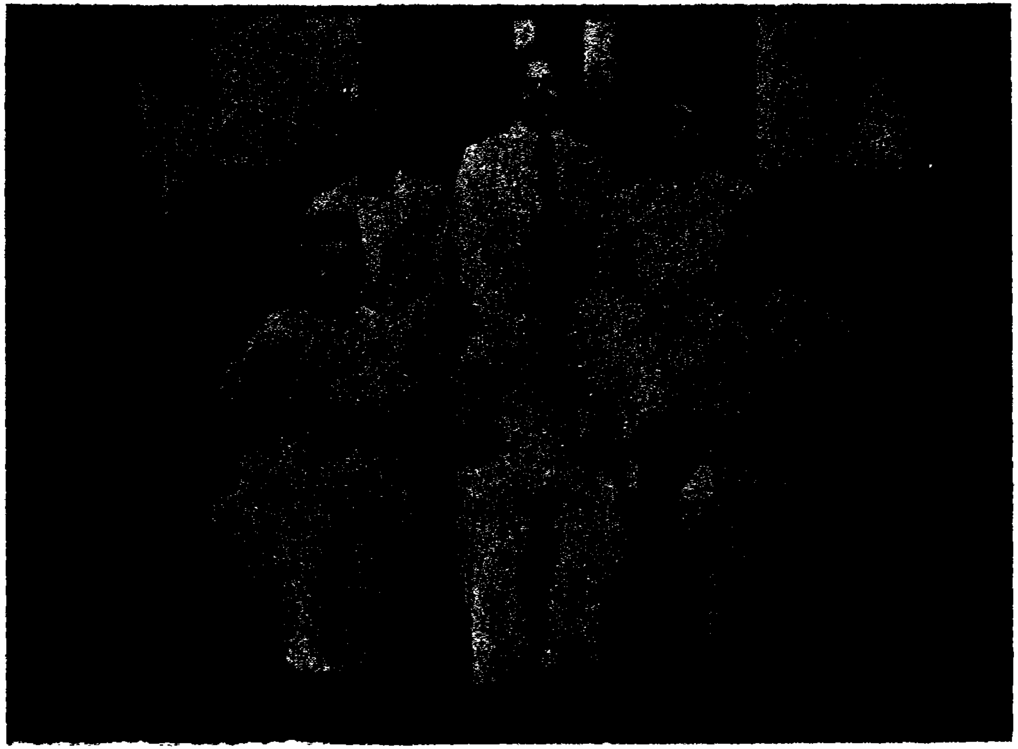
कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

बाबू छोटेलालजी के पिता सेठ रामजीवनजी सरावगी विद्वानों के बड़े प्रेमी थे। उनका स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी पर असीम अनुराग था। मेरे विद्यार्थी जीवन काल में विद्यालय के छात्र संस्कृत की परीक्षा देने प्रति वर्ष कलकत्ता आते थे। उस समय सेठजी सब छात्रों को अपने घर पर आमंत्रित करके आतिथ्य सत्कार करते और उन्हें कलकत्ता घूमने के लिये अपनी घोड़ा गाड़ी दे देते थे। जब उनका स्वर्गवास हुआ तो उन्होंने पांच हजार रुपया स्याद्वाद महाविद्यालय को प्रदान किया।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनके सुपुत्रों का विशेषतः बाबू छोटेलालजी का जीवन के अंतिम क्षण तक इस विद्यालय पर वही अनुराग रहा जैसा कि उनके स्वर्गीय पिताजी का था। उनके द्वारा बांधी गई ५) मासिक की सहायता प्रति वर्ष बराबर आती है। इसे आते हुए आधी शताब्दी बीत चुकी है।

जब इनके एक भाई सेठ गुलजारीलालजी बीमार हुए तो बाबू छोटेलालजी की प्रेरणा से उन्होंने स्याद्वाद विद्यालय को २५०००) रुपया प्रदान किया था। उसी तरह दूसरे भाई सेठ दीनानाथजी ने बाबू छोटेलालजी की प्रेरणा से १५०००) विद्यालय को प्रदान किया था। ये तो मुख्य दान हैं। समय समय पर हजार दो हजार का दान तो कितनी ही बार इस परिवार से मिलता रहा है। अतः स्याद्वाद महाविद्यालय स्वर्गीय सेठ रामजीवनदासजी और उनके कुटुम्ब का बड़ा ऋणी है। दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी के बाद विद्यालय को दान देने वालों में दूसरा नम्बर इसी परिवार का है।

विद्यालय को कार्य करते हुए पचास वर्ष पूर्ण होने पर जब स्वर्णजयन्तीमहोत्सव मनाने का विचार मैंने बाबू छोटेलालजी पर प्रकट किया तो वे प्रसन्नता से तत्काल सहमत हो गये और कलकत्ता में मेरे साथ घर घर घूमकर उन्होंने लगभग पच्चीस हजार का चन्दा कराया। साहू शान्तिप्रसादजी, सेठ गजराजजी, सेठ मिश्रीलालजी काला आदि को प्रेरणा दी और सम्मेद शिखर पर पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीजी की छत्र छाया में विद्यालय का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव शान से हुआ तथा विद्यालय को एक लाख से भी अधिक रुपयों की सहायता प्राप्त हुई। उस महोत्सव के स्वागत मंत्री बाबू छोटेलालजी ही थे। स्वास्थ्य के अत्यन्त खराब व कमजोर होते हुए भी उन्होंने जो शीत ऋतु में रात दिन श्रम किया उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ। हाड़ चाम के सूखे से कलेवर में ऐसी दृढ़ निश्चयी, विद्या और साहित्य की प्रेमी आत्मा का आवास देखकर मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता था। बाबू छोटेलालजी जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है। प्रशंसा-आकांक्षा से सर्वथा दूर रहकर कार्य करना उनकी विशेषता थी। कहावत है–'गुण ना हिरानो गुणगाहक हिरानो है।' किन्तु बाबू छोटेलालजी सच्चे गुणग्राही थे। ऐसे आदरणीय व्यक्तित्व का सम्मान करने वाले स्वयं सम्मानित होते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। ●



बाबू छोटेलाल जी जैन (बांये); श्री शिवराम मूर्ति डाईरेक्टर जनरलआर्चालोजिकल डिपार्टमेन्ट (बीच में) तथा श्री टी. एन. रामचन्द्रन (दाएं) के साथ

बाबूजी की मधुर स्मृतियां

स्वामी सत्यभक्त

करीब तेतीस वर्ष पुरानी बात है। मैं उन दिनों बम्बई में रहता था और सुबह तारदेव से चौपाटी घूमने जाया करता था। वहीं सेठ ताराचन्द जी का बंगला था। सेठ ताराचन्दजी मेरे हर आन्दोलन में सहयोगी रहे थे, और पीछे तो वे सत्य समाजी भी बन गये थे इसलिये उनसे काफी घनिष्ठता थी और इसी नाते कुछ समय उनसे गपशप भी हो जाया करती थी। एक दिन जब मैं उनके यहाँ गया तो वहाँ बाबू छोटेलालजी भी बैठे थे। एक दूसरे का परोक्ष परिचय तो था ही, एकाध बार मिलना भी हो गया था, पर निकट परिचय का यह पहिला ही अवसर था। बाबू छोटेलालजी ने कुछ प्रश्न पूछे। मैंने कहा-एक जैन पंडित की हैसियत से प्रचलित मान्यता के अनुसार उत्तर दूँ या मेरा जो स्वतंत्र चिन्तन है उसके अनुसार उत्तर दूँ। आपने कहा—प्रचलित मान्यता के अनुसार तो उत्तर बहुत सुन चुका हूँ आपका स्वतंत्र चिन्तन ही सुनना चाहता हूँ।

इसके बाद सर्वज्ञता, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, जैन धर्म की प्राचीनता, जैन पुराणों का रूप आदि पर कई घंटे चर्चा होती रही और मैंने अपने विचार निःसंकोच भाव से रक्खे। चर्चा के उपसंहार में वे बोले-आपके पास ऐसे असाधारण विचारों का खजाना है पर आपने उसे छिपा क्यों रक्खा है?

मैंने कहा-ये विचार जैन समाज के लिये इतने क्रान्तिकारी हैं कि इनसे सारे समाज में तहलका मच जायगा। जैन समाज-खासकर जैन पंडित-मुझ पर टूट पड़ेंगे। ऐसी अवस्था में मुझे सब का सामना करना पड़ेगा। इसलिये मैं अपने इन विचारों पर इतना मनन चिन्तन कर लेना चाहता हूँ कि जिससे मैं उनके सामने टिक सकूँ। इसलिये मैं इन पर पांच वर्ष और चिन्तन करना चाहता हूँ।

बाबूजी ने आश्चर्य से कहा—पांच वर्ष! यह तो बहुत लम्बा समय है। जीवन का क्या ठिकाना! आपके ये विचार आपके साथ ही समाप्त हो जायें तो यह तो समाज की बड़ी हानि होगी।

मैंने कहा—यह तो ठीक है। परन्तु आज तक जो भी आन्दोलन मैंने किये हैं वे तभी किये हैं जब अन्त तक समर्थन करने की क्षमता अपने में देखली है।

बाबूजी बोले—यह तो ठीक है। परन्तु कोई बात समाज में विचार करने के लिये पेश करने में क्या बुराई है! आप घोषित कर दें कि ये विचार मेरे निश्चित या अन्तिम विचार नहीं हैं किन्तु सत्य की खोज के लिये विचारणीय सामग्री के रूप में हैं। इन पर जो चर्चा होगी उसके आधार से निश्चित विचार बनेंगे' इस प्रकार की घोषणा करके आप अपने विचार समाज के सामने रखदें।

मैं कुछ देर सोचता रहा। स्वीकारता दूँ कि न दूँ इसी चिन्ता में रहा कि आपने फिर जोर दिया। अन्त में मैंने स्वीकारता देदी।

स्वीकारता कोरा शिष्टाचार न थी। उसके पीछे बड़ी भारी जिम्मेदारी थी। दिन रात की घोर तपस्या, जैन समाज में निन्दा और विरोध का तूफान, नौकरी से छुड़ाया जाना, जीविका की चिन्ता, बीमार पत्नी के साथ यह सब बोझ उठाना, इतना सब बबंडर उस स्वीकारता के पीछे था जो बाद में सब सहन करना पड़ा पर इससे जीवन निखर गया। जिस देवता के चरणों पर यह जीवन चढ़ना चाहिये था वहीं चढ़ गया, जीवन सफल हो गया।

अगर उस दिन बाबू छोटेलालजी से यह चर्चा न होती और उन्होंने मुझ से स्वीकारता न लेली होती

तो भी सत्यसमाज स्थापित होता, क्योंकि सन् २४ में ही इस प्रकार का संकल्प अपनी डायरी में लिखा था परन्तु उसमें पांच वर्ष की और कदाचित दस वर्ष की देर होती और इस समय भेद से कौन कौन सी घटनाएँ घटती कह नहीं सकता। हां! इतनी बात तो निश्चित है कि सत्य साधना की तपस्या के लिये इतने वर्ष कम मिले होते। और इसका हिसाब जब मैं आज देखता हूँ तब सत्य साधना की शीघ्रता के लिये बाबू छोटेलालजी ने जो प्रेरणा दी उसका मूल्यांकन बहुत ऊँचा होता है।

उस समय न उन्हें पता था, न स्पष्ट रूप में मुझे पता था कि इसका पर्यवसान सत्य समाज की स्थापना में होगा। पर उनकी प्रेरणा अमोघ साबित हुई। उनके जीवन के अनेक पुण्य कार्यों में यह भी एक महान पुण्य का कार्य था।

पवित्रतम दान

इस देश में लाखों दानी पड़े हैं और वे लाखों रुपयों का दान करते हैं। परन्तु अधिकांश दान किसी न किसी तरह कलंकित रहते हैं। कोई दानी अपने नगर में ही दान करते हैं और दान की हुई सम्पत्ति के पूर्ण संचालक बने रहकर उस दान के ठीक उपयोग में बाधक बने रहते हैं। कोई सिर्फ मान प्रतिष्ठा खरीदने के लिये दान करते हैं, अर्थात् प्रतिष्ठा का मूल्य चुकाते है। कोई कोई तो ऐसे होते हैं कि उनकी मान प्रतिष्ठा में कुछ कमी रह जाय तो दान की रकम रोक लेते हैं। कोई दान की उपयोगिता का विचार ही नहीं करते जहाँ अधिक वाहवाही मिलती हो वहीं दान देते हैं। कोई भिक्षुओं के अनुरोध से विवश होकर दान देते हैं। इस प्रकार दान में नाना तरह की अपवित्रताएँ हैं। परन्तु बाबू छोटेलालजी के दान में ये अपवित्रताएँ कभी नहीं दिखाई दीं। उनके दान की ये विशेषताएँ थीं।

१—जनहित की उपयोगिता देखकर ही वे दान करते थे।

२—दान के लिये अनुरोध आग्रह आदि की अपेक्षा नहीं करते थे।

३—दान के लिये उन्हें अपने नगर आदि का मोह नहीं था। जहाँ भी कहीं जनसेवा की दृष्टि से उपयोगिता दिखती कि उनने शक्ति भर दान दिया।

४—दान को वे उपकार नहीं समझते थे किन्तु अधिक धन पैदा करने में जो थोड़ा बहुत पाप हो जाता है उसका प्रायश्चित समझते थे।

५—दान देने पर नाम प्रकट होना चाहिये, उनका चित्र निकलना चाहिये, उनकी तारीफ छपनी चाहिये, इस प्रकार का कोई भाव वे प्रकट नहीं करते थे।

ये विशेषताएँ बहुत कम दानियों में पाई जाती हैं। सत्याश्रम को उनसे बीस हजार से भी अधिक रुपयों का दान प्राप्त हुआ है। और यह सब बिना मांगे या बिना किसी प्रेरणा के हुआ है। दुर्भाग्य या सौभाग्य से मैं दान मांगने में बहुत कच्चा हूँ। साधारणतः सत्याश्रम के लिये कभी किसी से मांगा नहीं हूँ। फिर भी समय समय पर बिना मांगे ही बाबू छोटेलालजी से हजारों रुपया मिलता रहा है।

एक बार, सन् ४५ में, जब वे वर्धा आये तब दस हजार रुपये का ड्राफ्ट मेरे नाम का लेते आये। मैंने कहा—इतनी बड़ी रकम आप लायेंगे इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। बोले—आपके पत्रों की फीस भी तो नहीं है।

हो सकता है कि मेरे पत्रों से उन्हें कुछ आनन्द मिला हो, मन को सान्त्वना मिली हो, पर हर दिन दस पांच पत्र घसीटने वाला मैं हजारों पत्र लिख चुका हूँ, और उनमें भी अनेक पत्र वैसे महत्त्वपूर्ण रहे होंगे परन्तु इस तरह मेरे पत्रों की फीस चुकाने वाले कितने हैं। यह सब बाबू छोटेलालजी की असाधारण कृतज्ञता, उदारता, दानशीलता का परिणाम हैं। सचमुच उनकी दानशीलता पवित्रतम थी। जो उनसे कई गुणा दान करने वालों में भी

नहीं पाई जाती। यों उनका दान भी कम नहीं है। लाखों पर तो पहुँचा ही हुआ है।

उनके दान में एक विशेषता और थी कि दान देने पर फिर उस रकम से मोह नहीं रक्खा जाता न उस रकम को अपने उपयोग में लाया जाता है। या तो वह रकम जहां के लिये होती वहीं पहुँचा दी जाती, या अन्तन करके उसका ब्याज चालू कर दिया जाता। दान की यह ईमानदारी भी असाधारण है।

विनयशीलता

बाबू छोटेलालजी, श्रीमान थे दानी थे, साथ ही अच्छे विद्वान भी थे अंग्रेजी के लेखक भी थे। फिर भी उन्हें किसी बात का अभिमान नही था। आत्मगौरव का पूरा ध्यान रखते हुए भी वे बड़े विनीत थे। कई बार मेरे कलकत्ता आने पर बीमार रहने पर भी वे स्वागत के लिये स्टेशन पर आये। जब सत्याश्रम आये तब मैं बिदा करने के लिये स्टेशन तक साथ चलने लगा पर उनने किसी तरह न आने दिया। तांगे में इस तरह सामान जमा दिया कि मैं पहुँचने के लिये तांगे में बैठ भी न सकूँ। सभी के साथ उनका यथोचित विनीत व्यवहार था। इतने श्रीमान विद्वान और दानी होने पर भी उनकी ऐसी विनीतता असाधारण थी।

दैव टेढ़ा हो तो आदमी की चतुराई काम नहीं देती।
असंभव घटना भी तब संभव हो घट जाती है।

× × ×

मनुष्य झूँठ के साथ समझौता करके जीवन की कितनी सम्पदा नष्ट कर डालता है।

× × ×

विचार और व्यवहार में मतभेद होते हुए भी किसी पर श्रद्धा की जा सकती है।

× × ×

स्वेच्छा से ग्रहण किये हुए दुःख को ऐश्वर्य के समान भोगा जा सकता है।

× × ×

बहु परिग्रह के भीतर जीवन तुच्छ होने लगता है। दुःख दैन्य और अभाव में से गुजर कर मनुष्य का चरित्र महान और सत्य हो जाता है।

× × ×

संसार में अपने पराये का जो व्यवहार चल रहा है वह अर्थ हीन है। यहाँ न कोई अपना है न पराया। यह कोई नहीं जानता कि संसार के इस महा समुद्र के प्रवाह में पड़कर कौन कहाँ से बहता हुआ पास आ जाता है और कौन बहकर दूर चला जाता है।"

—बाबू जी की डायरी से

पुरातत्व प्रेमी बाबूजी

शारदा प्रसाद

सतना के श्री छोटेलाल मारवाड़ी का अपना पुश्तैनी घरोपा था। उनकी लडकी का विवाह कलकत्ता के श्री लालचन्द जैन के साथ हुआ। मैं अपने मोटर के व्यापार क्रम में बहुधा कलकत्ता जाया करता था और नाते के अपने पितामह के यहाँ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट में ठहरा करता था। समीप ही चित्तरंजन एवेन्यू में श्री लालचन्द का घर था। हर यात्रा में इनसे भेंट होती थी। इन्होंने ही अपने बड़े भाई बाबू छोटेलालजी जैन से भेंट करा दी।

पुरातत्व में उनकी विशेष अभिरुचि थी और मैं प्राचीन मूर्तियों का संग्रह कर ही रहा था। हर यात्रा में उनसे मिलने लगा। सम अभिरुचि के विषयों पर वार्तालाप होता था।

पुरातत्व प्रेमी के लिये कलकत्ता का जादूघर (संग्रहालय) तो एक तीर्थ स्वरूप ही है। हर यात्रा में मैं वहाँ जाने का अवसर निकालता ही था। एक बार बाबू छोटेलालजी मुझे अपने साथ वहाँ ले गये। उनका पूर्ण परिचय तत्कालीन सुपरिण्टेण्डेंट श्री एन० जी० मजुमदार से था। हम लोग उनसे मिले। मैंने अपने संग्रह की कुछ मूर्त्तियों के फोटो उन्हें दिखलाये। भरहुत के चक्कर को देखकर वे उछल पड़े। झुककर दोनों हाथ मेरे सामने पसार दिये। "भारत सरकार के पास इतना रुपया नहीं है कि इसको खरीद सके। मैं आपसे भिक्षा माँगता हूँ। मैंने उत्तर दिया, "मैंने तो इसे अपने लिये संग्रह किया है।" "तो आप बदला कर लीजिये। संग्रहालय में प्रदर्शित सब मूर्तियाँ आपने देखी हैं। गोदाम की भी देख लीजिये। इनमें से कोई भी दो आप ले लीजिये और यह हमें दे दीजिये।" उन्होंने कहा गोदाम देखने का अवसर चूकना तो अब उचित था ही नहीं। जाकर मैंने देखा वहाँ भी भरहुत की मूर्तियाँ रखी हैं। बहुत मूर्तियाँ थी गोदाम में। इन्हें प्रदर्शित करने का स्थान भवन में नहीं था। श्री मजुमदार साहब एक एक मूर्ति दिखला कर कहते थे आप यह ले लीजिये, यह ले लीजिये। मैंने कहा, "आप तो स्वयं ही स्वीकार कर रहे हैं कि आपके यहाँ संग्रहित किन्हीं दो मूर्तियों से मेरी मूर्त्ति श्रेष्ठ है।" "बाबू छोटेलालजी ने कहा, ये स्वयं प्रेमी हैं, देंगे नहीं।" तब श्री मजुमदार साहब ने अन्य प्रसंगों पर बातें कीं।

इसके पश्चात् बाबू साहब के दर्शन नहीं मिले पर श्री नीरज जैन से यह जानकर संतोष हुआ कि वे मुझे भूले नहीं।

उनके आकस्मिक देहावसान के कारण उनके पुनर्दर्शन की कामना यों ही रह गई। प्रभु से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शांति एवं सद्गति लाभ हो। ●

स्मरणाञ्जलि

प्रो० डॉ० राजाराम जैन M.A.Ph.D., आरा

नाम तो छुटपन से ही सुन रखा था किन्तु सन् १९५४ के नवम्बर या दिसम्बर मास में ज्ञानोदय (मासिक) का सहायक सम्पादक होकर जब कलकत्ते में रहने का सुअवसर मुझे मिला तब मैंने पूज्य बाबूजी के प्रत्यक्ष दर्शन किये थे। कलकत्ते जैसी विशाल, अत्यन्त व्यस्त एवं वैभवपूर्ण नगरी को देखने, नौकरी करने एवं रहने का यह मेरा सर्वप्रथम अवसर था। कलकत्ते की भीड़भाड़ में भी मैं अकेलेपन का अनुभव किया करता था। वहाँ के जीवन से ऊबकर मैं शीघ्र ही भागने की सोच रहा था कि सहसा ही मुझे बाबूजी के कलकत्ता निवास का स्मरण हो आया और अत्यन्त संकोच भाव से उनके घर बेलगछिया पहुँचा। कोठी की रौनक, अपनी दरिद्रता तथा एक रईस के सम्भावित उपेक्षा पूर्ण व्यवहार की कल्पना करके दस्तक देने का साहस न कर सका और दरवाजे से मैं वापिस लौटने को ही था कि बाबूजी किसी कार्यवश बाहर निकले और मुझे देख मेरा परिचय पूछने लगे। मेरी सामान्य जानकारी प्राप्त कर वे मुझे भीतर ले गये और सर्वप्रथम भोजन करने का आदेश दिया। मुझे स्वीकृति सूचक सिर हिलाने के अलावा और कोई चारा ही न रहा। वैसे मैं स्वभावतः ही संकोची हूँ, किन्तु उनकी आत्मीयता से मेरा सारा संकोच काफूर हो गया और तभी से मैं उन्हें 'बाबूजी' कहकर पुकारने लगा। कलकत्ते में उनके परिचय के बाद जो ५-६ माह रह सका, वह मात्र उनके स्नेह एवं प्रेम के कारण ही, अन्यथा मैं शायद ही वहाँ रह पाता। मैं क्या खाता हूँ, कहाँ खाता हूँ, कहाँ रहता हूँ, घर के लोग कहाँ हैं, आफिस से लौटकर बाकी समय का क्या उपयोग करता हूँ, क्या पढ़ा करता हूँ, आदि प्रश्न वे मुझ से करते और मेरे उत्तरों से यदि उन्हें सन्तोष नहीं होता तो तज्जन्य परेशानी उनके माथे से स्पष्ट झलकने लगती। मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि कलकत्ते जैसी स्वार्थपूर्ण नगरी में उन्होंने मुझे पितृवत् स्नेह, गुरुवत् ज्ञान और वयोवृद्ध होने के नाते पथ प्रदर्शन एवं आशीर्वाद दिया। साधनहीन जिज्ञासु नवयुवक के हृदय पर विजय प्राप्त करने के लिये और क्या चाहिये ?

सन् १९५५-५६ में जब मैं गवर्नमेण्ट कालेज शहडोल (विन्ध्यप्रदेश) में हिन्दी प्राध्यापक था तब मैं सोच रहा था कि स्थानान्तरित होने के बाद बाबूजी मुझे भूल चुके होंगे। अतः हमारा पत्र-व्यवहार बन्द हो गया। अचानक ही एक दिन देखता हूँ कि पोस्ट आफिस की कितनी ही सील मुहरों से ठुका-पिटा एक पत्र मुझे मिला। पढ़ने पर मैं शर्म से झुक गया। वह पत्र बाबूजी का था जिसमें मुझे हितैषितापूर्ण उलाहने एवं डांट-फटकार के बाद मेरी प्रगति आदि के सम्बन्ध में जानकारी चाही गई थी। समाज के उदीयमान नवयुवकों के प्रति ऐसा स्नेह था उनका। सुप्रसिद्ध सुभाषित ग्रन्थ वज्जालग्गं की यह उक्ति उनके ऊपर कितनी फबती है:—

दूरट्ठिया न दूरं सज्जणचित्ताणपुव्व मिलियाणं।
गयणट्ठिओ वि चन्दो सुणिव्वुइ कुणइ कुमुयाणं ॥
कत्तो उग्गमइ रवी कत्तो वियसन्ति पंकयवणाइं।
सुयणाण जत्थ नेहो न चलइ दूरट्ठियाणं पि ॥

सन् १९५६ से ६१ तक राजकीय प्राकृत शोध संस्थान वैशाली मुजफ्फरपुर के सेवाकाल में तो मेरा उनसे निरन्तर पत्र व्यवहार रहा और पिता एवं गुरु के समान सदैव ही मुझे उनका पथप्रदर्शन मिलता रहा, किन्तु मुझे इस बात का निरन्तर दुख बना रहा कि कई बार उनका आदेश मिलने पर भी मैं उनसे दूसरी बार भेंट न कर सका।

२८/२९-१२-६३ को जैन सिद्धान्त भवन की हीरक जयन्ती के अवसर पर आरा में पुनः उनसे भेंट हुई तो उनकी शारीरिक स्थिति देखकर अत्यन्त खिन्न हो उठा। वे स्वयं उससे परेशान थे। बोले– भाई, आप लोगों के आग्रह को न टाल सका, अतः असमर्थ होते हुए भी यहाँ जिस किसी प्रकार आ गया हूँ, अब सम्भवतः कलकत्ते से बाहर जाने का यही आखिरी अवसर होगा। नहीं कह सकता कि कब मैं जगत से बिदा हो जाऊँ। लम्बी सांस खींचने के सिवाय और कुछ न बोल सका। भाई बद्रीप्रसाद जी पटना आदि कई सज्जन वहाँ बैठे थे। वातावरण इतना गम्भीर हो उठा कि कोई भी प्रत्युत्तर में कुछ कह न सका।

आरा-प्रवास में वे श्री जैन बाला विश्राम में ठहरे थे। कलकत्ता वापिस लौटने के पूर्व मैं पुनः उनसे भेंट करने गया। बातचीत के दौरान मेरे शोध प्रबन्ध की बात छिड़ गई। महाकवि रइधू की रचनाओं के परिचय के प्रसंग में मैंने सचित्र "जसहर चरिउ (यशोधर चरित्र) की हस्तलिखित ग्रन्थ की चर्चा उनसे की। यह भी बताया कि साधनाभाव में मैं उसकी फोटो कापी भी नहीं करा सका हूँ। यह सुनकर वे बड़े चिन्तित हो गये। तुरन्त ही मुझे पटना चलने का आदेश दिया। यद्यपि तत्काल कार्य होना सम्भव न हुआ हफ्तों बाद थोड़ा सा हुआ, किन्तु मूल प्रेरणा उन्हीं की थी जो आज मेरे अध्ययन कर सकने लायक वह प्रति बन सकी।

फरवरी १९६५ में अचानक ही मुझे शान्ति-निकेतन (बंगाल) जाना पड़ा, तभी सोचा कि कलकत्ते में तीर्थस्वरूप पूज्य बाबूजी से भी भेंट करता चलूं। उनके घर पहुँचा तो मालूम पड़ा कि लगभग छह माह से उनकी स्थिति बहुत ही खराब है। हफ्तों से चारपाई से नीचे नहीं उतर सके हैं। उनके कमरे में प्रविष्ट हुआ तो देखा कि वे तकिये के बल पर झुके बैठे थे, प्रयास करने पर भी लगभग आधे घण्टे तक एक भी शब्द न बोल सके। जब कुछ ताकत आई तब कुशलवृत्त पूछने के बाद उनसे मेरे शोध-प्रबन्ध की चर्चा हुई। मैंने कुछ सूचनाएँ उनसे चाहीं। मेरी जिज्ञासा शान्त करने हेतु पता नहीं उनमें कहाँ से बल आ गया। वे तुरन्त ही पलंग से नीचे उतरे, बगल के कमरे से चाभियों का गुच्छा खोजा और अपने अध्ययन कक्ष में पहुँच कर आलमारी खोली एवं शोध पत्रिकाएँ, इतिहास ग्रन्थ, रिपोर्ट्स आदि एक के बाद एक निकालकर लगे मुझे सूचनाएं देने। मेरा ध्यान उपलब्ध सामग्री की ओर उतना अधिक न था जितना बाबूजी के अचानक प्राप्त शक्ति एवं उत्साह की ओर। वे बोले— "आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है? मैं भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं पुरातत्त्व का पुजारी हूँ। इनकी मैंने सतत् सेवा की है और इनकी सेवा के लिये ही मैं अभी कुछ समय और जीवित रहना चाहता हूँ। मुझे यदि कोई अच्छा सहयोगी मिले तो मैं पुनः कुछ शोध-कार्य आरम्भ करना चाहता हूँ। साहित्य सेवा एवं पुरातत्त्वान्वेषण मेरे परम अभिरुचि के विषय हैं। इन कार्यों में डूबने से मेरी जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है।" वृद्धयुवा बाबूजी के जीवन का यह गूढ़ रहस्य मुझे उसी दिन ज्ञात हुआ। मैं अवाक् रह गया।

श्रद्धेय बाबूजी समाज, साहित्य एवं पुरातत्त्व की अमूल्य निधि थे। समाज में जब भी कोई आन्दोलन हुआ, संघर्ष छिड़ा, योजना बनी अथवा कहीं कोई अकाल आदि पड़ा, वे उसके अगुओं में रहते। सेवा की लगन ने उन्हें आराम हराम बना दिया था। नवयुवकों के वे सच्चे हितैषी थे। साप्तपदीन मैत्री का निर्वाह भी वे बड़े ही उत्तर-दायित्व के साथ करते थे। सरस्वती का वरदहस्त तो उन पर था ही, लक्ष्मी की भी अटूट कृपा उन पर थी। सरस्वती और लक्ष्मी का ऐसा अपूर्व समन्वय उन्हें मिला था। उनके भाग्य पर किसी को भी ईर्ष्या हो सकती थी। वे सच्ची श्रद्धा के पात्र थे। उनकी पवित्र स्मृति में श्रद्धा के ये कुछ सुमन भेंट चढ़ा रहा हूँ।

मनीषी बाबू छोटेलालजी

(नेमीचंद पटोरिया M. A. L. L. B. कलकत्ता)

(१)

लक्ष्मी ने बर्षाई बिभूति,
पर उससे सदा उदास रहे।
उसमें वे बहके कभी नहीं,
उसके न कभी वे दास रहे॥

(२)

वाणी के थे वे कृपा—पुत्र,
उसके आराधन में निशि—दिन।
उसके पद पर सब चढ़ा दिया,
अर्जित धन, यश, यौवन, जीवन॥

(३)

उसके ही इंगित पर इनने,
ढूंढा अतीत का वह प्रवाह।
जिससे कि पुरातन चमक उठा,
इतिहास पा गया नई राह॥

(४)

इनके खोजे कुछ शिला लेख,
कुछ छिपी मूर्ति, कुछ ग्रंथ राज।
कुछ मंदिर, कुछ गिरि गुफाएं,
कहती अतीत—इतिहास आज॥

(५)

युग—युग तक इनकी खोजें ही,
गावेंगी इनका प्रचुर गान।
तन नश्वर, किन्तु अनश्वर है,
इनकी खोजों का यश—महान॥

(६)

कितनी संस्था को जन्म दिया,
कितनी संस्था को प्राण मिले।
कितनों को आश्रय मिला मधुर,
कितनों को निश्चय त्राण मिले॥

(७)

वात्सल्य अंग की स्वयं मूर्ति,
थे बड़े किन्तु कहते छोटे।
वे स्वर्ग गये हा! छोड़ हमें,
सम्मान कीर्ति वैभव रोते॥

बाबू जी

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

दिवंगत बाबू छोटेलाल जी जैन की गणना देश के प्रमुख समाज एवं साहित्य सेवियों में की जाती है। देश की विभिन्न संस्थाओं से उनका निकट सम्बन्ध था और उनके माध्यम से वे गत ५० वर्षों से देश, समाज एवं साहित्य सेवा में अनुबद्ध थे। सन् १९१७ में कलकत्ता में जब इन्फ्लुएंजा का भीषण प्रकोप हुआ तब उन्होंने पीड़ित व्यक्तियों को भोजन, औषधि आदि की व्यवस्था कर भरपूर सहायता की थी और यही सार्वजनिक सेवा में प्रवेश का सर्वप्रथम अवसर था। सन् १९४३ में बंगाल में जो भीषण अकाल पड़ा था और जिसने लाखों इन्सानों की जान ले ली थी उस समय बाबू जी ने सारे बंगाल में घूम घूम कर अकाल पीड़ितों की तन मन धन से जो सेवा की थी वह अविस्मरणीय रहेगी। इसी तरह पूर्वी पाकिस्तान के नोआखाली क्षेत्र में जब भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुये और मनुष्य मनुष्य का दुश्मन बन गया उस समय भी अपने जीवन का खतरा मोल लेकर वहाँ रिलीफ कैम्प खोले और सैकड़ों हिन्दुओं के जीवन की रक्षा की। कलकत्ता में हिन्दू मुसलिम दंगों के समय भी बाबू जी ने स्वयं पीड़ितों की प्रशंसनीय सेवा की। सरदार पटेल की अपील पर सोमनाथ मन्दिर के पुनरुद्धार के लिये कलकत्ता नगर के गनी ट्रेड एसोसिएशन द्वारा जो दो लाख की भारी रकम एकत्र हुई थी उसमें भी बाबू जी का पूरा सहयोग था।

सन् १९१७ में आप कांग्रेस के सक्रिय सदस्य बने और कांग्रेस के विशेष अधिवेशन पर आपने अखिल भारतीय जैन राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का कलकत्ता में अधिवेशन आमंत्रित किया। श्री बी० खापर्डे इस कांफ्रेंस के अध्यक्ष थे तथा लोकमान्य तिलक जैसे उच्च नेताओं ने इस में भाग लिया था। बाबूजी सी० आर० दास के अनुयायियों में से थे। इस कारण उन्हें काफी परेशानियां भी उठानी पड़ी थीं पर आपने कभी भी दास बाबू का साथ नहीं छोड़ा।

कलकत्ते के सम्पन्न जैन परिवार में आपका ७० वर्ष पूर्व जन्म हुआ और शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् आपका जीवन कारवां यात्रा की ओर बढ़ने लगा। अपने व्यापारिक कार्यों के पश्चात् जो भी समय आपको मिलता उसे आप समाज एवं देश सेवा में व्यतीत करने लगे। शनैः शनैः आप सेवा के क्षेत्र में अधिक तत्परता से बढ़ने लगे और कुछ समय पश्चात् आप पूरे समाज सेवी ही बन गये। आपका सारा जीवन ही देश एवं समाज सेवा में समाप्त हो गया। बाबू जी कितनी ही संस्थाओं के अध्यक्ष, मंत्री एवं ट्रस्टी थे। आप कलकत्ता जैन मन्दिर के ट्रस्टी, कार्त्तिक महोत्सव कमेटी एवं अ० भा० तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सक्रिय सदस्य जीवन के अन्त तक रहे। इससे पूर्व वे बंगाल बिहार उड़ीसा तीर्थ क्षेत्र कमेटी के मंत्री भी रहे। समाज के सभी सुधार आन्दोलनों एवं सम्मेलनों में आपका प्रमुख हाथ रहता था। समाज में बहुत से विकास कार्य आपके निर्देशन में चलते थे।

साहित्य एवं पुरातत्व के आप विशेष प्रेमी थे। देश की प्रमुख साहित्यिक संस्था वीर सेवा मन्दिर देहली के आप वर्षों से अध्यक्ष थे। अनेकान्त पत्र के संचालन में आपका प्रमुख हाथ था और वे उसके काफी समय तक सम्पादक भी रहे। रायल एशियाटिक सोसाइटी के आप सन् १९२१ से सम्मानित सदस्य थे। खण्डगिरी उदयगिरी के पुरातत्व महत्व को प्रकाश में लाने में आपका



बाबू जी (बाएँ सबसे पहले खड़े हुए) बंगलोर में जूओलोजिकल अफसरों की मीटिंग के पश्चात् लिये गये ग्रुप फोटो में (२७–६–५६)



बाबू जी महाबलिपुरम् में श्री टी. एन. रामचन्द्रन और आफिसर इन चार्ज टूरिस्ट सेन्टर मद्रास (महिला) के साथ (३–१–५६)



बाबू जी (दाएँ) कामहाबालिपुरम् में श्री टी. एन. रामचन्द्रन (बाएँ) तथा आफीसर इन चार्ज टूरिस्टर सेन्टर, मद्रास(बीचमें) के साथ एक और चित्र (३–१–५६)

विशेष हाथ था। पुरातत्त्व की खोज में आपने दक्षिण भारत के अतिरिक्त बिहार, उड़ीसा, बंगाल, राजस्थान आदि प्रदेशों में भ्रमण किया था और वहां से महत्त्वपूर्ण सामग्री खोज निकाली थी। आप की सर्व प्रथम पुस्तक 'कलकत्ता जैन मूर्ति यंत्र संग्रह' सन् १९२३ में प्रकाशित हुई। फिर जैन बिबिलियोग्राफी का प्रथम भाग सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ और दूसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने की स्थिति में था कि आपका स्वर्गवास हो गया। पुरातत्त्व एवं शिला लेखों के सम्बन्ध में आपने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक का संग्रह किया है जिसका प्रकाशन आवश्यक है। देश विदेश के विद्वानों को जैन साहित्य पर शोध कार्य में आप बराबर सहयोग देते रहते थे। डा० विन्टर निट्ज, डा० ग्वासिनव, श्री आर० डी० बनर्जी, रायबहादुर आर० पी० चन्द्रा, श्री एन० जी० मजूमदार, श्री के० एन० दीक्षित, अमूल्य चंद्र विद्याभूषण, डा० विभूतिभूषणदत्त, डा० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० एस० आर० बनर्जी आदि सैकड़ों विद्वानों ने आपसे जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व में पूरा सहयोग लिया था।

बाबू जी सदैव सफल व्यापारी रहे। एक लम्बे समय तक आप कलकत्ता की प्रसिद्ध गनी ट्रेड एसोसियेशन के प्रमुख सदस्य रहे। इस संस्था के आप वर्षों तक मंत्री एवं अध्यक्ष भी रहे। आपकी व्यावसायिक योग्यता देखकर बंगाल चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज तथा इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज ने अपनी ओर से आपको पंच (Arbitrator) नियुक्त किया।

इन सबके अतिरिक्त आप दानी, परोपकारी, एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता थे। आपने विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को सब मिला कर लाखों रुपये का दान दिया होगा। आपको समाज के नवयुवकों का बड़ा खयाल था। उन्हें मार्ग दर्शन देने तथा व्यवसाय धन्धे में लगाने में आप सतत् प्रयत्नशील रहते थे। कलकत्ते के बंगाली एवं जैनेतर समाज में भी आप विशेष प्रिय थे तथा वहां के प्रतिष्ठित साहित्य सेवियों एवं समाज सेवियों से आपका विशेष सम्बन्ध था।

आपका स्वास्थ्य आपका साथ नहीं देता था और बीमारी चाहे जब आपको परेशान करती रहती थी। अस्वस्थ रहने पर भी उत्साह एवं लगन के साथ आप समाज एवं देश की सेवा में व्यस्त रहते थे। ऐसे देश सेवी समाज सेवी, साहित्य सेवी, साधक एवं संस्कृति के अनन्य सेवक का स्मरण देश और समाज के लोगों को निश्चय ही प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करता है। उनके चरणों में श्रद्धा के ये कुछ पुष्प अर्पित हैं। ●

इस पृथ्वी के नीचे बहुत से ऐसे लोग गाड़े गये हैं जिनके अस्तित्व का कोई भी चिन्ह इस दुनियाँ में अब शेष नहीं है। नौशेरवां की वृद्ध लाश को जमीन ने ऐसा खाया कि उसकी एक हड्डी भी अब बाकी नहीं रही मगर उसका नाम आज भी जीवित है। यद्यपि और भी बहुत से मनुष्य इस पृथ्वी पर आये और मर गये। स्वयं नौशेरवां भी नहीं रहा। अत: ऐ मनुष्य, यह आवाज आने से पूर्व कि अमुक व्यक्ति मर गया नेकी कर और अपनी उम्र को गनीमत समझ।

—शेख सादी

एक सहज प्रेरक व्यक्तित्व

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

बाबू छोटेलालजी का व्यक्तित्व उस सरल, स्निग्ध एवं स्वच्छ चांदनी की भांति था जिसने अपने शीतल कर-निकरों से सहज ही भारतीय जन-मानस को आप्यायित किया है। जिस में मानस सी पवित्रता, ज्ञान-रश्मियों सी प्रखरता और हिम-सीकरों सी तरलता एवं दीप्ति थी और जो अपने लिए कुछ नहीं पर दूसरों के लिए सब कुछ थे। जिस ने अनेक बाधाओं को झेल कर अपना निर्माण किया और जो देश तथा समाज की सेवा में विकीर्ण हो गया। जो समाज एवं संस्कृति का सजीव विग्रह था। जिस में आत्मनिष्ठा, तत्परता-एवं लगन थी। ऐसे सत्य शोधक तथा अन्वेषक के रूप में त्यागमूर्ति बाबू छोटेलालजी का जीवन चित्र मेरे अन्तर्मन में उभर कर आता है।

सन् १९६१ की बात है। मई का महीना था। मैं शोध-कार्य के सिलसिले में दिल्ली गया था। तभी बाबूजी से मेरा प्रथम परिचय वीर सेवा मन्दिर के विशाल भवन में हुआ। मेरे कार्य और उत्साह को देख कर बाबूजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। और उससे मेरा मन भी आल्हादित हुआ कि समाज में अभी ऐसे सत्सेवी तथा पारखी विद्यमान हैं जो साहित्य एवं संस्कृति विषयक शोध कार्य की सराहना कर उसका वास्तविक मूल्यांकन करने वाले हैं। धीरे-धीरे मुझे यह भी पता चला कि बाबूजी भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं पुरातत्त्व आदि विषयों में केवल रुचि ही नहीं रखते वरन् स्वयं गम्भीर अध्ययन करते और अन्य विद्वानों को उसके लिए प्रेरित करते थे। यही नहीं, सभी प्रकार के आधुनिक साधन एवं तत्संबंधी सामग्री जुटाने और अन्य सहायता पहुँचाने में भी सक्रिय भाग लेते हैं। उनकी इस मूक लगन तथा सेवा से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। मैं क्या, मेरे जैसे अन्य नवयुवक आज देश, समाज तथा संस्कृति की सुरक्षा एवं उद्धार के लिए कई प्रकार की संविधाओं में कार्य करना चाहते हैं-पर उचित निर्देशन, पर्याप्त सामग्री का अभाव तथा किसी प्रकार का साहाय्य एवं प्रोत्साहन न मिलने के कारण उनका उत्साह बिखर जाता है। मुझे भलीभांति स्मरण है कि उन दिनों अस्वस्थ होने पर भी बाबूजी अध्ययन और मनन में अपना अधिक समय लगाते थे और केन्द्रीय पुस्तकालय का भरपूर उपयोग करते थे। मुझे भी उन से प्रेरणा प्राप्त हुई और ज्ञान-संवर्द्धन तथा विकास में बहुत कुछ योग मिला। मैं कई दिनों तक उन के साथ रहा। मैंने देखा कि वे भीतर और बाहर से समान है तथा विविध आधिव्याधियों से संत्रस्त रहने पर भी वे दूसरों की भलाई और सहायता के लिए तत्पर रहते हैं तथा विद्वानों की सहायता के लिए तो सभी प्रकार से प्रस्तुत रहते हैं। अतएव मेरे लौटने के आग्रह करने पर भी वे कुछ दिनों तक मुझे रोके रहे और अपने ज्ञान तथा अनुभवों का लाभ प्रदान करते रहे। उन्होंने मुझे एक यह सुझाव भी दिया कि मैं हिन्दी के साथ ही अंग्रेजी में भी लिखना आरंभ कर दूं, क्योंकि बंगाल तथा दक्षिण एवं अन्य देशों के विद्वान् जैन साहित्य के सम्बन्ध में नई जानकारी पाने के उत्कट अभिलाषी हैं पर हिन्दी न जानने से वे लोग इससे वञ्चित रहते हैं। बाबूजी का यह परमोपयोगी सुझाव आज भी मेरे हृदय पटल पर अंकित है और उसके लिए यह जन कृतज्ञ है।

यथार्थ में बाबूजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। आपने सरल तथा निश्छल भाव से समाज की जो

अनन्य सेवा की उससे लगभग अर्द्ध शताब्दी का दीर्घ काल परिव्याप्त है। आप का त्याग एवं उत्सर्ग अनुकरणीय तथा अभिनन्दनीय है। बहुत कम लोगों को यह पता है कि श्रवणबेलगोला में संस्थित गोमटेश्वर बाहुबलि की विशाल प्रतिमा के जीर्णोद्धार तथा दक्षिण भारत में स्थित जैन भण्डारों की ग्रन्थ-सूची तैयार कराने में बाबू छोटेलालजी का विशेष योगदान था। साहित्यसेवी तथा पुरातत्ववेत्ता के रूप में भी आप के कार्य उल्लेखनीय हैं। स्वयं सफल व्यापारी रहते हुए भी आपने जो साहित्य-रचना की वह महत्त्वपूर्ण एवं गौरवास्पद है। समाज, राष्ट्र एवं साहित्य सेवा जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में आप बराबर सहयोग देते रहे। इन सब रूपों में बाबूजी का अपना व्यक्तित्व था–किसी में कम और किसी में अधिक। किसी में कोमल तो किसी में कठोर। परन्तु इन सब से ऊपर उनका सहज प्रेरक व्यक्तित्व ही मेरे अन्तर्मन पर अपनी छाप छोड़ सका है और जो अमिट है।

जो भी स्नातक या विद्वान् बाबूजी के सम्पर्क में पहुँचता वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसका एक मात्र कारण था उनका सहज प्रेरक व्यक्तित्व। उनके उत्साह प्रदान एवं सत्प्रेरणा से आज समाज में अनुसन्धित्सुओं की संख्या वृद्धिगत होती जा रही है। वास्तविकता तो यह है कि जैनेतर विद्वानों में जैन-साहित्य के अनुशीलन एवं अनुसन्धान की जो रुचि जागृत हुई उसका अधिकांश श्रेय बाबूजी को था। वे सत्यनिष्ठ मूक आराधक की भांति स्वसंचालित सूत्र से ज्ञान-विज्ञान की आहुतियां का प्रक्षेपण करते रहे और उन्होंने फल प्राप्ति की कभी कामना तक नहीं की। ऐसे समाजसेवी बिरले ही होते हैं। भारतीय श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए आप ने समय समय पर अपनी सूझ–बूझ से समाज की अमित सेवा की। इतना ही नहीं, विदेशों को जैन–साहित्य सम्बन्धी अमूल्य सूचनाएं एवं-साहित्य प्रेषित कर आप ने उन शोध-वेत्ताओं को भी प्रेरित कर अपने सहज प्रेरक व्यक्तित्व को चरितार्थ किया। जिस ने अपनी सुरक्षा एवं प्रगति के चरणों को कई दिशाओं में गतिमान किया। ऐसे उदार व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

मैं दूसरों के दृष्टिकोण को भी उतना ही महत्व देता हूँ जितना कि अपने दृष्टिकोण को। —सर हेनरी फोर्ड

\+ + + +

हम इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करें कि हमारी मृत्यु के पश्चात् हमें दफनानेवाला भी दो बूंद आंसू बहा दे।

—पेट्रार्क

पुरातत्त्व वेत्ता श्री बाबू जी

पं० नन्हेलाल शास्त्री, राजाखेड़ा

संसार में भाग्यशाली पुरुषों को ही आकर्षक व्यक्तित्त्व प्राप्त होता है। हजारों व्यक्तियों में अपनी ओजस्वी वाणी, प्रतिभा और प्रामाणिकता के कारण जिस नररत्न का व्यक्तित्त्व चमकता हुआ नजर आता है वह मनुष्य विशिष्ट, पुण्यशाली और भाग्यवान ही नहीं बल्कि सबका आदर्श होता है।

श्रीमान बाबू छोटेलालजी अग्रवाल कलकत्ता से कौन परिचित नहीं है। आपका घराना कलकत्ता समाज में ही नही प्राय: सभी जैन समाज में प्रसिद्ध है। इस परिवार ने लाखों का दान धर्मायतनों एवं धर्म संस्थाओं को समय समय पर दिया है। बाबू छोटेलाल जी ने भी अपने हाथों से कई संस्थाओं को भरपूर दान देकर खूब ख्याति प्राप्त की थी। आप जैन समाज के प्रमुख स्तम्भ थे। मूक सेवा, निर्भीकता एवं अदम्य उत्साह आपके व्यक्तित्व की प्रधान विशेषतायें थीं। आपका व्यक्तित्व लोगों के मस्तिष्क को कम परन्तु हृदय को अधिक प्रभावित करता था।

धर्म या समाज के विषय मे कठिन से कठिन उलझनें उपस्थित होने पर उन्हें बड़ी कुशलता के साथ निबटा देने में आपकी प्रखर बुद्धि जो कार्य करती थी वह देखते ही बनती थी। किसी विचारे हुये विषय में बाधायें आपको निराश नही कर सकती थी। जिस कार्य को करना सोच लेते थे उसे करके छोड़ते थे।

जिज्ञासा प्रवृत्ति भी आप में कूट-कूट कर भरी हुई थी। आंखो देखी बात है। अनेक बार पर्यूषण पर्व में मे कलकत्ता गया। उस समय जहाँ भी मेरा या अन्य आगन्तुक विद्वानों का शास्त्र प्रवचन होता उसमे भाग लेना आपका सदा का कार्य रहता। आपको विद्वानों और धर्मात्मा पुरुषों से बहुत ही स्नेह था। उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखना, उनके सत्संग में अपना समय व्यतीत करना एवं उनके मान सम्मान का ध्यान रखना आप का स्वाभाविक कार्य था।

जैन संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आपने पुरातत्त्व विषयों की खोज की और उसमें अपना अमूल्य समय लगाया। शारीरिक दशा कमजोर होने पर भी आपने अपने गन्तव्य मार्ग को नहीं छोड़ा और अनेक विषयों में अच्छी सफलता प्राप्त की। समय समय पर आपके इस विषय के लेख समाचार पत्रों में निकलते रहते थे। वे इस कार्य के लिये सदा प्रयत्न शील रहते थे और अन्त तक रहे। आपकी इस लगन की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

अनेक दीन-दुखियों, निराश्रित प्राणियों एवं बहिनों को आर्थिक सहायता देकर अपने पैसे का सदुपयोग करना विरले जनों में ही होता है। बाबूजी की ऐसे कार्यों में भी दिलचस्पी थी। आपका हृदय बड़ा कोमल और दयालु था। यही कारण था कि अर्थविहीन दुखियों को दुख से विमुक्त करना आपका दैनिक कार्य था।

जैन समाज और धर्म की सेवा करने में आपने जीवन अर्पण कर दिया था। बाबूजी बड़े धैर्यवान पुरुष थे। जैन धर्म के उत्थान के लिये एवं पुरातत्त्व कार्यों की खोज और उन्हें प्रचार में लाने के लिये आपके प्रयत्न भुलाये नहीं जा सकते।

आपके इन गुणों एवं उनकी सामाजिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सेवाओ के लिये समाज उनकी जितनी कृतज्ञता ज्ञापन करे थोड़ी है।

आदर्श व्यक्तित्व के प्रतीक

विमल कुमार जैन सोंरया, मड़ावरा (झाँसी)

व्यक्ति के व्यक्तित्व पूर्ण कार्य ही उसके सम्मान के कारण होते हैं। श्रीमान् बाबू छोटेलालजी कलकत्ता अभिनन्दन से भी अधिक आदर और सम्मान के पात्र थे।

यद्यपि बाबूजी को मै निकट से नहीं के बराबर जानता था, लेकिन उनका आदर्शपूर्ण व्यक्तित्व, सच्ची कर्म निष्ठा, और व्यापक अध्यवसाय मुझे उनके अत्यंत समीप ला देता था।

बाबूजी ने जैन पुरातत्व को प्रकाश में लाने का सतत् प्रयत्न किया। एतदर्थ आपने देश के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण किया, और खण्डगिरी-उदयगिरि जैसे जैन संस्कृति से परिपूर्ण पुरातत्व स्थानों को प्रकाश में लाए। जैन संस्कृति के उत्थान में आपका जो सफल सहयोग रहा उसके कारण ही उनको पुरातत्व विशेषज्ञ के रूप में जानते हैं। अनेकों विद्वानों ने जैन साहित्य एवं पुरातत्व की खोज में आपसे इच्छित सहयोग पाकर विशेष सफलताएँ प्राप्त कीं। प्राचीन जैन संस्कृति के उत्थान में आपका सिद्धहस्त योग रहा।

आपका ध्येय पुराने साहित्य एवं संस्कृति की शोध, असहायों की सहायता, नवीन लेखकों एवं अन्वेषकों को प्रोत्साहन, आगन्तुकों को सत्परामर्श देना एवं सत्य का अन्वेषण करते रहना था।

"अनेकान्त" पत्रिका के संचालन एवं सम्पादन के गुरुतर कार्य को आपने अपनी सच्ची लगन एवं अथक-अध्यवसाय के द्वारा संचालन कर समाज जागृति में प्रशंसनीय योग दिया। अनेक संस्थाओं के गणमान्य पदाधिकारी होने के साथ ही आप "वीर सेवा मंदिर" जैसी उच्च कोटि की संस्था के वर्षों तक अध्यक्षीय पद पर रहकर उसको उन्नति के शिखर पर लेजाने वाले एक अनवरत साधक सिद्ध हुए।

आपकी प्रतिभा चहुमुखी थी। आपके द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में उठाए गए कदम अनुकरणीय है। सन् १६१७ में कलकत्ता में फैले भीषण इन्फ्लुयेन्जा के प्रकोप से पीड़ित व्यक्तियों, तथा १६४३ में बंगाल के भीषण अकाल में आपने तन मन और धन से जो उदारतापूर्ण सहायता एवं सेवा कार्य किया उसके लिए आज भी हजारों व्यक्ति आपकी गौरव गाथा गाते हैं।

नोआखाली के भीषण साम्प्रदायिक दंगे के समय आपने हिन्दुओं की जो सहायता की वह प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

आपका अपना निजी व्यक्तित्व था। कलकत्ते के एक सफल व्यवसायी होने के साथ ही आपने राजनैतिक क्षेत्र में काफी सम्पर्क रखा। 'रायल एसियाटिक' सोसायटी के सम्मानित सदस्य होने के साथ ही 'इन्डियन चेम्बर आफ कामर्स' जैसी व्यापारिक संस्थाओं की मनोनीत सदस्यता का पाना आपकी विशाल प्रतिभा का द्योतक है।

अन्वेषण के क्षेत्र में किए गए आपके कार्य आपकी कार्यक्षमता, श्रमशीलता और असाधारण सफलता के प्रतीक हैं। ऐसे साधक, पुरातत्व सेवी, एवं समाज हितैषी व्यक्ति की सेवाओं के कृतज्ञता स्वरूप जो भी श्रद्धांजलि अर्पित की जाय थोड़ी है।

तीन पुश्त का सम्पर्क

सुबोध कुमार जैन, आरा

तीन पुश्त का सम्पर्क और वह भी बिल्कुल निर्दोष रहे यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ? लेकिन श्रद्धेय बाबू छोटेलाल जी ने जिन्हें हम प्यार से चाचा जी कहते थे यह संभव कर दिखाया। हमारे प्रातः स्मरणीय पू० दादा जी, राजर्षि देव कुमार जी, जिस समय अत्यंत बीमारी की हालत में इलाज के लिये कलकत्ते पहुंचे, उस समय छोटेलालजी ने सपरिवार उनकी जो सेवाएं की उसे आज भी हमारे परिवार वाले याद करते हैं। हमारे पूज्य पिता जी, बा. निर्मलकुमार जी से भी इनकी मैत्री अत्यन्त घनिष्ठ और अनुकरणीय रही। मुझे भी उनका अत्यधिक प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त था।

श्री जैन बाला विश्राम आरा में उन्होंने स्वयं एवं उनकी प्रेरणा से उनके परिवार वालों ने प्रचुर मात्रा में धन लगाकर स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में अद्भुत योग दान दिया। अन्त तक वे बाला विश्राम की प्रबन्ध कारिणी समिति के अध्यक्ष थे और प्रति समय वे इस संस्था की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

आरा की दूसरी संस्था जिससे उनका अनुराग था और जो उनकी साहित्यिक रुचि का दिग्दर्शन कराती है—"श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा" है। कुछ समय पूर्व जब कि इस संस्था की हीरक जयंती बिहार के राज्य पाल की अध्यक्षता में मनाई गई थी, आप अस्वस्थ होते हुये भी उसमें शामिल हुये थे और सभी समारोहों में आपने सोत्साह भाग लिया था। इस महोत्सव की सफलता विषयक आप के उद्‌गार अभी तक मेरे कानो में गूंजते और उत्साह प्रदान करते हैं।

अपने परिवार और अपनी मित्र मंडली में उन्हें सदा आदर की दृष्टि से देखा जाता था। अपने सुख-दुख में लोग इनका सहयोग सहज में पा लेते थे। यह निश्चित रूप से कहा जासकता है कि इनके व्यक्तित्व से इनके परिवार की शान बढ़ी और सभी संस्था वाले इनका नाम अपनी संस्था में जोड़ने पर गौरव का अनुभव करते थे।

जैन वाङ्‌मय और पुरातत्त्व के शोध और प्रकाशन की आपकी जो लगन थी वह अनुकरणीय है। भगवान महावीर के उपदेशों के प्रचार की ऐसी लगन उन्हें थी कि हम युवकों को भी अपनी अकर्मण्यता पर झेंप आती है। वीर शासन जयन्ती का जो अविस्मरणीय उत्सव कलकत्ते में हुआ था, उसके पीछे एक मात्र इन्हीं की शक्ति और उत्साह कार्य करता था। मैंने अपनी आँखों उन्हें दिन-रात एक करते हुए देखा है।

ऐसे गुणी, प्रेमी, धर्म वत्सल सज्जन का गुणस्मरण जितना भी हो थोड़ा है। ऐसे व्यक्ति तो समाज के लिये, देश के लिये और देश के नवयुवकों के लिये जीते जागते उदाहरण होते हैं।

एक संस्मरण और उल्लेखनीय है। दिल्ली में कुछ वर्ष हुये एक ऐसा आयोजन किया गया था, जिसमें दिगम्बर जैनों की प्रमुख संस्थाओं में एकता के लिये बड़ा भारी प्रयास हुआ था। छोटेलालजी का रोल इस आयोजन में मैंने बहुत निकट से देखा था। क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि वहां एकत्र सैकड़ों व्यक्तियों में इनके जैसा ऐसा व्यक्ति भी हो जिसे दोनों ही ग्रुपों का विश्वास प्राप्त हो।

न जाने कैसे इस दुबले-पतले, कमजोर, बीमार व्यक्ति में इतनी कर्मठता विद्यमान थी।

हमारी कामना है कि पूज्य चाचा जी का जीवन हम लोगों को प्रकाश स्तम्भ की भांति सत्कार्यों के लिये प्रेरित करता रहे।

श्रद्धेय बाबू जी

सुरेन्द्र गोयल, आरा

दिनांक २८-१२-६२ का सुहावना प्रभात । मन्द मन्द सुरभित वायु जन-जीवन में प्राण का संचार कर रही थी । उस दिन मैं प्रातःकाल से ही बहुत प्रसन्न था क्योंकि जैन सिद्धान्त भवन आरा के पार्श्ववर्ती शान्तिनाथ मंदिर के विशाल प्राङ्गण में भवन की हीरक जयन्ती महोत्सव का आयोजन किया गया था । हीरक जयन्ती के सम्माननीय अतिथि थे बिहार के राज्यपाल श्री अनन्तशयनम आयंगार और स्वागताध्यक्ष के पद को सुशोभित कर रहे थे कलकत्ते के सुप्रसिद्ध रईस एवं पुरातत्त्वविद स्वनामधन्य श्रीमान बाबू छोटे लाल जी । मैंने उनका नाम तो पहले भी सुना था किन्तु दर्शन का अवसर आज ही प्राप्त हो रहा था । यह मेरे लिए एक महान सौभाग्य की बात थी । प्रथम झाँकी में ही मैं बाबू जी की ओर आकृष्ट हो गया । उनकी कृश काया सफेद धोती और कुरते में खूब फब रही थी । सिर पर रखी गोल टोपी उनकी रईसी की परिचायिका थी । अभी तक मुझे सिर्फ यही अवगत था कि आप एक धनी मानी रईस हैं, किन्तु आपकी प्रतिभा की झलक मैंने उक्त महोत्सव में ही देखी और मुझे लगा कि लक्ष्मी और सरस्वती का अद्भुत समन्वय यदि कहीं है तो बाबू छोटे लाल जी में । प्राचीन काल से ही यह लोकोक्ति चली आ रही है कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक साथ निवास नहीं करती, उनका समन्वय संभव नहीं । किन्तु बाबू छोटेलाल जी इसके अपवाद थे । जब वह व्यक्ति मंचपर अपने आसन से बोलने के लिए उठा तो मानों सरस्वती जिह्वा पर ही आकर बैठ गयी । आप लगातार अपना विद्वत्ता पूर्ण ओजस्वी भाषण देते रहे । सभी की आँखें इस सरस्वती के पुजारी पर टिकी रहीं । मैं तो मानों मुग्ध ही था । सबसे विशिष्ट बात यह थी कि बाबू जी उन दिनों अस्वस्थ थे । दमा ने उन्हें बुरी तरह पीडित कर रखा था और उनका पाँच मिनट बोलना भी कठिन था । किन्तु जब वे सभामंच से तारस्वर में अपना भाषण करते रहे तब कुछ निकट के लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा। कहा जाता है कि साहित्यचर्चा के समय वे व्याधि मुक्त हो जाते थे । ऐसी लगन थी उनमें साहित्य सेवा और चर्चा के प्रति ।

उसी अवसर पर एक दिन और मुझे अधिक निकट से उनके दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ । आप श्री जैन बाला विश्राम के विश्रान्ति भवन में ठहरे थे । मैं पूज्य गुरु देव डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के कार्य हेतु उनके पास गया था । मुझे स्वयं भी उनसे मिलने की तीव्र उत्कण्ठा थी । उसी समय उनसे वार्तालाप का सौभाग्य भी मुझे मिला । वार्तालाप के क्रम में मुझे ऐसा अवगत हुआ कि आप मानवता के प्रबल समर्थकों में से एक हैं । आप जैसे महानुभावों के बल पर ही आज जैन धर्म साहित्य, एवं संस्कृति को सर्वत्र गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो रहा है । आप अपनी रुग्ण शैय्या पर पड़े-पड़े भी जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व के अभ्युत्थान के बारे में सोचते रहते थे । जैन धर्म, आचार, संस्कृति एवं पुरातत्त्व संबंधी अधिकांश चर्चा प्राकृत भाषा में है । मैं प्राकृत भाषा का विद्यार्थी था अतः उनकी बातें मुझे बड़ी ही रुचिकर लग रहीं थीं ।

बाबू जी में केवल साहित्य प्रेम ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की प्रमुख प्रतीक सचाई, सहानुभूति एवं सहृदयता आदि भी कूट-कूट कर भरी

हुई थी। दीन व्यक्तियों का दुःख देखकर वे शीघ्र ही द्रवित हो जाते थे और वे उनकी सहायता हेतु सदा तैयार रहते थे। "जो रहीम दीनहि लखै दीनबन्धु सम होय" बाबू जी "दीनबन्धु सम" थे। 'दीनबन्धु सम' होने के कारण ही उन्होंने हमारे अग्रज के जरा से अनुरोध पर उनकी पूर्ण रूप से सफल सहायता की थी। जिसके लिए वे हमेशा उनके कृतज्ञ रहेंगे। ऐसे ही न जाने कितने बंधुओं की सहायता उन्होंने की होगी। किन्तु इस सम्बन्ध में विशिष्ट बात यह है कि सभा अथवा अन्य किसी व्यक्ति से वे अपनी सहायता की बात नहीं कहते थे। उनकी सहायता मूक होती थी जो उनके चरित्र का सबसे बड़ा गुण था। बाबू जी के माध्यम से जैन साहित्य की अनेक अप्रकाशित रचनाएं प्रकाश में आई हैं। वे हमेशा ही लेखकों और शोध कर्त्ताओं को प्रोत्साहित करते रहते थे। उनके व्यक्तित्व से कालिदास के ये श्लोक स्मरण हो आते हैं :—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघा विपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव॥
अनाकृष्टस्य विषयै विधांना पारदृश्वन :।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना॥

खेद है कि ऐसा महान् व्यक्ति, साहित्य-प्रेमी, समाज-सेवी, पुरातत्त्वविद्, एवं सरस्वती का अनन्यतम पुजारी आज हमारे बीच नहीं रहा। उनके छोड़े हुए कार्यों को आगे बढ़ाना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि है।

बात सोच कर मुंह से निकाल और लोगों के 'बस खत्म कर' कहने से पहले ही बोलना बंद कर दे। वाक् शक्ति के कारण ही मनुष्य पशु से श्रेष्ठ है, यदि तुम अच्छी बात नहीं करते तो तुमसे तो पशु ही भले।

\+ + + +

बिल्ली चूहे के पकड़ने में तो शेर है लेकिन चीते के सामने स्वयं चूहा बन जाती है।

—महात्मा शेख सादी

श्री बाबू छोटेलालजी-एक मूक सेवक

भंवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर

यह किसको पता था कि जिस महान व्यक्ति के लिए अभिनन्दन की तैयारियां की जा रही हैं—वह इन श्रद्धा सुमनों को ग्रहण करने से पूर्व ही हमारी आशाओं पर पानी फेर सदा के लिए हम से बिदा ले लेगा। जब छोटेलालजी ने सुना कि उनके अभिनन्दन की कोई योजना चल रही है तो उन्होंने इससे अपनी असहमति प्रकट की और कहा कि मुझ जैसे छोटे से आदमी के लिए ऐसा आयोजन उचित नहीं है। वे मूक सेवक थे—अतः उन्हें यह अभिनन्दन नहीं जचा और हुआ भी यही। वे चले गये बिना अभिनन्दन स्वीकार किये ही। अब तो यह अभिनन्दन ग्रंथ स्मृति ग्रंथ के स्वरूप में ही परिवर्तित हो गया है। सचमुच बाबूजी महान थे—उनकी सेवाएँ, उनके विचार और उनके आदर्श महान थे। वे कर्मठ और मिशनरी स्प्रिट से कार्य करने वाले एक लगन शील व्यक्ति थे। अपने कार्य कलापों से वे अपनी स्मृति को स्थायी बना गये हैं। उनके संस्मरण वास्तव में प्रेरणा-प्रद हैं।

श्री बाबू छोटेलालजी से मेरी भेंट सर्व प्रथम करीब १५-१६ वर्ष पूर्व हुई जब आप जयपुर पधारे थे और स्वास्थ्य लाभ के लिए यहाँ ठहरे थे। वैसे नाम पहले से सुना था-पर साक्षात्कार दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज में पूज्य गुरुवर्य पं० चैनसुख दासजी के समक्ष हुआ था। चर्चा चल रही थी कि जयपुर के विभिन्न स्थानों पर बिखरी पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का संकलन किया जाय। उनके विचारों से यही प्रेरणा मिल रही थी कि जो काम करना है-शीघ्र किया जाय, उसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए। अस्वस्थ होते हुए भी दूसरे दिन ही आमेर जाने का उन्होंने निश्चय किया। डा० सत्यप्रकाशजी—डाईरेक्टर पुरातत्त्व विभाग राजस्थान से उसी दिन संपर्क स्थापित किया और उन्हें साथ ले मैं एवं बाबूजी आमेर गये। करीब ५०० वर्ष कछवाहों का राज्य वहाँ रहा है। इस राज्य वंश के साथ जैनों का विशेष सम्पर्क रहने से यहाँ जैनों का भी अच्छा प्रभाव रहा है। आमेर में भट्टारकों की गद्दी थी। भट्टारकों में बहुत से विद्वान थे जिनने महत्वपूर्ण साहित्य संग्रह एवं रचनाएँ की थी। वहाँ का शास्त्र भंडार विशाल था। आमेर में कई विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ था। वहाँ के खण्डहरों में अतीत का वैभव छिपा पड़ा है।

हम लोगों ने करीब दो तीन घन्टे तक घूमकर कई स्थानों के चित्र लिए मगर हमारी ओर से यह आग्रह होते हुए भी कि आप की तबियत ठीक नहीं है, आप एक जगह बैठिए हम चित्र ले आते हैं बाबूजी हमारे साथ ही रहे। ऐसा लगता था जैसे उनमें बहुत जोश आ गया हैं। वे जरा भी थकान महसूस नहीं कर रहे थे। यह था उनका उत्साह, लगन और कार्य के प्रति निष्ठा। बीमारी का हर व्यक्ति ध्यान रखता है और धनाढ्य के यदि साधारण सर्दी जुकाम भी हो जाता है तो डाक्टरों का तांता लग जाता है, वह पलंग से भी नहीं उठता। पर बाबूजी इसके अपवाद थे। अपने शरीर और स्वास्थ्य की पर्वाह न करते हुए पुरातत्त्व सम्बन्धी शुष्क कार्य में इतनी लगन रखना सचमुच प्रशंसनीय है। बात यह है कि इसके महत्त्व को वे खूब समझते थे। जयपुर में ही नहीं, इसी कार्य के लिये वे सारे भारत में घूमे और काफी सामग्री का संकलन किया जो आज उनकी थाती है।

वीरवाणी में जयपुर के जैन दीवानों के सम्बन्ध में मैंने एक लेख माला चलाई थी। उन लेखों को पढने की उनकी बड़ी जिज्ञासा रहती थी। एक दो ग्रंक में तत्सम्बन्धी लेख यदि नहीं रहते तो फौरन बाबूजी का लम्बा चौडा पर प्रेरणास्पद पत्र ग्रा जाता कि लेख माला का क्रम क्यों टूट रहा हैं, क्यों नहीं जल्दी जल्दी सामग्री का संकलन किया जाकर प्रकाश में लाया जाता। उनके पत्रों ने सचमुच कई बार मुझे प्रेरणा ग्रौर स्फूर्ति प्रदान की है।

एक बार जब मैं किसी कार्यवश कलकत्ता गया तो ग्रापसे भी मिला उस वक्त वे ग्रस्वस्थ थे। कुशल मगल व स्वास्थ्य सम्बन्धी बातचीत मुश्किल से एक मिनट हुई होगी पर वह एक घन्टे का समय उनके प्रिय विषय पुरातत्त्व सम्बन्धी चर्चा में गया। रुग्ण शैय्या पर होते हुए भी वे स्वयं उठे, जो ग्रलबम दक्षिण के चित्रों का उन्होंने तैयार कराया था दिखाने लगे ग्रौर कहने लगे कि ग्रमुक २ स्थानों पर जाकर चित्र ग्रादि लेना बाकी है जल्दी ही जाने का विचार कर रहा हूँ। मैंने कहा—बाबू साहब ! पहले स्वास्थ्य लाभ कीजिए, फिर जाने की सोचना। उनने तत्काल उत्तर दिया कि यह रुग्ण शरीर ही मुझे प्रेरणा देता है। न जाने कब यह साथ छोड दे ग्रौर जो कुछ करना है वह यों ही रह जाय ? ग्रतः जितना जल्दी हो सके काम करना चाहिए। हल्की सी हंसी हंसते हुए पुनः कहा कि यह बीमारी मेरी सहचरी है, मुझे ग्रकेला नहीं छोडेगी—साथ लेकर ही जावेगी। सचमुच इस प्रकार का कर्मठ व्यक्ति होना बडा मुश्किल है। 'छोटे' शरीर 'छोटे' नाम ग्रौर कार्य उनके महान थे।

उनका साहित्यिकों के प्रति भी उतना ही प्रेम था जितना ग्रपने ग्रात्मीयजनों के प्रति। वे साहित्य ग्रौर साहित्यिकों की सेवार्थ सदा तत्पर रहते थे। किसी को पता तक नहीं कि साहित्य एवं ग्रन्य उपयोगी ग्रावश्यक कार्यों के लिए वे कितना मूकदान करते थे। उनका सदा यही कहना था कि मेरा नाम प्रकाश में लाने की ग्रावश्यकता नहीं, काम होना चाहिये। ग्रपने जयपुर प्रवास काल में स्थानीय कई संस्थाग्रों को ग्रार्थिक सहायतायें उन्होंने दी थी। बंगाल के प्रख्यात कार्यकर्त्ता श्री सी० ग्रार० दास के ग्राप सहयोगी रहे हैं। इस प्रकार लगभग ग्राधी शताब्दी तक जनता जनार्दन एवं साहित्य–पुरातत्त्व की जो सेवा ग्रापने की है–वह हमारे लिए ग्रादर्श है ग्रौर प्रेरणा देती है कि हम भी उनके पदचिन्हों पर चलें। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि है। ●

जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का परिपूर्ण शक्ति से निर्वाह करता है वह किसी भी देशभक्त से कम नहीं चाहे फिर वह धोबी, दर्जी अथवा भंगी ही क्यों न हो।

—श्री प्रकाश जी

बाबू जी की अमर सेवायें

सत्यधंर कुमार सेठी, उज्जैन

आदरणीय बाबू छोटेलालजी जैन जैसे तपः पूत सेवक का स्मृति ग्रंथ प्रकाशित करना जैन समाज के लिए गौरव की बात है। वास्तव में बाबू छोटेलालजी इसके योग्य थे। धनिक परिवार में जन्म लेने पर भी उनकी सेवायें विविध क्षेत्रों में रहीं। इसी लिए इस महान् सेवक की गणना देश के प्रमुख समाज, साहित्य और इतिहास सेवियों में की जाती है।

जगत में कई मानव जन्म लेते हैं और यों ही चले जाते हैं लेकिन कई ऐसे भी इस वसुंधरा पर अवतरित होते हैं, जो सेवा त्याग और सदाचार के बल पर इस वसुंधरा को पवित्र कर अमर बन जाते हैं। बाबू छोटेलालजी जैन की गणना भी यदि ऐसे व्यक्तियों में की जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

बाबूजी का जन्म एक धनिक परिवार में हुआ। कलकत्ते जैसे महानगर में उन्होंने अपने जीवन का बहु भाग व्यतीत किया। बाबूजी ने अपने जीवन का निर्माण इतना सुन्दर ढंग से किया था कि देखकर आश्चर्य होता था। मुझे उनके संसर्ग में आने का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका व्यवहार और उनके कार्य हमेशा मार्ग दर्शक के रूप में रहेंगे। उन्होंने वैभव का कभी गर्व नहीं किया और अपने आपको एक सेवक के रूप में देखा। आपके जीवन की कई घटनायें ऐसी हैं जो आज भी हम सबको प्रेरणा देती हैं। जैसे सन् १९१७ में कलकत्ता में इन्फ्लुएँजा के प्रकोप के समय की गई उनकी सेवाएं। यह प्रकोप बड़ा भीषण था। इससे पीड़ित व्यक्तियों का कष्ट आप देख नहीं सके। आपकी करुणा उमड़ पड़ी और वे संतप्त प्राणियों की सेवा के लिए आगे बढ़े। इसी तरह कलकत्ता में जब सन् १९४३ में भीषण अकाल पड़ा, जिसकी कहानी बड़ी लोमहर्षक रही है तो उसमें भी बाबूजी ने सेवा कार्य में बड़ी तत्परता दिखलाई और उन्होंने घर घर में घूम कर अकाल पीड़ितों की खोज की। और उनकी तन मन धन से सेवा करके ऐसा आदर्श उपस्थित किया जो कलकत्ते के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। बंगाल में नोआखाली का ऐतिहासिक दंगा हुआ और महात्मा गांधी को भी वहां तत्काल आना पड़ा। उस समय हमारे माननीय बाबू छोटेलालजी भी पीछे नहीं रहे। आप भीषण दंगे में वहाँ गये और बड़े साहस के साथ आपने वहाँ पर भ्रातृ भाव का प्रचार किया। इसी तरह कलकत्ते के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में भी आपने शेर की तरह निडर रह कर पीड़ितों की सेवायें की। बाबूजी के सार्वजनिक जीवन के ऐसे कई उदाहरण है।

सार्वजनिक क्षेत्र की तरह आपका सामाजिक और धार्मिक जीवन भी चमत्कृत रहा। प्रारंभ से ही आपके विचार रूढिवाद और संकीर्णता से दूर रहे। आपने सामाजिक क्रांतियों में साहस के साथ कदम बढ़ाया—विजातीय विवाह और विलायत यात्रा के आप प्रारंभ से ही समर्थक रहे। श्री धर्मचन्दजी सरावगी की विलायत यात्रा के विरोध के प्रसंग में आपने जो साहस दिखाया वह चिर स्मरणीय रहेगा।

सच कहा जाय तो बाबूजी सेवा के प्रतिबिंब और सादगी के प्रतीक थे। आपकी सेवाएं अमर रहेंगी और हमें सदा प्रेरणा देती रहेंगी।

बाबू जी का वीर सेवा मन्दिर को योगदान

प्रेमचन्द जैन, बी० ए०
सं० मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर

बाबू छोटेलाल जी जैन की गणना जैन समाज के उन प्रमुख साहित्य और समाज सेवियों में की जाती है, जिन्होंने निस्वार्थ भाव से राष्ट्र, धर्म और समाज की सेवा निर्भीकता और उत्साह के साथ की। गत पचास वर्षों में बाबूजी ने देश, समाज और साहित्य की जो सेवा की है वह चिरस्मरणीय रहेगी। आप अग्रवाल कुलावतंश सेठ रामजीवनदास सरावगी के पंचम पुत्र थे। आप अनेक संकटापन्न दशाओं में भी अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न कर सेवा के क्षेत्र में अग्रसर रहे। आपको जैन पुरातत्व, स्थापत्य और चित्रकला आदि से अधिक प्रेम था। जैन साहित्य के वे विशेषज्ञ थे। आप अनेक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व भी करते थे। उनमें वीर सेवा मन्दिर के तो आप प्राण ही थे। वे उसके अध्यक्ष और ग्रन्थमाला के संरक्षक थे। आप अकाल, रोग तथा आपत्काल में अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी जनता जनार्दन की सेवा करते थे। साधर्मी वात्सल्य की आप में कमी नहीं थी। अतिथि सत्कार के लिए आप प्रसिद्ध ही थे। आपको जैन साहित्य और इतिहास से इतना अनुराग था कि वे उसे अपनी बीमारी की अवस्था में भी कम नहीं कर सके-उसका कुछ न कुछ काम करते ही रहे। आप एक सुयोग्य लेखक थे। आपके कई महत्वपूर्ण लेख अनेकान्त आदिपत्रों में प्रकाशित हुये हैं। आप दानादि सत्कार्यों में अपने द्रव्य को लगाते रहते थे। आप एक सफल व्यापारी और अनुसन्धानकर्ता भी थे।

आपकी सेवाओं का क्षेत्र केवल जैन समाज तक ही सीमित नहीं था। वे सेवा को धर्म और कर्तव्य मानते थे और उसे निरपेक्ष भाव से करते थे। वे सेवा कार्य में इतने तन्मय हो जाते कि शरीर की अस्वस्थता का ध्यान भी नहीं रख पाते।

सन् १९४४ के अक्टूबर-नवम्बर में जब वीर शासन का अर्द्धशताब्दी महोत्सव कलकत्ता के कार्तिकीय मेले पर मनाने का निश्चय किया। गया तब आपने उसके लिये रात-दिन एक कर दिया। इतना अधिक परिश्रम किया कि उत्सव के सम्पन्न होते ही आपको अस्वस्थता ने आ घेरा, और आरोग्य प्राप्त करने के लिये कलकत्ता से बाहर कई महीनों का समय व्यतीत करना पड़ा। उनके विचारों में दृढ़ता और अदम्य उत्साह था जिससे वे सफलता प्राप्त किये बिना किसी भी कार्य को कभी नहीं छोड़ते थे।

वीर सेवा मन्दिर एक ऐतिहासिक संस्था है जिसके संस्थापक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार हैं। इस संस्था में शोध-खोज का कार्य होता है। जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्धों में अन्वेषण करने वाली यह एक प्रमुख प्राचीन संस्था है, जिसकी स्थापना सन् १९२७ में हुई थी। यह संस्था रजिस्टर्ड है। अब तक जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध में इसने बहुत-कुछ छान-बीन की है। परिणामस्वरूप बहुत से लुप्त और अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज होकर वे प्रकाश में आ चुके हैं। कितने ही आचार्यों के समय निर्णय में भी शोध-खोज हुई है। बाबूजी इस संस्था के मरणपर्यन्त अध्यक्ष रहे और उसकी प्रगति के निमित्त अनेक योजनाओं का निर्माण किया तथा सलाह मशविरा देते रहे। जब कभी ४-४, ५-५ महिने ठहर कर संस्था के संचालन एवं विकास में योगदान देते रहे। संस्था की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये बाबूजी सतत् प्रयत्नशील रहते थे और स्वयं तथा अपने इष्ट मित्रों को उचित प्रेरणा देकर बिल्डिंग, अनेकान्त मासिक और ग्रन्थ प्रकाशन के लिए समुचित आर्थिक सहयोग देते दिलाते रहते थे। इसी से मुख्तार साहब

ने सन् १९५३ में अनेकान्त में लिखा था कि-"बाबू छोटेलाल जी से यद्यपि आर्थिक सहायता अभी तक आठ हजार से ऊपर ही प्राप्त हुई है परन्तु आप संस्था के प्रधान हैं-प्राण हैं, और आपका सबसे बड़ा हाथ इस संस्था के संचालन में रहा है। संस्थापक सदा ही आपके सत्परामर्शों की अपेक्षा रखता आया है। संस्था को कितनी ही आर्थिक सहायता आपके निमित्त से तथा आपकी प्रेरणाओं से प्राप्त हुई है। आप सच्चे सक्रिय सहयोगी हैं और संस्था के विषय में आपके बहुत ही ऊंचे विचार है। हाल में आपने और आपके छोटे भाई नन्द लाल जी ने अपनी स्वर्गीया माताजी की ओर से वीर सेवा मन्दिर को एक जमीन दरियागंज देहली में अन्सारी रोड पर खरीदवा कर दी है। जिस पर बिल्डिग बनने के लिये समाज का सहयोग खास तौर से वांछनीय है।"

बाबूजी ने बिल्डिग के निर्माण में अच्छा सहयोग ही नहीं दिया किन्तु साहू शान्ति प्रसाद जी से उसके लिये अच्छी रकम भी दिलवाई। इतना ही नहीं अपनी शारीरिक अस्वस्थता का ध्यान न करते हुये भी ग्रीष्म ऋतु की चमचमाती और कड़कती धूप में बिल्डिग निर्माणार्थ इन्जीनियरों आदि से उन्होंने परामर्श किया और स्वयं बैठ कर इच्छानुसार निर्माण कार्य कराया। गर्मी की इस भीषण तपन में जबकि प्रायः सभी धनिक वर्ग ठंडे और शीतल स्थानों (मसूरी आदि) में जाते है तब बाबूजी उन धुपों में बिना किसी स्वार्थ के वीर सेवा मन्दिर के भवन निर्माण में दत्तचित्त रहे। आपकी यह महान सेवा सच्चे समाज सेवकों में सत्पथ प्रदर्शन का काम करती है। इससे पाठक बाबूजी का वीर सेवा मन्दिर के प्रति होने वाला सहज निस्वार्थ अनुराग तथा सेवा का मूल्य आंक सकते हैं। उनका यह महान सेवा कार्य यों ही भुलाया नहीं जा सकता। वह सच्चे सेवकों को प्रेरणादायक है, और रहेगा। वीर सेवा मन्दिर के कार्यों से समाज में जागृति और उत्साह का जो संवर्धन हुआ है, और जो शोध-खोज को प्रश्रय मिला है उस सबका श्रेय बाबूजी को ही प्राप्त है।

'अनेकान्त' में बाबूजी का सहयोग

वीर सेवा मन्दिर (समन्तभद्राश्रम) का मुखपत्र अनेकान्त है। उसका प्रकाशन सन् २९ में मुख्तार साहब ने करौल बाग दिल्ली से किया था। पत्र ने एक वर्ष के अल्प समय में ही अपनी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। यह एक शोध-पत्र है, जिसमें साहित्यिक ऐतिहासिक. दार्शनिक और तुलनात्मक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। एक वर्ष के पश्चात् अनेकान्त का प्रकाशन मकान की किल्लत और आर्थिक कठिनाई के कारण बन्द करना पड़ा। और समन्तभद्राश्रम को सरसावा ले जाना पड़ा। इसी बीच बाबू छोटेलालजी ने अनेकान्त का प्रकाशन बन्द हुआ जान कर मुख्तार साहब को एक पत्र लिखा था कि "मैं अनेकान्त के घाटे की कुल रकम ३६००) रुपया अपने पास से दे दूंगा, आप अनेकान्त का प्रकाशन स्थगित न करें, और अपने ऐतिहासिक कार्य में संलग्न रहें। मुझसे जितना भी बन सकेगा आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहूँगा।" परन्तु मुख्तार साहब उस समय सरसावा में सेवा मन्दिर की बिल्डिग का निर्माण करा रहे थे अतः उत्तर में लिखा -' कि मैं आपके इस सौजन्य के लिए आभारी हूं। अभी बिल्डिग के निर्माण कार्य में व्यस्त हूँ। उसके बाद अनेकान्त निकालने का प्रयत्न करूंगा।"

सन् १९४१ में अनेकान्त का पुनः प्रकाशन शुरू हो गया। यद्यपि उसे बीच में एक दो बार और भी आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ समय के लिए बन्द करना पड़ा। परन्तु बाद में वह पुनः चालू हो गया। सन १९५७ में आर्थिक कठिनाई के कारण अनेकान्त का प्रकाशन बन्द करना पड़ा; और वह ५ वर्ष तक बराबर बन्द रहा। बाद में कुछ मित्रों की प्रेरणा से बाबूजी ने आर्थिक सहयोग दिला कर सन् ६२ में प्रकाशित किया। तब से अब तक उसका बराबर प्रकाशन हो रहा है। बाबूजी

अनेकान्त के सम्पादक भी रहे हैं और लेखक भी. आपका अनेकान्त के ११वें वर्ष में 'उदयगिरि-खण्ड-गिरि परिचय' नाम का सचित्र लेख प्रकाशित हुआ है। आपकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ भी अनेकान्त में प्रकाशित हुई हैं। अनेकान्त के प्रकाशन में बाबूजी का बड़ा योगदान रहा है। वे उसकी आर्थिक कठिनाई को दूर करना चाहते थे और उसे बहुत ही उच्चकोटि का शोध-पत्र बनाना चाहते थे। अनेकान्त के प्रकाशन में उनका अन्त तक सहयोग रहा। उनका छोड़ा हुआ यह महान कार्य अब समाज के विद्वानों और धर्नीमानी सज्जनों के सक्रिय सहयोग से ही पूर्ण हो सकता है।

धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का समुद्धार

मूड़बिद्री के 'सिद्धान्त बसदि भण्डार, की धवलादि ग्रन्थों की ताड़पत्रीय प्रतियां जीर्ण-शीर्ण हो रही थी। बाबू छोटेलालजी के सतत् प्रयत्न से वे प्रतियां श्रीमान धर्मसाम्राज्य द्वारा दिल्ली लाई गई और उनका वीर सेवा मन्दिर की ओर से जीर्णोद्धार कार्य नेशनल आर्काईव्ज में कराया गया और मूडबद्री से उन ग्रन्थों का फोटो कार्य सम्पन्न किया गया। यह सब कार्य बाबू साहब के निर्देशानुसार उनके आर्थिक सहयोग से ही सम्पन्न हुवा है। जीर्णोद्धार का यह कार्य अत्यन्त आवश्यक था। इससे उन ग्रन्थो की आयु कई सौ वर्षों तक की और बढ़ गई है।

वीर सेवा मन्दिर-ग्रन्थ माला

वीर सेवा मन्दिर ग्रन्थमाला के प्रकाशन में भी बाबू साहब का पूर्ण सहयोग था। वे उसकी आर्थिक कठिनाई को दूर करने मे प्रयत्नशील रहे हैं। परिणामस्वरूप वहां से २०-२५ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। प्रकाशित ग्रन्थ बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और अनुसन्धानकर्ताओं के लिए उपयोगी है। संस्था को आर्थिक सहयोग के साथ समय-समय पर बाबूजी का उचित परामर्श भी मिलता रहा है। यह सब बाबूजी की सौजन्य और उदारता का ही परिणाम है।

जैन लक्षणावली (लक्षणात्मक जैन पारिभाषिक शब्दकोष) लक्षण संग्रह का यह कार्य लगभग दो सौ दिगम्बर और दो सौ श्वेताम्बर ग्रन्थों पर से हुआ है और उन्हें काल क्रम से दिया गया है। उस पर से लक्षण शब्दों के क्रमिक विकास का अच्छा परिज्ञान होता है, साथ ही उन उन ग्रन्थकर्ताओं के मौलिक, संगृहीत एवं अनुकरणात्मक लक्षणों का सही पता चल सकेगा। अधिकांश ग्रन्थकर्ताओं के समय सम्बन्ध में भी प्रस्तावना में विचार किया जायगा। इससे यह ग्रन्थ एक मौलिक कृति के रूप में प्रत्येक विद्वान, रिसर्च स्कॉलर, लाइब्रेरियों और स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बहुमूल्य सिद्ध होगा। स्वाध्यायी जनों को तो तत्व निर्णय में इससे विशेष सहायता मिलेगी। इस ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रायः तैयार है। इसके लिए बाबू साहब वर्षो तक निरन्तर प्रेरणा करते रहे। उन्होंने छपाई की व्यवस्था का भी प्रबन्ध कर दिया था। परन्तु वे अपनी अस्वस्थता के कारण दिल्ली नहीं आ सके। उनके आने पर ग्रन्थ प्रेस में दिया जाता। वे इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए बहुत ही उत्कंठित थे। खेद है कि उनकी यह अभिलाषा उनके जीवन काल में पूर्ण न हो सका। अब शीघ्र ही पूर्ण होगी ऐसी आशा है।

सेवा कार्य की महत्ता

वीर सेवा मन्दिर उनकी प्राणप्रिय संस्था थी। उसे अपने आर्थिक सहयोग के साथ अपने उच्च विचारों और कर्त्तव्य परायणता से संरक्षित तथा संचालित किया था। यह उनकी सबसे बड़ी देन है। अर्थ सहयोग प्राप्त हो सकता है, परन्तु हर समय संस्था की उन्नति का ध्यान और उपयुक्त योजनाओं द्वारा पल्लवित करने की बात अलग है। जीवन और धन का निःस्वार्थ उपयोग करना बड़ा कठिन है। ऐसे बिरले ही सेवक होते हैं जो जीवन को

धार्मिक या साहित्यिक सेवा कार्य में खपा देते हैं। वे निस्पृह मूक समाज सेवक थे। उनकी भावना बड़ी उच्चकोटि की थी। उन्होंने वीर सेवा मन्दिर के अतिरिक्त जैन बालाश्रम आरा, स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस को भी आर्थिक सहयोग स्वयं प्रदान किया और कराया है। इतने सभी कार्यों को करके भी बाबूजी ने कभी अपनी प्रसिद्धि नहीं चाही। यह सब कार्य उन्होंने निःस्पृह वृत्ति से सम्पन्न किये हैं। जब उनसे चित्रादि मांगने गये तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया। वे नामवरी से कोसों दूर भागते थे। उनकी यह निस्पृह वृत्ति उनके व्यक्तित्व की महत्ता का द्योतक है। बाबूजी दान को मात्र परिग्रह का प्रायश्चित्त मानते थे। परिग्रह में पापबुद्धि होनी है उसके प्रायश्चित्त की भावना का बराबर बना रहना उनके विवेक और अन्तर्मन का सूचक है। इस सम्बन्ध मे बाबू छोटेलालजी के सन् १९४१ के पत्र की निम्न पंक्तियां खास तौर से उल्लेखनीय हैं जो उन्होंने मुख्तार सा० के नाम लिखी थी। उससे उनकी मानसिक विचारधारा का सहज ही पता चल जाता है—

"आपने भाई फूलचन्द जी का चित्र मंगाया—सो मुख्तार साहब आप जानते हैं हम लोग नाम से सदा दूर रहे हैं। चित्र तो उनका लगना चाहिए जो दान करें। हम लोग तो मात्र परिग्रह का प्रायश्चित-अधूरा ही करते हैं, फिर भी जरा जरा सी सहायता देकर इतना बड़ा नाम करना पाप नहीं तो दम्भ अवश्य है। अस्तु क्षमा करें। आपको शायद याद होगा इन्हीं भाईसाहब को उत्साहित कर आराश्रम (जैन बाला विश्राम) को तीस हजार दिलवाये थे और उस सहायता के सम्बन्ध में आज तक मैंने पत्रों में जिक्र तक न होने दिया। वास्तव में दान वही है जो बिना किसी विज्ञापन के दिया जाता है। उसी सात्विक दान का फल लोक में उत्तम बतलाया गया है।"

वीर सेवा मन्दिर को बाबू छोटेलाल जी की देन बड़ी ही महत्वपूर्ण है और वह सदा इतिहास एवं साहित्य जगत में स्वर्णाक्षरों मे अंकित रहेगी। समाज बाबूजी की बहुमूल्य सेवाओं के प्रति कृतज्ञ रहेगा।

"संसार में क्यों इतनी खींचा तानी, बांधा-बांधी और भले बुरे का विवाद चलता है। क्यों मनुष्य अपने चारों ओर बहुत सी भूलों और वंचनाओं को जमा करके स्वेच्छा से अंधा बन रहा है। दारिद्रय का निष्ठुर दुःख, धर्म हीनता की गहरी ग्लानि और निर्बलता से उत्पन्न भीरुता में भी वह छलना और अभिमान का सामान ढूँढ लेता है।"

❀ ❀ ❀ ❀

अभागे आदमी की आवश्यकता आसानी से नहीं मिटती।

—बाबूजी की डायरी से

बाबू छोटेलाल जी और उनका व्यक्तित्व

श्री 'स्वतन्त्र' सूरत

लाल छोटा हो या बड़ा यदि वह गुदड़ी में छिपा है तब भी वह चमकता है। श्री बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता इसी तरह के लाल थे। उनका व्यक्तित्व समाज पर छाया रहता था। बाबूजी में अनेक विशेषतायें थी; वे किसी से मिलें या कोई उनसे मिले वह छोटा हो या बड़ा, रंक हो या राव, पर आप अपना प्रेम, वात्सल्य सौहार्द मिलने वाले पर उड़ेल देते थे। तब मिलने वाले को लगता था कि मानों बाबूजी हमारे ही परिवार के एक अनन्य सदस्य हैं।

बाबूजी पंथवाद की चाहार दीवारों, संकोच वृत्ति, सम्प्रदायवाद, कौमवाद, पदलिप्सा, इनसे बहुत ऊंचे उठे हुए थे। इतना ही नहीं, इन विषमताओं की गहरी खाई को पाटने का भरसक प्रयत्न समय-समय पर किया भी था। यह सत्य है कि आप नाम से पत्रकार नहीं थे पर मेरी दृष्टि में आप पत्रकारों के भी पत्रकार थे। अनेकान्त पत्र के तो आप संचालक, व्यवस्थापक एवं सम्पादक आदि सभी कुछ थे। हमारे समाज में अनेक पत्रकार हैं। जिनमें कुछ पत्रकार निकम्मे, भौंडे, स्वार्थी एवं अपात्र हैं और पत्रकारिता के नाते अपना उल्लू सीधा करते हैं। कुछ पत्रकार ऐसे हैं जो केवल अपनी मान प्रतिष्ठा ही चाहते हैं, जानते कुछ नहीं पर उनका नारा है कि हम ही सब कुछ हैं हम जैसा कोई सेवक हो ही नहीं सकता। उनका दुरभिमान बालू के पहाड़ पर खड़ा होकर ठहाका मारता है और सेवा के नाम पर खा कमा जाना उनका साधारण सा काम है। लेखक का मत है कि ऐसे पत्रकार हमारे बाबूजी से मार्गदर्शन लेकर अपने आप में पर्याप्त सुधार कर सकते हैं और पत्रकारिता में जो लगने वाले कलंक हैं उनसे वे सहज ही बच सकते हैं।

बाबूजी सन् १९४७ में सूरत आये थे। आपके साथ आपकी भतीजी भी थीं। आप मेरे लेखों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से तो जानते ही थे, सूरत आते ही आपने मुझे याद किया और मैं आपसे उसी समय मिलने गया। दुबला पतला इकहरा गौरांग शरीर, चश्मे द्वारा गहराई से झांकते हुये, हृदय में एक टीस दबाये, प्रसन्न मुद्रा, इस रूप में सर्वप्रथम मैंने बाबूजी के दर्शन किये थे।

यह सच है कि बाबूजी ने मुझे कभी नहीं देखा था और न मैंने बाबूजी को देखा था। मेरे आते ही बाबूजी ने कहा—आइये स्वतन्त्र जी! आजकल तो आप बहुत अच्छा लिख रहे हैं। मानव जीवन की गति में मोड़ देने के लिये आपके लेख बड़े उपयोगी हैं। मैंने विनम्रतापूर्वक कहा—बाबूजी! यह सब आप जैसे महानुभावों के पवित्र आशीर्वाद और सद्भावनाओं का परिणाम है। मैं अकिंचन इस योग्य कहाँ? जैसा कि आप मुझे मान रहे हैं।

यह वाक्य मैं पूरा नहीं कर पाया था कि आपने मेरा हाथ पकड़ कर अपने पास बैठा लिया। पारिवारिक परिचय के बाद आपसे सामाजिक एवं धार्मिक चर्चायें होती रही। चर्चाओं के दौरान मुझे लगा कि बाबूजी की विद्वत्ता किसी बहुश्रुतज्ञ अनुभवी कर्मठ विद्वान से कम नहीं है। सामाजिक आन्दोलनों का भी आपको गहरा अनुभव था। इतना ही नहीं, किसी आन्दोलन के आप सूत्रधार और किसी आन्दोलन के आप संचालक भी रहे थे।

आपने मुझसे एक बड़ी मार्मिक बात कही जो मेरी दृष्टि में एक सूत्र की तरह है। आपके शब्द निम्न प्रकार है—

"भाई स्वतन्त्रजी ! लोग सुधार की बातें करते हैं, पर वे अपना स्वयं सुधार नहीं करते । जो जितना कहता है उतना करने लगे तो वर्तमान में जो कुछ भी कलुषित गंदा वातावरण देख रहे हैं वह कभी का नष्ट हो जाये।"

बाबूजी पुरातत्व के खोजी थे। शोध खोज के कार्यों में आप विशेष रुचि रखते थे। आप साहित्यकार भी थे और साहित्य सेवी भी।

बाबूजी अपने साथ तीर्थ क्षेत्रों की फिल्म भी लाये थे। सूरत में नवापुरा स्थित फूलवाड़ी में जैन समाज की उपस्थिति में फिल्म प्रदर्शन किया था, साथ में आप टिप्पणी भी करते जाते थे। टिप्पणी तो नाम था पर वास्तविकता तो यह थी टिप्पणी के रूप में आपका भाषण ऐतिहासिक तथ्यों पर आधार रखता था।

साधारण जनता नहीं जानती होगी कि बाबूजी लेखक थे, ऐसा मैं मानता हूँ। पर बाबूजी अच्छे खासे ऐतिहासिक लेखक थे। सर्वप्रथम आपकी पुस्तक सन् १६२३ में "कलकत्ता जैन मूर्ति यन्त्र संग्रह" प्रकाशित हुई थी। फिर सन् १६४५ में "जैन बिबिलियो ग्राफी" प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। शोध खोज के कार्यों में आप भारतीय विद्वानों को ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों के विद्वानों को भी बराबर सहयोग देते रहते थे। आज अनेक विद्वान पी० एच० डी० हुए हैं उनमें अधिकांश विद्वानों ने जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध में पूरा-पूरा सहयोग सहकार बाबूजी से ही लिया है। बाबूजी स्वयं पी० एच० डी० न हों पर आपने अनेकों विद्वानों को पी० एच० डी० बना दिया, यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

बाबूजी का जीवन महान था और बाबूजी महान थे। आपकी करनी और कथनी में समानता थी और उसमें लेखक को मानवता के दर्शन होते थे।

सन् १६६० के अक्टूबर मास में प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी की जन्म जयन्ती ईशरी में ठाठबाट एवं शान शौकत के साथ मनाई गई। उस समय सूरत से मैं भी गया था, मुझे मालूम हुआ कि बाबू छोटेलालजी को टाईफाइड चल रहा है। मैं उसी समय बाबूजी से मिलने गया तो देखा कि बाबूजी को १०३ डिग्री बुखार है और लेटे हुए 'पंच संग्रह ग्रन्थ' (भारतीय ज्ञान पीठ का प्रकाशन) पढ़ रहे हैं। मैंने कहा— बाबूजी आप समय का ठीक-ठीक उपयोग कर रहे हैं। बाबूजी ने कहा—हां भाई स्वतन्त्र जी ! जब उपयोग दूसरी ओर लगा रहता है तब ज्वर का दाह और वेदना मालूम ही नहीं होती।

बाबूजी के इस उत्तर से मुझे महान प्रसन्नता हुई। शाम को देखा तो आप स्टेज पर भाषण देते हुए वर्णीजी के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण कर रहे थे, बुखार इस समय भी था। बाबूजी की यह घटना बताती है कि वे सहनशील और कष्टसहिष्णु थे। सहनशीलता और कष्ट सहिष्णुता में ही आपके जीवन का निर्माण हुआ था।

बाबूजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और आपका समूचा जीवन साहित्य एवं समाज की सेवा में ही व्यतीत हुआ।

श्रद्धांजलियां

गत १५ वर्षों से श्री छोटेलालजी से मेरा निकट सम्पर्क रहा था। उनकी विचारधारा कार्यशैली एवं दूरदर्शी निर्णयों से मैं प्रभावित रहा हूँ। आपके व्यक्तित्व में एक अलौकिक एवं बेजोड़ प्रतिभा का आभास मिलता था। आपकी निर्भय एवं स्पष्ट मनोवृत्ति का दिग्दर्शन आपके द्वारा अनुप्राणित उन कतिपय सामाजिक समारोहों से होता है जिनमें आपने अपनी मौलिक विचारधाराओं के आधार पर, व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन हेतु अनेक कार्यक्रम अपनाए थे। सामाजिक संगठन तथं सामूहिक कार्य-प्रणाली में प्रारम्भ से ही आपका अटल विश्वास था एवं आपने अपने जीवन में ऐसे अनेक कार्य किये थे जिनसे जैन समाज में पारस्परिक प्रेम एवं सद्भावना की अभिवृद्धि हुई है। आपका दृष्टिकोण सदा ही सुधारवादी एवं सामंजस्य युक्त था। आपकी सौम्य प्रकृति ने तो समाज के प्रत्येक सदस्य के हृदय में आपके प्रति अभूतपूर्व श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। आपके मानस में मैंने केवल समाज प्रेम ही नहीं वरन् मानव मात्र के प्रति सराहनीय स्नेह का अनुभव किया है। कई सामाजिक संस्थाओं की व्यवस्था आपके संचालन में सुचारु रूप से चल रही थी; ऐसे कर्मठ कार्यकर्ता के निधन से देश और समाज की महान क्षति हुई है।

मिश्रीलाल जैन

मैं श्रीमान् बाबू छोटेलालजी को ४० वर्षों से जानता हूँ। बाबूजी के निकट आने का जिन्हें भी अवसर मिल सका है वे उनकी विद्वत्ता और सौजन्य से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व से कौन ऐसा है जो प्रभावित और चमत्कृत न हुआ हो। आप जैन समाज के उन रत्नों में से थे जिनका प्रकाश वर्तमान में ही नहीं वरन् भविष्य में भी सदैव समाज के नवयुवक कार्यकर्ताओं का पथ प्रदर्शन करता रहेगा।

बाबूजी गत ५० वर्षों से देश समाज एवं साहित्य की सेवा में संलग्न थे। पुरातत्त्व सम्बन्धी आपका अध्ययन तथा अनुभव बड़ा गहरा था। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण करके आपने वहाँ से अनेक महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्त्व की सामग्री को खोज निकाला था। आप खासकर देश-विदेश के जैनेतर विद्वानों को जैन साहित्य पर शोधकार्य में बराबर सहयोग देते रहते थे। आप एक दानी-परोपकारी एवं कर्मठ कार्यकर्ता थे।

कई अवसरों पर आपसे उपकार पाने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है। मुझ पर आपकी बड़ी कृपा थी। आप अपने पत्र में सदा मुझे 'प्रेमबन्धु' शब्द से ही संबोधित करते रहते थे। यद्यपि आपका स्वास्थ्य हमेशा खराब रहता था तो भी आप उत्साह और लगन के साथ समाज, देश एवं साहित्य की सेवा में व्यस्त रहते थे। मेरी हार्दिक शुभ भावना है कि आपका सफल तथा आदर्श जीवन सदैव ही लोगों को अपना जीवन मानव सेवा में व्यतीत करने की प्रेरणा देता रहे।

के० भुजबली शास्त्री
सं० 'गुरुदेव', मूडबद्री (मैसूर)

३० जनवरी ६६ को प्रातः अहिंसा प्रचार समिति हाल में श्री जैन सभा के तत्वावधान में श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन की अध्यक्षता में समस्त जैन समाज की ओर से एक शोक सभा का आयोजन कर जैन समाज के नेता श्री छोटेलाल जी जैन की दिवंगत आत्मा के प्रति निम्न प्रस्ताव द्वारा श्रद्धांजलियां अर्पित की गई :

"कलकत्ता जैन समाज की यह सार्वजनिक सभा जैन समाज के नेता धर्मानुरागी पुरातत्ववेत्ता, एकता के समर्थक श्री छोटेलालजी जैन के आकस्मिक निधन पर शोक प्रकट करती है। श्री छोटेलाल जी जैन ने अपने समय में सामाजिक, धार्मिक सांस्कृतिक, तीर्थक्षेत्र, शिक्षा पुरातत्व तथा समाज सुधार के क्षेत्रों में अपना सक्रिय योगदान दिया था। वे कलकत्ता जैन समाज की प्रायः सभी संस्थाओं में अपना महत्वपूर्ण सहयोग देते रहे थे जिनके लिए समाज उनका आभार मानता है।

जैन समाज उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके वियोग में संतप्त परिवार के प्रति संवेदना प्रकट करता है, एवं उनकी महान आत्मा की शांति के लिये प्रार्थना करता है।"

श्रद्धेय भाई जी के निधन के समाचार से बड़ा दुःख हुआ, यद्यपि उनका स्वास्थ्य पिछले कुछ समय से क्षीण चल रहा था, तथापि यह कल्पना भी नहीं थी कि उनसे इतनी जल्दी बिछोह हो जायेगा।

उनके निधन से एक बहुत ऊंचा व्यक्ति उठ गया उनकी सेवायें और उनके गुण समाज एवं हम सब को चिरकाल तक अनुप्राणित करती रहें, ऐसी मेरी कामना और प्रभु से प्रार्थना है। मैं उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मंडल
एन–७७ कनाटसर्कस नई दिल्ली

वीर सेवा मन्दिर की यह आम सभा जैन धर्म और जैन समाज के अनन्य सेवी तथा जैन पुरातत्व के विद्वान बाबू छोटेलाल जैन के निधन पर गहरा शोक प्रकट करती है, और बाबू छोटेलाल जी उन इने–गिने व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने अपने जीवन के बहुत से वर्ष सेवा में व्यतीत किये। वीर सेवा मंदिर को वर्तमान रूप देने का श्रेय मुख्यतः उन्हीं को है। इस संस्था के द्वारा उन्होंने अनेक लोकोपयोगी प्रवृत्तियों का संचालन किया।

बाबू छोटेलाल जी के निधन से जैन समाज की विशेष कर वीर सेवा मन्दिर की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती। वीर सेवा मन्दिर के रूप में दिल्ली जैन समाज पर बाबू छोटेलालजी का भारी ऋण है, और यह सभा विश्वास प्रकट करती है कि जैन समाज उसके संचालन की ऐसी व्यवस्था करेगी कि जैन धर्म की प्रभावना की दिशा में उनकी ऊँची भावनाएं पूर्ण हो सके। यह सभा दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है और प्रभु से प्रार्थना करती है कि उनकी आत्मा शान्त–उच्च पद प्राप्त करे। और उनके परिवार के साथ यह सभा सहानुभूति प्रकट करती है।

वीर सेवा मन्दिर देहली

श्रद्धेय श्री बाबू छोटेलाल जी के स्वर्गवास का समाचार सुनकर स्तब्ध रह गया। विधि का विधान ही ऐसा है, उस पर किसी का वश नहीं। श्रद्धेय बाबूजी के चले जाने से बड़ा जबर्दस्त धक्का लगा है। अब धैर्य के सिवा कोई चारा नहीं है। अतः जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि मृतात्मा को शान्ति एवं समस्त समाज को उनके अभाव का दुःख सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

—बाबूलाल जैन, फागुल्ल, वाराणसी

श्री बाबू छोटेलाल जी जैन के अचानक वियोग का हृदय–विदारक दुःखद समाचार पाकर चित्त बहुत ही दुखित हो रहा है।

—दुखित हृदय जुगलकिशोर एटा

हृदय विदारक समाचार को सुनकर बहुत दुःख हुआ। बाबू छोटेलाल जी का निधन कुटुम्ब के लिये ही नहीं, अपितु समाज के लिये भी अति दुःखदायी है। आपकी साहित्य सेवा सदैव अमर रहेगी।

—चन्दाबाई जैन
जैन बाला विश्राम, आरा, बिहार।

श्री बाबू छोटेलाल जी जैन अब इस संसार में नहीं रहे। यह समाचार समाज के लिए वज्राघात के समान था। बाबूजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए जैन संस्कृत कालेज में सभा कर शोक प्रस्ताव पारित किया गया एवं जयपुर जैन समाज की ओर से भी बड़े दीवाणजी के मन्दिर में एक शोक प्रस्ताव पारित किया गया।

चैनसुखदास
अध्यक्ष, श्री दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज
जयपुर (राजस्थान)

त्याग और विसर्जन की दीक्षा में सिद्धि प्राप्त करना ही हमारी सब से बड़ी सफलता है। इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर हमारी कितनी ही विधवा बहिनें जीवन की सर्वोत्तम सार्थकता का अनुभव कर गई हैं।

\+ \+ \+

क्षोभ और दुःसह नैराश्य के बीच ऐसे बहुत दुख, बहुत मनुष्यों के भाग में, बहुत बार आए हैं। सुख-दुख की इस परम्परा में कोई नवीनता नहीं है। यह उतनी ही सनातन है जितनी कि सृष्टि। उफनते हुए शोक-सागर की लहरों को संसार भर में फैला देने में, न तो कोई पौरुष है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है।

\+ \+ \+

पति को त्याग देना कोई बड़ी बात नहीं। उसे फिर से पाने की साधना ही स्त्री के लिए परम सार्थकता है। अपमान का बदला लेने की होड़ में ही स्त्री की वास्तविक मर्यादा नष्ट होती है, अन्यथा वह तो कसौटी है जिस पर कस कर प्रेम परखा जाता है। अन्त तक सर्वस्व दान करके ही आदमी यथार्थ में अपने आपको पाता है। स्वेच्छा से दुःख स्वीकार करने में ही आत्मा की यथार्थ प्रतिष्ठा है।

—बाबू जी की डायरी से

बाबूजी : एक संस्मरण

साहू श्री शान्तिप्रसादजी जैन

बाबू छोटेलाल जी के सम्बन्ध में लिखने के लिए जब-जब उद्यत हुआ विशेष कर 'अनेकान्त' के स्मृति अंक के लिए, तो उनके साथ घनिष्ट संपर्क के पिछले पच्चीस–तीस वर्षों के इतिहास पर मन-ही-मन विचार करता रहा और लिखने के योग्य अनेक घटनाएं, संस्मरण और विचारों का आदान-प्रदान दिखाई दिया किन्तु वह सब स्थिर होकर लिखना संभव नहीं हुआ। स्मृति ग्रन्थ के लिए संक्षेप में अपना अभिनन्दन और श्रद्धांजलि व्यक्त कर रहा हूं।

बाबू छोटेलालजी के प्रति मेरे मन में जितना आदर है, और उन्हें मुझसे, मेरे परिवार से जितना स्नेह था वह अविस्मरणीय है। वे स्नेही थे, हित-चिन्तक थे, और सतत सहयोगी थे। सन् १९४४ में वीर शासन जयन्ती के अवसर पर कलकत्ते में एक बड़े आयोजन में उनके साथ दायित्व लेने का मेरा पहला अवसर था। उस अवसर पर सर सेठ हुकमचन्दजी सभापति थे, मैं स्वागताध्यक्ष था और वे संयोजक तथा मन्त्री। उस समय से उनकी लगन, कर्तव्य निष्ठा, विद्वानों के प्रति वात्सल्यभाव, जैन दर्शन, जैन पुरातत्व, जैन साहित्य के प्रचार-प्रसार, शोध-खोज के लिए उनकी चिन्ता तथा मननशील स्वभाव की जो छाप मेरे मन पर पड़ी वह सदा अमिट रही। यह ठीक ही है कि वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे। जब-जब वे मिलते–और कलकत्ते में रहते हुए ऐसा कोई सप्ताह नहीं बीतता था जब एक-दो बार वे मिल न लेते हों–तब-तब वे अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं की चर्चा करते, प्रत्येक दिशा में जो काम हुआ है और जो करना है उसकी व्यवस्था आदि के बारे में विचार विनिमय करते और आवश्यक बातों की ओर ध्यान दिलाते। उनकी बातचीत सदा ही एक झरोखा थी जिसके द्वारा स्थानीय तथा बाहर की सामाजिक गतिविधियों का संपूर्ण चित्र मेरी दृष्टि में आ जाता था। व्यवसाय के कामों से विरक्त होने के बाद अपने जीवन के अन्तिम १५ वर्ष उन्होंने जैन समाज और जैन संस्कृति की सेवा में पूरी लगन के साथ अर्पित कर दिये। मुझे बराबर लगा है कि बाबू छोटेलालजी के स्वास्थ्य ने उनका साथ दिया होता, यदि उन-जैसी लगन के दो चार कार्यकर्ता उन्हें मिल जाते तो समाज की अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं का सफल-रूप सामने आया होता और समाज का, संस्कृति का, हित कई गुना अधिक हुआ होता। अपने बल-बूते पर अपनी एकांत साधना पर उन्होंने जो किया, जो वे कर सके, वह काम महत्त्व का है। जैन साहित्य के संदर्भों का संकलन, 'जैन बिब्लियोग्राफी' के रूप में स्वयं इतना बड़ा काम है जो अकेले व्यक्ति के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। उदयगिरि खंडगिरि के महत्त्व को ऐतिहासिक आधार पर प्रतिष्ठित करने और इस तीर्थ को भारतवर्ष के मानचित्र पर उजागर करने की दिशा में भी उन्होंने अद्वितीय काम किया।

सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के लिए उनके मन में जो लगन थी। वह उन्हें रात-दिन व्यस्त रखती थी। समाज की प्रमुख संस्थाओं

की उन्नति कैसे हो, उनकी तात्कालिक समस्यायें क्या हैं और उनके समाधान के लिये क्या करना चाहिए अमुक अमुक विद्वान या शोधछात्र किस विषय पर काम कर रहा है और उसकी आवश्यकतायें क्या हैं, पूर्वी तथा उत्तरी भारत के ही नहीं, दक्षिण भारत के तीर्थ क्षेत्रों पर वहाँ क्या महत्वपूर्ण है और वहां की जैन समाज की स्थिति क्या है इस सब की वे खोज खबर रखते थे। समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति भी उन्हें इतना आत्मीय मानते थे कि निजी अथवा स्थानीय समस्या निस्संकोच उनके सामने रखते थे और आशा करते थे कि वे अपने निजी साधनों अथवा अपने संपर्कों के आधार पर अवश्य कोई हल निकालेंगे कोई सहायता देंगे या प्राप्त कर देंगे। जब-जब वे मिलते सब प्रकार की समस्याओं को बड़ी सहानुभूति पूर्वक मेरे सामने रखते। इस प्रकार दूर की समस्यायें भी मेरे लिए निकट की बन जातीं और यथा-साध्य उनके निवारण का प्रयत्न होता रहता।

जैन विद्वानों से तो उनके निकट-तम संपर्क थे ही, वे उन जैनेतर विद्वानों से आत्मीयता बढ़ाते जो जैन साहित्य, जैन दर्शन या जैन कला के क्षेत्र में काम करते थे। इन विद्वानों पर बाबू छोटेलालजी का प्रेरणा प्रभाव इसलिए विशेष रूप से पड़ता था कि वे जानते थे कि उनकी इस लगन के पीछे केवल धर्म-प्रभावना की ही भावना नहीं है, उनका अपना ज्ञान और मनन भी क्रियाशील है।

विचारों में वे बड़े उदार थे। समाज में धार्मिक आस्था बढ़े, तत्वज्ञान का प्रचार और जैन कला का परिचय व्यापक हो इस प्रयास के साथ-साथ वह युग के अनुकूल समाजिक सुधारों के भी प्रबल समर्थक थे। पुराने विचार के भाइयों को सहयोग देते रहना, उनका सहयोग प्राप्त करना और धीरे-धीरे नयी जागृति, नये चिन्तन की ओर उन्हें अग्रसर करना तथा जैन धर्म की आत्मा को रूढ़ि-मुक्त करना ये सब बड़ी सहनशीलता और धीरज का काम है। उनके मन की सहज गति इसी प्रकार की थी। यही कारण है कि उनके साथ मेरे विचारों और भावनाओं का सामंजस्य बैठता था और हम लोग मिल कर सामाजिक क्षेत्र में इतना कुछ कर सके।

बाबू छोटेलाल जी प्रारम्भ से ही भारतीय ज्ञानपीठ के ट्रस्टी थे और संचालक समिति के सदस्य। ज्ञानपीठ के सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकाशनों के कार्यक्रम में उन्होंने सदा व्यक्तिगत रुचि ली और भारतीय साहित्य की उन्नति की दिशा में जो योजनायें ज्ञानपीठ ने बनाई उन सबको हार्दिक समर्थन दिया। वे एक ऐसा अभाव छोड़ गये जिसकी पूर्ति अब असंभव लग रही है। उनके मधुर व्यक्तित्व और उनके अकपट स्नेह की स्मृति अमर रहेगी।

साहित्य और पुरातत्व प्रेमी, बाबूजी

विजयसिंह नाहर, एम. एल. ए., कलकत्ता

साहित्य और पुरातत्व के प्रेमी विद्वान् बाबू छोटेलालजी जैन के निधन से केवल जैन समाज ने ही एक उज्ज्वल रत्न को नहीं खोया परन्तु सारे पुरातत्व जगत को हानि पहुँची। सरल स्वभाव, सदा हँसमुख विनयी छोटेलालजी से जो भी मिलता उनके आचरण से गद्-गद् हो जाता। मुझे याद आता है—जब मैं छात्र था बाबू छोटेलालजी हमारे परम पूज्य पिताजी स्व० पूरणचन्दजी नाहर के पास आते और जैन शोध खोज की बातें होती। मुझे ही उनको साथ लेकर पिताजी के पुस्तकालय "श्री गुलाब कुमारी लायब्रेरी" में उनको किताब दिखाने ले जाना होता। अत्यन्त श्रद्धा से, मनन से पुस्तकें देखते और उनसे अपने खाते में नोट करते। हमें समझाते कि जैन साहित्य में समुद्र ऐसा भंडार है, खोज के निकालने से हर विषय का पांडित्यपूर्ण समाधान प्राप्त होगा।

सन् १९३३ की बात है, मैं कलकत्ता कारपोरेशन के चुनाव में खड़ा हुआ। बाबू छोटेलालजी एक दिन आये। मुझ से कहा कि तुम्हें क्या मदद चाहिए। उन्होंने कई गाड़ियाँ भेज दी और उनके परिचित कई वोटरों के पास मुझे ले गये। वे स्वयं आये। मैंने उनसे कोई निवेदन नहीं किया था। क्योंकि वे हमारे चुनाव इलाके से बाहर रहते थे। कितना प्रेम था एक समाज के नवयुवक के प्रति।

कई साल हुए जब मैं बंगलोर जा रहा था उनसे बात हुई। उन्होंने मुझे मूलबिद्री दर्शन करने को कहा और वहां जो अलग-अलग जवाहरात की प्राचीन जैन प्रतिमायें है उसका वर्णन किया। खुद कष्ट कर कई मित्रों को पत्र लिखा जिससे मुझे सहूलियत रहे। शरीर अस्वस्थ होते हुए भी उत्साह का अभाव नहीं।

उन्हें देखा है जब–जब कोई विद्वान् उनके पास आये और कोई पुस्तक की जरूरत पड़ी तो मुझे टेलीफोन करते और स्वयं ही उन विद्वान् को लिए पहुँच जाते और पुस्तकें दिखाते। कोई आलस्य उनके पास नहीं था।

पुरातत्व विषय की कई पुस्तकें उनकी लिखी हुई हैं। ऐसियाटिक सोसाईटी के उत्साही सदस्य थे। प्राचीन जैन लेखों से उनका प्रेम था और उन्हें प्रकाशित करते रहते।

देश विदेशों के अनेक विद्वानों से उनका परिचय था। पत्र आते रहते और मित्रों को वे सब पत्र दिखाते और उन पत्रों के विषय में आलोचना भी करते ताकि उनकी जिज्ञासा को पूर्ण करके उत्तर देने में सहूलियत हो।

स्व० बाबू छोटेलालजी जैन स्मृति ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। आशा है इससे जैन विद्वानों को एक रास्ता मिलेगा, प्रेरणा प्राप्त होगी। मैं उस दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदन करता हूँ।

श्रद्धांजलि

स्व० बाबू छोटेलालजी जैन की सेवाओं के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करने के लिए श्री छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ समिति, एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन कर रही है। एक दानी, परोपकारी, साहित्य एवं समाज की सेवाओं में अपना सारा जीवन समर्पित करने वाले महानुभाव के संस्मरण और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का यह आयोजन सराहनीय है। अच्छा होता यदि यह उनके जीवनकाल में ही अभिनन्दन के रूप में सम्पन्न हो जाता।

दिगम्बर जैन समाज कलकत्ता और वीर सेवा मन्दिर दिल्ली तथा तीर्थ क्षेत्र कमेटी के प्रमुख कार्यकर्त्ता होने के नाते मेरा और मेरे घराने का उनसे संपर्क रहा है।

पुरातत्व के अन्वेषण में स्व० बाबूजी ने सफल प्रयत्न करते हुए सैकड़ों विद्वानों को इस सम्बन्ध में सहयोग दिया है। उनके प्रोत्साहन के फलस्वरूप मध्यप्रदेश के प्रतिभाशाली पुरातत्वज्ञ श्री नीरज, सतना अपने प्रदेश के पुरातत्व एवं शिलालेखों के अन्वेषण में प्रयत्नशील हैं।

मैं स्व० बाबूजी की सार्वजनिक, सामाजिक एवं साहित्यिक सेवाओं का हृदय से समादर करते हुए इस अवसर पर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

—राजकुमारसिंह
M.A. LLB F.R.E.S.; F.R.G.S.
इन्दौर

ज्योति-शिखा को अन्तिम प्रणाम

लक्ष्मीचन्द जैन

जनवरी १९६६ के तीसरे सप्ताह की बात है; बाबू छोटेलालजी बीमार थे और कलकत्ते के मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के हस्पताल में उपचारार्थ वे एक प्राइवेट कैबिन में लगभग अर्ध चैतन्य अवस्था में लेटे हुए थे। मैं उसी शाम दिल्ली जा रहा था और जाने से पहले उनके दर्शन अवश्य कर लेना चाहता था। क्योंकि बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी और कुछ ठिकाना नहीं था कि क्या हो जाये। मैं पहुँचा तो कमरे में परिवार की केवल एक महिला ही थीं। भेंट का वह समय भी नहीं था कि भीड़भाड़ होती। बाबू छोटेलालजी आँखें बन्द किये पड़े थे। वेदना कितनी थी यह तो स्पष्ट नहीं था किन्तु उसे सहन करने के प्रयत्न की छाप मुख पर अंकित थी। फिर भी चेहरे का भाव मृदु और शान्त था। मैं पास की कुर्सी पर चुपचाप बैठ गया। दो-चार मिनिट में ही उन्होंने आँखें खोली और मुझे देख कर अपना दुखदर्द भूल कर हर्ष से गद्‌गद्‌ दिखे और बोले—'आप कितनी देर से बैठे हैं, मैं शायद सो रहा हूं, ऐसा आपको लगा होगा, लेकिन मैं सो नहीं पाता; आपको चाहिए था मुझे जगा लेते।' इतना कह कर उन्होंने पानी मांगा- बात करने का उत्साह जितना आकुल था, दुर्बलता उतनी ही मुखर। बोले—लक्ष्मीचन्दजी, जीवन का कुछ भरोसा नहीं। कोशिश कर रहा हूं कि परिणाम शान्त रहें और रोग का प्रभाव व्याकुल न करे। कितना कुछ काम करने को पड़ा रह गया; मेरे स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया और अब तो हालत देख लीजिए, क्या है।" मैं विचलित हो गया। मैंने उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न किया। 'भाई साहब, आपने इतना कुछ किया है अकेले, कि आपका कृतित्व सदा स्मरण रहेगा। आप व्याकुल न हों। आप जो बीज बो गये हैं, और पाल-पोस गये हैं वह फूल दे रहा है; फल दे रहा है। आज जैन साहित्य का प्रचार-प्रसार अधिक सुगम हो गया है। साहित्य सृजन की ओर भी लोगों की रुचि हुई है। जैनेतर विद्वानों में जैन धर्म को जानने-समझने की वास्तविक जिज्ञासा है। विरोध भाव प्रायः नहीं है। इस सब में आपका विशेष हाथ है।"

मैं चाहता नहीं था कि बात लम्बी बढ़े और बाबू छोटेलालजी को अधिक थकान हो। बीच-बीच में उन्हें खाँसी भी उठ रही थी। मैंने कहा—"आज रात की गाड़ी से मैं दिल्ली जा रहा हूं। लौट कर दर्शन करूंगा। तब तक आपकी तबियत भी काफी कुछ ठीक हो जायेगी।" वे एक फीकी हँसी मुस्कराये। बोले—अच्छा आपको फिर देर हो रही होगी। आप जब आयेंगे तब...., देखिए।' मैंने पहलीबार उनके चरण छुये....और अन्तिम बार। वे विचलित हो गए....'आप यह क्या कर रहे हैं?' मैं जल्दी-जल्दी जीने से उतर गया। लगा जैसे किसी तीर्थ की वन्दना की हो, किसी साधु के चरण छुये हों; क्योंकि जीवन की अन्तिम सन्ध्या में वह महापुरुष 'बाबू छोटेलाल' की संज्ञा से कहीं बहुत ऊपर उठकर रोग-शैया की और रोग की वेदना की सीमाओं को पार करके निराकुल, निर्विकल्प ज्ञान

ग्रौर चिन्तन की दीप-शिखा सा उद्भासित था—स्नेह-तरल !

जब पहली बार वीरशासन जयन्ती के ग्रवसर पर कलकत्ते में उनसे भेंट हुई थी तो ग्रप्रत्यक्ष परिचय की श्रद्धा में प्रत्यक्ष साक्षात्कार की गहन ग्रात्मीयता ग्रा-जुड़ी थी। पहले से ही वे एक 'लीजेंड' थे, 'एक पुरा-कथा के से पात्र।' जैनसाहित्य ग्रौर जैन पुरातत्व के क्षेत्र में निष्ठापूर्वक काम करने वाले विद्वान ग्रौर प्रेरक के रूप में उन्हें जाना था। ग्रब उनके ग्राकर्षक व्यक्तित्व के ग्रनेक ग्रायाम प्रत्यक्ष हुए। जिस किसी व्यक्ति में उन्हें ज्ञान की चमक या क्षमताग्रों की संभावना या कुछ भी ग्रसाधारण-सा दिखा, उसे वे समस्त हृदय से ग्रपना लेते थे। उनके इस ग्रपनाने का ग्रर्थ एक ग्रोर तो होता था ग्रकृत्रिम स्नेह ग्रौर दूसरी ग्रोर एक विशेष प्रकार का दायित्व-बोध कि बाबू छोटेलालजी के संपर्क में ग्राने ग्रौर उनका स्नेह पाने का ग्रर्थ है उसके योग्य बनने ग्रौर बने रहने का प्रयत्न। वे यों तो इतने निरभिमानी ग्रौर निःशल्य थे कि यदि कोई उनके स्नेह से ग्रौर उस स्नेह के ग्रधिकार से मुक्त होना चाहे, उच्छृंखल होना चाहे, या उपकार के प्रति ग्रपकारी होना चाहे तो हो ले—कहीं कोई रुकावट नहीं थी। उनके पास कोई दंड-पाश था ही नहीं; सक्रिय विरोध भी नहीं था—एक सरल सी प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी उन पर भारी पड़ती थी। सारी जैन समाज से उनके संपर्क थे। सब कोई ग्रपनी समस्यायें बेझिझक उनके पास लिख भेजते थे—ग्रधिकतर ग्रार्थिक या व्यक्तिगत कठिनाई की या किसी माध्यम से ग्रपना कोई काम साधने का ग्रनुरोध। इन सब चिन्ताग्रों को वे ग्रपने ऊपर ग्रोढ़ लेते थे। उनका दफ्तर उनके साथ चलता था। बात करते-करते वे जेब में हाथ डालते—एक लिफाफा निकालते जिसमें ढेर सारी चिट्ठियाँ होतीं। सब मिली-जुली ग्रौर फिर धीरे-धीरे सँभाल कर एक-एक कागज बन्द का बन्द छाँटते जाते ग्रौर कोई एक या दो कागज निकाल लेते। जिनके बारे में उन्हें चर्चा करनी होती। उसमें से कुछ ग्रंश पढ़ देते ग्रौर पत्र-लेखक की समस्या को ग्रपनी बना कर इस प्रकार प्रस्तुत करते कि जिससे जो कुछ बन पड़ता वह करने को तैयार हो जाता। स्वयं उन्होंने क्या-कुछ कर दिया है यह वे प्रायः नहीं बताते—ग्रात्मश्लाघा उनका गुण कभी भी नहीं रहा। कई बार मेरा मन होता कि जिस पत्र में से वह ग्रंश पढ़ रहे हैं वह पूरा पत्र मैं देख पाता क्योंकि उस ग्रमुक व्यक्ति ने साहू शान्तिप्रसादजी को भी पत्र लिखा होता था, या कभी-कभी मुझे भी, ग्रौर समस्या को किसी दूसरे पहलू से प्रस्तुत किया होता—जो स्वाभाविक भी था—; किन्तु पत्र माँगने में मुझे संकोच होता ग्रौर उन्हें देने में। कारण दोनों ग्रोर से समान होता—मैं जानना चाहता था कि इतने लम्बे पत्र में ग्रौर क्या-क्या लिखा है जो समस्या के ग्रन्य पहलुग्रों से संदर्भित है, ग्रौर वे नहीं चाहते होते कि जिस व्यक्ति ने खुल कर ग्रनेक-ग्रनेक बातें ग्रपनी पराई लिखी हैं वे सब दूसरों तक पहुँचें। उनकी इस महिमा की गहरी छाप मेरे मन पर पड़ी है।

श्री साहू शान्तिप्रसादजी की ग्रनेक सामाजिक-साहित्यिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होने का ग्रर्थ मेरे लिए यह था कि बाबू छोटेलालजी का सतत् सान्निध्य पाऊँ। ज्ञान ग्रौर ग्रनुभव के ग्रनेक खाली कक्षों को वे ग्रपने व्यक्तित्व की समृद्धि से भरते थे। मेरा यह सौभाग्य रहा है कि साहूजी ने मुझे निर्देशन भी दिया है ग्रौर कार्य करने की स्वतंत्रता भी। कई बार ऐसे ग्रवसर भी ग्राते थे जब किसी विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में, एक विशेष पृष्ठभूमि के ग्राधार पर लिखा गया निर्णय बाबू छोटेलालजी की सम्मति के साथ मेल नहीं खाता था। विशेष कारण यह होता था कि उनकी दृष्टि में सदा ही प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सहानुभूति का ग्रातिरेक रहता था ग्रतः ग्रनुशासन का व्यक्ति-निरपेक्ष रुख वे बहुत कम समझना चाहते थे। खूबी यह कि ग्रपने विचार या ग्रपनी ग्रसहमति प्रगट कर देने के बाद वे सामूहिक निर्णय के साथ हो जाते थे। लेकिन

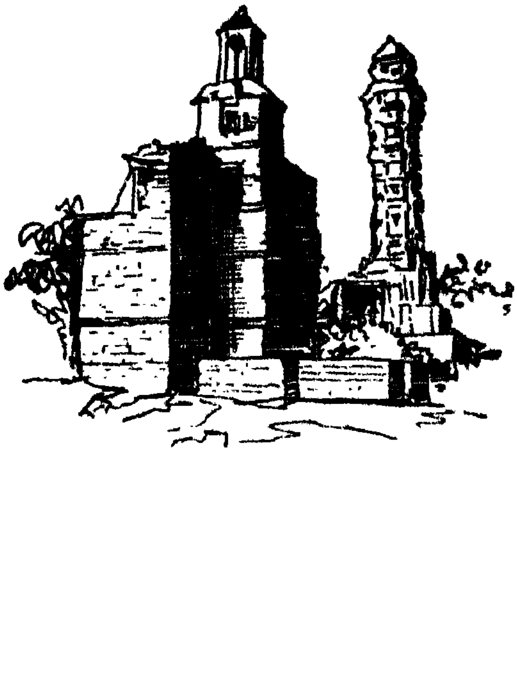
मुझे लगता है ऐसे अवसरों पर कर्तव्यों की द्विविधा में समूह के निर्णय को मान्यता देते हुए भी वास्तविक सहानुभूति उनकी व्यक्ति के प्रति ही रहती थी।

योजनायें उनकी बड़ी-बड़ी होती थीं क्योंकि न उत्साह की कमी होती थी, न साधनों की, न परिकल्पना के विवरणों को। लगता था कि एक महत्वपूर्ण कदम उठा लिया गया, एक बहुत बड़ी बात होने वाली है, कदम ठीक दिशा में बढ़ रहे हैं किन्तु मंजिलें दूर रह जाती थीं, आदमी पीछे छूट जाते थे—अग्रगामी रहते थे तो केवल बाबू छोटेलालजी अपनी भावनाओं में सदा हरे-भरे। कारण कि उनका मन आकाश के महत् विस्तार में तैरता था लेकिन रोग-जर्जर शरीर धरा पर उठाये गये पगों का संतुलन नहीं सँभाल पाता था। रोग जितना ही आक्रामक होता, उससे जूझने का उनका आग्रह उतना ही प्रबल हो उठता और जब जीत रोग की होती तो स्वस्थ होने की प्रतीक्षा दूभर हो उठती और अधूरे कार्यक्रमों को स्वास्थ्य के अगले चरण में जल्दी-से जल्दी पूरा कर लेने की व्यग्रता तन-मन को फिर झकझोर जाती। रोग की तीव्रता और कार्य कर डालने की व्यग्रता की होड़ का परिणाम होता अधिक रोग, अधिक दुर्बलता....और यह क्रम चलता रहता। उनके कृतित्व के अनेक आयामों की चर्चा अभिनन्दन ग्रन्थ में होगी ही। उस सबके, परिपेक्ष्य में मेरी आँखों के सामने तैर जाती है जनवरी १९६६ की संध्याकी वह ज्योति शिखा जिसे मैंने श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया था और जिसके आलोक में स्नेह-सिक्त होने का सौभाग्य मुझे मिला था।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

—विष्णुपुराण १।१।१४

बाबूछोटेलाल
जैन
स्मृतिग्रंथ



खण्ड

इतिहास,
पुरातत्त्व
एवं शोध

प्राचीन भारतीय वस्त्र और वेश-भूषा

गोकुल चन्द्र जैन, एम० ए०
आचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

सोमदेवकृत यशस्तिलक (९५९ ई०) में भारतीय तथा विदेशी वस्त्रों के अनेक उल्लेख हैं। इन उल्लेखों से एक ओर प्राचीन भारतीय वेशभूषा का पता चलता है, दूसरी ओर प्राचीन भारत के समृद्ध वस्त्रोद्योग एवं विदेशी व्यापारिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। भारतीय साहित्य में वस्त्रों के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। किन्तु यशस्तिलक के उल्लेखों की यह विशेषता है कि उनसे कई-एक वस्त्रों की सही पहचान पहली बार होती है। इन वस्त्रों को मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. सामान्य वस्त्र

२. सिले हुए वस्त्र

सामान्य वस्त्रों में नेत्र, चीन, चित्रपटी, पटोल, रल्लिका, दुकूल, अंशुक और कौशेय आते हैं। पोशाकों में कंचुक, वारबाण, चोलक, चण्डातक, पट्टिका, कौपीन, वैकक्ष्यक, उत्तरीय, परिधान, उपसंव्यान, निचोल, उष्णीष, प्रावार, चीवर और कर्पट का उल्लेख है। कुछ अन्य गृहोपयोगी वस्त्रों में हंसतूलिका, उपधान, कन्था, नमत, वितान, चेलचीरी आये हैं। इन वस्त्रों का विशेष परिचय निम्न प्रकार है—

नेत्र, चीन, चित्रपटी, पटोल और रल्लिका का उल्लेख यशस्तिलक में एक साथ हुआ है। सभामण्डप में जाते समय सम्राट् यशोधर ने देखा कि घोड़ों को उक्त वस्त्रों की जीनें पहनाई गई हैं।[1]

यशस्तिलक के उल्लेखों से इन वस्त्रों पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिए इनका सही परिचय सोमदेव के पूर्वोत्तरकालीन साहित्य से प्राप्त करना होगा।

नेत्र—श्रुतदेव ने नेत्र का अर्थ पतला पट्टकूल किया है।[2] इससे अधिक जानकारी यशस्तिलक से से नहीं मिलती। नेत्र के विषय में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन: तथा जायसी के 'पदमावत' में सर्वप्रथम विशेष रूप से प्रकाश डाला है। इसके पूर्व किसी भी हिन्दी या अंग्रेजी ग्रन्थ में नेत्र का इतना विशद विवेचन नहीं किया गया। उसी सामग्री के आधार पर नेत्र का परिचय इस प्रकार है—

नेत्र एक प्रकार का महीन रेशमी वस्त्र था। यह कई रंगों का होता था। इसके थानों में से काट कर तरह-तरह के वस्त्र बना लिये जाते थे।

साहित्य में नेत्र का उल्लेख सबसे पहले कालीदास ने किया है।[3] बाण ने नेत्र के बने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का कई बार उल्लेख किया है। मालती धुले हुए सफेद नेत्र का बना केंचुली की तरह हलका कंचुक पहने थी।[4] हर्ष निर्मल जल से

---

१. नेत्रचीनचित्रपटीपटोलरल्लिकाद्यावृतदेहानां—वाजिनाम्, यश० सं० पू०, पृ० ३६८

२. नेत्राणां सूक्ष्मपट्टकूलवारलानाम्, यश० सं० पू०, पृ० ३६८, सं० टीका

३. नेत्रक्रमेणोपरुरोधसूर्यम्, रघुवंश ७/३९

४. धौतधवलनेत्रनिर्मितेन निर्मोकलघुतरेणाप्रपदीन—कंचुकेन, हर्षचरित, पृ० ३१

धुले हुए नेत्रसूत्र की पट्टी बांधे हुए एक अधोवस्त्र पहने थे।[५]

बाण ने अन्य प्रसंग पर अन्य वस्त्रों के साथ नेत्र के लिए भी अनेक विशेषण दिये हैं—सांप की केंचुली की तरह महीन, कोमल केले के गाभे की तरह मुलायम, फूंक से उड़ जाने योग्य हलके तथा केवल स्पर्श से ज्ञात होने योग्य।[६] बाण ने लिखा है कि इन वस्त्रों के सम्मिलित आच्छादन से हजार-हजार इन्द्रधनुषों जैसी कान्ति निकल रही थी।[७] इस उल्लेख से रंगीन नेत्र का पता लगता है। बाण ने छापेदार नेत्र के भी उल्लेख किये हैं। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर खम्भों पर छापेदार नेत्र लपेटा गया था।[८] एक अन्य स्थान पर छापेदार नेत्र के बने सूथनों का उल्लेख है।[९] सम्भवतया नेत्र की बिनावट में ही फूलपत्तियों की भांत डाल दी जाती हो।

वर्णरत्नाकर में चौदह प्रकार के नेत्रों का उल्लेख है।[१०]

चौदहवीं शती तक बंगाल में नेत्र अथवा नेत एक मजबूत रेशमी कपड़े को कहते थे। इसकी पाचूड़ी पहनी और बिछाई जाती थी।[११]

पदमावत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सोलहवीं शती तक नेत्र का प्रचार था, जायसी ने तीन बार नेत्र अथवा नेत का उल्लेख किया है। रतनसेन के शयनागार में अगर चन्दन पोतकर नेत के परदे लगाये गये थे।[१२] पदमावती जब चलती थी तो नेत के पांवड़े बिछाये जाते थे।[१३] एक अन्य प्रसंग में भी मार्ग में नेत बिछाने का उल्लेख है।[१४]

भोजपुरी लोकगीतों में नेत का उल्लेख प्रायः आता है।[१५] बंगला में भी नेत के उल्लेख मिलते है। (नेतर आंचले चर्म मण्डित करिया घर घर वाशिनि पोले, अर्थात् नेत के आंचल में चमड़े से ढंकी हुई स्त्री रूपी व्याघ्री घर घर में पोसी जा रही है, धर्ममंगल में गोरखनाथ का गीत)[१६]

चीन—चीन का अर्थश्रुतदेव ने चीन देश में होने वाले वस्त्र का किया है।[१७] सोमदेव के बहुत समय पहले से भारतीय जन चीन देश से आने वाले वस्त्रों से परिचित हो चुके थे। डा० मोतीचन्द ने "भारतीय वेशभूषा" में चीन देश से आनेवाले वस्त्रों के विषय में पर्याप्त जानकारी दी है। उसीके आधार पर उन वस्त्रों का परिचय यहां दिया गया है।

---

५. विमलपयो धौतेन नेत्रसूत्रनिवेशशोभिनाधरवाससा, वही, पृ० ७७

६. नेत्रैश्च निर्मोकनिभैः, अकठोररम्भागर्भकोमलैः, निश्वासहार्यैः, स्पर्शानुमेयैः वासोभिः, वही, पृ०१४३

७. स्फुरद्भिरिन्द्रायुधसहस्रैरिव संछादितम्, वही, पृष्ठ १४३

८. उच्चित्रनेत्रपटवेष्ट्यमानैश्च स्तम्भैः, वही पृष्ठ १४३

९. उच्चित्रनेत्रसुकुमारस्वस्थानस्थगितजंघाकाण्डैः वही, पृष्ठ २०६

१०. हरिणा, वैगना, नखी, सर्वांग, गरु, सुचीन, राजन, पंचरंग, नील, हरित, पीत, लोहित, चित्रवर्ण एवम्विध, चतुर्दश जाति नेत देषु ॥ वर्णरत्नाकर, पृष्ठ २२

११. तमोनाशचन्द्रदास-आसपैक्टस आफ बंगाली सोसायटी फ्राम बंगाली लिटरेचर, पृष्ठ १८०-१८१

१२. ओवरि जूडि तहां सोवनारा। अगर पोति सुख नेत ओहारा॥ अग्रवाल-पद्मावत ३३६।५

१३. पालक पांव कि आछहिं पाटा। नेत बिछाइअ जौं चल बाटा॥ वही, ४८५।७

१४. नेत बिछावा बाट, वही, ६४१।८

१५. राजा दशरथ द्वारे चित्र उरेहल, ऊपर नेत फहरामु है। जनपद, वर्ष १ अङ्क ३, अप्रैल १९३९, पृ० ५२।

१६. उद्धृत, अग्रवाल, पद्मावत, पृष्ठ ३३६

१७. चीनानां चीनदेशोत्पन्नवस्त्राणाम्, यश० सं० पू०, पृ० ३३६, सं० टी०

मध्य ऐशिया के प्राचीन पथ पर बने हुए एक चीनी रक्षागृह से एक रेशमी थान मिला, जिस पर ई० पू० पहली शताब्दी की ब्राह्मी में एक पुरजा लगा हुआ था। यह इस बात का द्योतक है कि भारतीय व्यापारी चीनी-रेशमी कपड़े की खोज में चीन की सीमा तक इतने प्राचीन काल में पहुँच गये थे।[१८]

चीन देश से आने वाले वस्त्रों में सबसे अधिक उल्लेख चीनांशुक के मिलते हैं।[१९] यह एक रेशमी वस्त्र था। बृहत् कल्पसूत्र भाष्य में इसकी व्याख्या कोशकार नामक कीड़े से अथवा चीन जनपद के बहुत पतले रेशम से बने वस्त्र से की गई है।[२०]

चीनांशुक के अतिरिक्त चीन और वाह्लीक से भेड़ों के ऊन, पश्म (रांकव), रेशम (कीटज) और पट्ट (पट्टज) के बने वस्त्र आते थे। ये ठीक नाप के, खुशनुमा रंगवाले तथा स्पर्श करने में मुलायम होते थे। इन देशों से नमदे (कुट्टीकृतं) कमल के रंग के हजारों कपड़े, मुलायम रेशमी कपड़े तथा मेमनों की खालें भी आती थीं।[२१]

चित्रपटी—यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने चित्रपटी का अर्थ रंग-बिरंगे सूक्ष्म वस्त्र किया है।[२२] चित्रपटी या चित्रपट वे जामदानी वस्त्र ज्ञात होते हैं, जिनमें बुनावट में ही फूलपत्तियों की भांत डाल दी जाती थी। बंगाल इन वस्त्रों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। बाणभट्ट ने लिखा है कि प्राग्ज्योतिषेश्वर (आसाम) के राजा ने श्रीहर्ष को उपहार में जो बहुमूल्य वस्तुयें भेजीं उनमें चित्रपट के तकिये भी थे, जिनमें समूर या पक्षियों के बाल या रोएं भरे थे।[२३]

पटोल—पटोल का अर्थ यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने पट्टकूल वस्त्र किया है।[२४] गुजरात में अभी भी पटोला नामक साड़ी बनती है तथा इसका व्यवहार होता है। इस साड़ी को लड़की का मामा विवाह के अवसर पर उसे भेंट करता है। यह साड़ी बांधनू रंगने की विधि से रंगे गये ताने-बाने से बनती है। इसकी बिनावट में सकरपारे पड़ते हैं, जिनके बीच में तिपतिये फूल होते हैं। कभी कभी अलंकारों में हाथियों की पंक्ति, पेड़-पौधे, मनुष्य-आकृतियां और चिड़िया भी होती हैं।[२५]

रल्लिका—रल्लिका का अर्थ यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने रक्त कंबल किया है।[२६] रल्लक एक प्रकार का मृग होता था जिसके ऊन से यह कपड़ा बनता था। सोमदेव ने जंगल का

---

१८. सर आरल स्टाइन-एशिया मेजर, हर्थ एनिवर्सरी वाल्युम १९२३, पृ० ३६७-३७२

१९. आचारांग, २,१४,६। भगवती ९,३३,६। अनुयोगद्वार ३६, निशीथ ७,११। प्रश्नव्याकरण ४,४

२०. कोशिकाराख्या कृमिः तस्माज्जातम्, अथवा चीनानाम् जनपदः तत्र यः श्लक्ष्णतरपट तस्माज्जातम् बृहत्कल्प० ४,३६६२।

२१. प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाल्हीचीनसमुद्भवम्। और्णं च रांकवं चैव कीटजं पट्टजं तथा॥ कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः। श्लक्ष्णं वस्त्रमकर्पासमाविकं मृदुचाजिनम्॥ महाभा० सभा-पर्व ५१।२७

२२. चित्रा नानाप्रकारा याः पट्यः सूक्ष्मवस्त्राणि, यश० सं० पू० पृ० ३६८, सं० टी०

२३. अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १६८

२४. पटोलानि च पट्टकूलवस्त्राणि, यश० सं० पू०, पृ० ३६८

२५. वाट-इंडियन आर्ट एट दी देहली एक्जिबिशन, पृ० २५६-२५९। उद्धृत, मोतीचन्द्र भारतीय वेशभूषा, पृ० ९५

२६. रल्लिकाश्च रक्तादिकंबलविशेषाः, यश० सं० पू० पृष्ठ ३६८, स० टी०।

वर्णन करते हुए सेही के द्वारा परेशान किये जाते रल्लकों का उल्लेख किया है।[२७]

रल्लिका या रल्लक को ग्रमरकोष कार ने भी एक प्रकार का कम्बल कहा है।[२८] जिस समय युवांगच्वांग भारत ग्राया उस समय भारतवर्ष में इस वस्त्र का खूब प्रचार था। उसने ग्रपनी यात्रा विवरण में होलाली ग्रर्थात् रल्लक का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि यह वस्त्र किसी जंगली जानवर की ऊन से बनता था। यह ऊन ग्रासानी से कत सकता था तथा इससे बने वस्त्रों का काफी मूल्य होता था।[२९]

सोमदेव ने एक ग्रन्य प्रसंग पर ग्रौर ग्रधिक स्पष्ट किया है कि रल्लकों के रोग्रों से कम्बल बनाये जाते थे, जिनका उपयोग हेमन्त ऋतु में किया जाता था।[३०]

दुकूल—सोमदेव ने दुकूल का कई बार उल्लेख किया है। राजपुर में दुकूल ग्रौर ग्रंशुक की वैजयन्तियां (पताकायें) लगायी गयी थीं।[३१] राज्याभिषेक के बाद सम्राट यशोधर ने धवल दुकूल धारण किये।[३२] वसन्तोत्सव के ग्रवसर पर गोरोचना से पिंजरित दुकूल धारण किए[३३] तथा सभामण्डप (दरबार) में जाते समय उद्गमनीय मंगल-दुकूल पहिने।[३४] ग्रन्य प्रसंगों में भी दुकूल के उल्लेख हैं। डा० मोतीचन्द्र ने दुकूल का पूरा परिचय निम्न प्रकार दिया है—

ग्राचारांग के संस्कृत व्याख्याकार शीलांकाचार्य ने दुकूल को बंगाल में पैदा होने वाली एक विशेष प्रकार की रुई से बनने वाला वस्त्र कहा है,[३५] किन्तु यह व्याख्या बारहवीं शती की होने से विश्वसनीय नहीं है। निशीथ के चूर्णिकार ने दुकूल को दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूट कर उसके रेशे से बनाया जाने वाला वस्त्र कहा है।[३६]

ग्रर्थशास्त्र से दुकूल के विषय में कुछ ग्रौर भी जानकारी मिलती है। इसके ग्रनुसार बंगाल में बनने वाला दुकूल सफ़ेद ग्रौर मुलायम होता था। पौंड देश के दुकूल नीले ग्रौर चिकने होते थे तथा सुवर्णकुड्या के दुकूल ललाई लिये होते थे।[३७] कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि दुकूल तीन तरह से बिना जाता था तथा बिनाई के ग्रनुसार उसके एकांशुक, ग्रर्धांशुक, द्वयंशुक तथा त्र्यंशुक ये चार भेद होते थे।[३८]

डा० ग्रग्रवाल ने दुकूल के विषय में एक प्रश्न उठाया है। उन्होंने लिखा है कि "सम्भवतः दुकूल का ग्रर्थ देश्य या ग्रादिम भाषा में कपड़ा था,

२७. वज्रविनिः शल्यशल्लकशलाकाजालकील्यमानरल्लकजौकलौकम् यश० उत्त० पृ० २०० ।

२८. ग्रमरकोष ३।६। ११६

२९. वाटर्स-युवांगच्वांगस ट्रावल्स इन इंडिया, भाग १, लन्दन १९०४। प्रा० २०। उद्धृत, डा० मोतीचन्द्र भारतीय वेशभूषा, पृ०

३०. रल्लकरोमनिष्पन्नकम्बललोकलीलाविलासिनी—हैमने मरुति। यश० सं० पृ० ५७५

३१. दुकूलांशुकवैजयन्तीसंततिभिः, यश० सं० पृ० पृ० १९

३२. धृतधवलदुकूलमाल्यविलेपनालंकारः, वही, पृ० ३२३

३३. त्वं देव देहेऽभिनवे दधानो, गोरोचना पिंजरिते दुकूले। वही, पृ० ५९२

३४. गृहीतोद्गमनीयमंगलदुकूल, वही, उत्त० पृ० ८१

३५. दुकूलं गौर्णविषयविशिष्टकार्पासिकम्, ग्राचारांग २, वस्त्र० सू० ३६८ सं० टी०।

३६. दुगुल्लो रुक्खो तस्स वागो घेतुं उदूखले कुट्टिज्जति पाणिएण ताव जाव भूसीभूतो ताहे कज्जति एतेसु दुगुल्लो। निशीथ ७, १०-१२।

३७. वांगकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं, पौण्ड्रकं श्यामं मणिस्निग्धं, सौवर्णकुड्यकं सूर्यवर्णम्, ग्रर्थशास्त्र २।११

३८. मणिस्निग्धोदकवानं चतुरस्रवानं व्यमिश्रवानं च। एतेषामेकांशुकमध्यर्धद्वित्रिचतुरंशुकमिति। वही २,११

जिससे कौलिक (हि० कोली) शब्द बना। दोहरी चादर या थान के रूप में विक्रयार्थ आने के कारण यह द्विकूल या दुकूल कहलाने लगा।"[३९] साहित्यिक सामग्री की साक्षीपूर्वक इस विषय पर विचार करने से डा० साहब के इस कथन का समर्थन होता है।

सोमदेव ने तीन बार सम्राट् यशोधर को दुकूल पहनने का उल्लेख किया है। बसन्तोत्सव के समय तो निश्चित रूप से सम्राट् ने दो दुकूल धारण किये थे, क्योंकि यहां पर सोमदेव ने 'दुकूले' इस द्विवचन का प्रयोग किया है।[४०]

दूसरे प्रसंग में उद्गमनीय मंगल कहा है।[४१] अमरकोषकार ने लिखा है कि धुले हुए वस्त्रों के जोड़ों को (दो वस्त्रों को उद्गमनीय कहते हैं।[४२] इससे यही तात्पर्य निकलता है कि सम्राट ने इस प्रसंग में भी दुकूल का जोड़ा पहना था। तीसरे स्थल पर दुकूल का विशेषण धवल दिया है।[४३] इस समय भी सम्राट् ने दुकूल का ही जोड़ा पहना होगा। अन्यथा सोमदेव अधोवस्त्र के लिए किसी अन्य वस्त्र का उल्लेख अवश्य करते।

गुप्त युग मे तो किनारों पर हंस मिथुन लिखे हुए दुकूल के घोड़े पहनने का आम रिवाज था। बाण ने लिखा है कि शूद्रक ने जो दुकूल पहन रखे थे वे अमृत के फेन के समान सफेद थे, उनके किनारों पर गोरोचना से हंस मिथुन लिखे गये थे तथा उनके छोर कमर से निकली हुई हवा से फड़फड़ा रहे थे।[४४] युद्धक्षेत्र को जाते समय हर्ष ने भी हंस-मिथुन के चिन्हयुक्त दुकूल का जोड़ा पहना था।[४५] आचारांग (२, १५, २०) में एक जगह कहा गया है कि शक्र ने महावीर को जो हंस दुकूल का जोड़ा पहनाया था, वह इतना पतला था कि हवा का मामूली झटका उसे उड़ा ले जा सकता था। उसकी बनावट की तारीफ कारीगर भी करते थे। वह कलाबत्तू के तार से मिला कर बना था और उसमें हंस के अलंकार थे। अन्तगडदसाओ (पृष्ठ ३२) के अनुसार दहेज में कीमती कपड़ों के साथ दुकूल के जोड़े भी दिये जाते थे।[४६] कालिदास ने भी हंस चिन्हित दुकूल का उल्लेख किया है।[४७] किन्तु उससे यह पता नहीं चलता कि दुकूल एक था या जोड़ा था। इसी तरह भट्टिकाव्य में भी दो बार दुकूल शब्द आया है,[४८] परन्तु उससे भी इसके जोड़े होने या न होने पर प्रकाश नहीं पड़ता। गीतगोविन्द में करीब चार बार से भी अधिक दुकूल का उल्लेख हुआ है,[४९] उसी में एक बार "दुकूले" इस द्विवचन का भी व्यवहार हुआ है।[५०]

---

३९. अग्रवाल–हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन—पृ० ७६

४०. गौरोचनापिंजरिते दुकूले, यश० सं० पू०, पृ० ५९२

४१. गृहीतोद्गमनीयमंगलदुकूलः, यश० उत्त० पृ० ८१

४२. तत्स्यादुद्गमनीयं यद्धौतयोर्वस्त्रयोर्युगम्, अमरकोष २, ६, ११३।

४३. धृतधवलदुकूलमाल्यविलेपनालंकारः, यश० सं० पू०, ए० ३२३

४४. अमृतफेनधवले गौरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते चारुचमरवायुप्रनर्तितान्तदेशे दुकूले वसानम्, कादम्बरी, पृ० १७

४५. परिधाय राजहंसमिथुनलक्ष्मणि सदृशे दुकूले, पृ० २०२

४६. उद्धृत, मोतीचन्द्र, भारतीय वेशभूषा, पृ० १४७–१४८

४७. आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्, रघुवंश १७।२५

४८. उदक्षिपन्पट्टदुकूलकेतून, भट्टिकाव्य, ३।३४। अथ स वल्कदुकूलकुथादिभिः, वही १०।१

४९. शिथिलीकृतजघनदुकूलम्, गीतगोविन्द २,६, ३। श्यामलमृदुलकलेवरमण्डलमधिगतगौरदुकूलम्, वही ११; २२, ३। विरहमिवापनयामि पयोधररोधकमुरसिदुकूलम्, वही, १२, २३, ३

५०. मंजुलवंजुलकुंजगतं विचकर्ष करेण दुकूले, वही १, ४, ६।

इस विवरण से इतना तो निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि दुकूल जोड़े के रूप में आता था। इसका एक चादर पहनने और दूसरा ओढ़ने के काम में लिया जाता था। दुकूल के थान को काट कर अन्य वस्त्र भी बनाये जाते थे। बाण ने दुकूल के बने उत्तरीय, साड़ियां, पलंगपोश, तकियों के गिलाफ आदि का वर्णन किया है।[५१]

दुकूल के विषय में एक बात और भी विचारणीय है। बाद के साहित्यकारों तथा कोषकारों ने क्षोम और दुकूल को पर्याय माना है। स्वयं यशस्तिलक के टीकाकार ने दुकूल का अर्थ क्षौमवस्त्र किया है।[५२] अमरकोषकार ने भी दुकूल को पर्याय माना है।[५३] वास्तव में दुकूल और क्षोम एक नहीं थे। कौटिल्य ने इन्हें अलग-अलग माना है।[५४] बाण ने क्षोम की उपमा दूधिया रंग के क्षीर सागर से तथा अंशुक की सुकुमारता की उपमा दुकूल की कोमलता से दी है।[५५]

इस तरह यद्यपि क्षोम और दुकूल एक नहीं थे फिर भी इनमें अन्तर भी अधिक नहीं था। दुकूल और क्षोम दोनों एक ही प्रकार की सामग्री से बनते थे। इनमें अन्तर केवल यह था कि कुछ मोटा कपड़ा बनता वह क्षोम कहलाता तथा जो महीन बनता वह दुकूल कहलाता। दुकूल की व्याख्या करने के बाद कौटिल्य ने लिखा है कि इसी से काशी और पोंड्रदेश के क्षोम की भी व्याख्या हो गयी।[५६] गणपति शास्त्री ने इसका खुलासा करते हुए लिखा है कि मोटा दुकूल ही क्षोम कहलाता था।[५७] हेमचन्द्राचार्य ने इसे और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है कि क्षुमा अतसी (अलसी) को कहते हैं, उससे बना वस्त्र क्षोम कहलाता है। इसी तरह क्षुमा से (अलसी से) रेशे निकाल कर जो वस्त्र बनता है वह दुकूल कहलाता है।[५८] साधुसुन्दरगणि ने भी लिखा है कि दुकूल अलसी से बने कपड़े को कहते हैं।[५९] भारतवर्ष के पूर्वी भागों में (आसाम-बंगाल) में यह क्षुमा या अलसी नामक घास बहुतायत से होती थी। बंगाल में इसे कांखुर कहा जाता था।[६०] दुकूल और क्षोम इसी घास के रेशों से बनने वाले वस्त्र रहे होंगे।

सोमदेव ने दुकूल का कई बार उल्लेख किया है, किन्तु क्षोम का एक बार भी नहीं किया। संभव है सोमदेव के पहले से ही दुकूल और क्षोम पर्यायवाची माने जाने लगे हों और इसी कारण सोमदेव ने केवल दुकूल का प्रयोग किया हो। सोमदेव के उल्लेखों से इतना अवश्य मानना चाहिये कि दशवीं शताब्दी तक दुकूल का खूब प्रचार था तथा यह वस्त्र सम्भ्रान्त और बेशकीमती माना जाता था।

---

५१. अग्रवाल,—हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६

५२. दुकूलं क्षौमवस्त्रम्, यश० सं० पू०, पृ० ५६२ सं० टीका

५३. क्षौमं दुकूलं स्यात्। अमरकोष २,६,११३।

५४. अर्थशास्त्र २, ११

५५. क्षीरोदायमानं क्षौमैः, हर्षचरित, पृ० ६०।
चीनांशुकसुकुमारे—दुकूलकोमले, वही पृ० ३६

५६. तेन काशिकं पौण्ड्रकं च क्षौमं व्याख्यातम्, अर्थशास्त्र २, ११

५७. स्थूलं दुकूलमेव हि क्षौममिति व्यपदिश्यते, वही सं० टी०

५८. क्षुमा तमी तस्या विकारः क्षोमम्, दुह्यते क्षुमाया आकृष्यते दुगूलम्, अभिधानचिन्तामणि, ३।३३३

५९. दुकूलमृतसीपटे, शब्दरत्नाकर, ३।२१६

६०. डिक्शनरी आफ इकोनॉमिक प्रोडक्टस, भा० १, पृ० ४६८ ४६६। उद्धृत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६–७७

अंशुक—यशस्तिलक में कई प्रकार के अंशुक का उल्लेख है यथा—अंशुक सामान्य या सफेद अंशुक,[६१] कुसुमांशुक या ललाई लिये हुये रंग का अंशुक,[६२] कार्दमिकांशुक अर्थात् नीला या मटमैले रंग का अंशुक।[६३]

अंशुक भारत में भी बनता था तथा चीन से भी आता था। चीन से आने वाला अंशुक चीनांशुक कहलाता था। भारतीय जन दोनों प्रकार के अंशुकों से बहुत प्राचीन काल से परिचित हो चुके थे। चीनांशुक के विषय में ऊपर चीन वस्त्र की व्याख्या करते हुए विशेष लिखा जा चुका है, अतएव यहाँ केवल अंशुक या भारतीय अंशुक के विषय में विचार करना है।

कालिदास ने सितांशुक,[६४] अरुणांशुक,[६५] रक्तांशुक,[६६] नीलांशुक,[६७] तथा श्यामांशुक,[६८] का उल्लेख किया है। सम्भवतः अंशुक पहले सफेद बनता था, बाद में उसकी विभिन्न रंगों में रंगाई की जाती थी। कार्दमिकांशुक का अर्थ यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने कस्तूरी से रंगा हुआ वस्त्र किया है।[६९] कात्यायन के अनुसार भी शकल और कर्दम से वस्त्र रंगने का रिवाज था, जिन्हें शाकलिक या कार्दमिक कहते थे।(४।२।२ वा०)[७०]

बाण ने अंशुक का कई बार उल्लेख किया है। वे इसे अत्यन्त पतला और स्वच्छ वस्त्र मानते थे।[७१] एक स्थान पर मृणाल के रेशों से अंशुक की सूक्ष्मता का दिग्दर्शन कराया है।[७२] बाण ने फूल पत्तियों और पक्षियों की आकृतियों से सुशोभित अंशुक का भी उल्लेख किया है।[७३]

प्राकृत ग्रन्थों में 'अंसुय' शब्द आता है। आचारांग में अंशुक और चीनांशुक दोनों का पृथक पृथक निर्देश है।[७४] बृहत् कल्पसूत्र भाष्य में भी दोनों को अलग-अलग गिनाया है।[७५] प्राचीन भारतवर्ष में दुकूल के बाद सबसे अधिक व्यवहार अंशुक का ही देखा जाता है। सोमदेव के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दी में अंशुक का पर्याप्त प्रचार था।

कौशेय—कौशेय का उल्लेख सोमदेव ने विभिन्न देशों के राजाओं द्वारा भेजे गये उपहारों में किया है। कौशल नरेश ने सम्राट यशोधर को कौशेय वस्त्र उपहार में भेजे।

---

६१. सितपताकांशुक, यश० उत्त०, पृ० १३
६२. कुसुम्भांशुकपिहितगौरीपयोधर, वही, पृ० १४
६३. कार्दमिकांशुकाधिकृतकायपरिकरः, वही, पृ० २२०
६४. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा, विक्रमोर्वशी, ३, १२
६५. अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः, रघुवंश, ९,४३
६६. ऋतुसंहार, ६,४,२६
६७. विक्रमोर्वशी, पृ० ६०
६८. मेघदूत, पृ० ४१
६९. कार्दमिकं कर्दमेन रक्तम्, यश० उत्त०, पृ० २२०, सं० टी०
७०. उद्धृत, अग्रवाल-पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ० २२५
७१. सूक्ष्मविमलेन प्रज्ञावितानेनेवांशुकेनाच्छादितशरीरा, हर्षचरित,
७२. विषतन्तुमयेनांशुकेन, वही, पृ० १०।
७३. बहुविधकुसुमशकुनिशतशोभितादतिस्वच्छादंशुकात्, वही, पृ० ११४
७४. अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा, आचारांग, २, वस्त्र० १४, ६
७५. अंसुग चीणंसुगं च विगलेंदी, बृहत् कल्पसूत्र ० ४, ३६६१

कौशेय शहतूत की पत्ती खाकर कोश बनाने वाले कीड़ों के रेशम से बनाए जाने वाले वस्त्र का नाम था। [७६] देशी भाषा में अब इसका "कोशा" नाम शेष रह गया है। कोशा तैयार करने की वही पुरानी प्रक्रिया अब भी अपनाई जाती है। कौशा मंहगा, खूबसूरत तथा चिकना वस्त्र होता है मंहगा होने के कारण जन साधारण इसका सदा उपयोग नहीं कर पाते, फिर भी विशेष अवसरों के लिए कौशे के वस्त्र बनवा कर रखते हैं। बुन्देलखण्ड में अभी भी कौशे के साफे बांधने का रिवाज है।

कौशेय के विषय में कौटिल्य ने कुछ अधिक जानकारी दी है। अर्थशास्त्र में लिखा है कि पत्रोर्ण की तरह कौशेय की भी चार योनियां होती हैं अर्थात कौशेय के कीड़े नागवृक्ष, लिकुच, वकुल तथा वट के वृक्षों पर पाले जाते हैं और तदनुसार कौशेय भी चार प्रकार का होता है। नागवृक्ष पर पैदा किया गया पीतवर्ण, लकुचि पर पैदा किया गया गेहुंआ रंग का, वकुल पर पैदा किया गया सफेद तथा वट पर पैदा किया गया नवनीत के रंग का होता है। कौशेय चीन से भी आता था।[७७]

२. सिले वस्त्र

कंचुक—कंचुक एक प्रकार का कोट था, किन्तु सोमदेव ने चोली अर्थ में कंचुक का प्रयोग किया है। "खेतों में जाती हुई कृषक वधुएं कंचुक पहने थीं, जो कि उनके घटस्तनों के कारण फटे जा रहे थे।"[७८]

यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने कंचुक का अर्थ कूर्पासक किया है।[७९]

वारबाण—वारबाण का उल्लेख यशस्तिलक में अमृतमति के वर्णन के प्रसंग में आया है। अमृतमति जब अष्टवक्र के साथ रति करके लौटी और जा कर यशोधर के साथ लेट गयी, उस समय जोर जोर से चल रहे उसके श्वासोच्छ्वास से उसका वारबाण कंपित हो रहा था।[८०] श्रुतदेव ने वारबाण का अर्थ कंचुक किया है।[८१] अमरकोषकार ने भी कंचुक और वारबाण को एक माना है।[८२] किन्तु वास्तव में वारबाण कंचुक की तरह का हो कर भी कंचुक से भिन्न था। यह कंचुक की अपेक्षा कुछ कम लम्बा, घुटनों तक पहुँचाने वाला कोट था। डा० अग्रवाल ने इसका परिचय निम्नप्रकार दिया है—

काबुल से लगभग २० मील उत्तर खैरखाना से चौथी शती की एक संगमरमर की मूर्ति मिली है। वह घुटने तक लम्बा कोट पहने हैं, जो वारबाण का रूप है।[८३] ठीक वैसा ही कोट पहने अहिच्छत्रा के खिलौनों में एक पुरुष मूर्ति मिली है।[८४]

---

७६. कौशेयः कौशलेन्द्रः यश० सं० पू०, पृ० ४७०
७७. मोतीचन्द्र-भारतीय वेशभूषा, पृ० ६५
७८. नागवृक्षो लिकुचो वकुलो वटश्च योनयाः। पीतिका नागवृक्षिका, गोधूमवर्णा लौकुची, श्वेता वाकुली, शेषा नवनीतवर्णा।—तया कौशेयं चीनपटाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः। अर्थशास्त्र, २, ११।
७९. देखो—उद्धरण संख्या ७८
८०. कंचुकानि कूर्पासकाः, यश० सं० पू०, पृ० १६ सं० टी०।
८१. निरुन्धाना चोत्कम्पोतालितवारबाणम्, यश०उत०, पृ० ५१
८२. वारबाणं कंचुकम्, वही, सं० टी०।
८३. कंचुको वारबाणो स्त्री, अमरकोष, २, ८, ६४।
८४. अग्रवाल–हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५०

मथुरा कला में प्राप्त सूर्य और उनके पार्श्वचर दण्ड और पिंगल की वेशभूषा में जो ऊपरी कोट है वह वारबाण ही ज्ञात होता है। मथुरा संग्रहालय, मूर्ति सं० १२५६ की सूर्य की मूर्ति का कोट उपर्युक्त खैरखाना की सूर्य-मूर्ति के कोट जैसा ही है। मूर्ति संख्या ५१३ की पिंगल मूर्ति भी घुटने तक नीचा कोट पहने है। मथुरा में और भी आधी दर्जन मूर्तियों में यह वेशभूषा मिलती है।[८५]

वारबाण भारतीय वेशभूषा में सासानी ईरान की वेशभूषा से लिया गया। वारबाण पहलवी शब्द का संस्कृत रूप है। इसका फारसी रूप "वरबान" अरमाइक भाषा में "वरपानक (Varpanak) सीरिया की भाषा में इन्हीं से मिलता जुलता "गुरमानका" (gurmanaka) और अरबी में "जुरमानकह" (Gurmanaqah) रूप मिलते हैं, जो सब किसी पहलवी मूल शब्द से निकले होने चाहियें।[८६]

भारतीय साहित्य में वारबाण के उल्लेख कम मिलते हैं। कौटिल्य ने ऊनी कपड़ों में वारबाण की गणना की है।[८७] कालीदास ने रघु के योद्धाओं को वारबाण पहने हुए बताया है।[८८] मल्लिनाथ ने वारबाण का अर्थ कंचुक किया है।[८९] बाणभट्ट ने सेना में सम्मिलित हुए कुछ राजाओं को स्तवरक के बने वारबाण पहने बताया था।[९०] दधीच का अंगरक्षक सफेद वारबाण पहने था।[९१] कादम्बरी में भी बाणभट्ट ने वारबाण का उल्लेख किया है। चन्द्रापीड जब शिकार खेलने गया तब उसने वारबाण पहन रखा था। मृग-रक्त के सैकड़ों छींटे पड़ने से उसकी शोभा द्विगुणित हो गयी थी।[९२] मृगया से लौट कर चन्द्रापीड परिजनों द्वारा लाये गये आसन पर बैठा और वारबाण उतार दिया।[९३]

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वारबाण केवल जिरह बख्तर के लिये नहीं, बल्कि साधारण वस्त्र के लिये भी आता था। कौटिल्य के उल्लेखानुसार तो वारबाण ऊनी भी बनते रहे होंगे। बाणभट्ट को वारबाण की जानकारी हर्ष के दरबार में हुई होगी। भारतवर्ष में यह वस्त्र कब से आया, यह कहना मुश्किल है किन्तु इसके अत्यल्प उल्लेखों से लगता है कि वारबाण का प्रयोग राजघरानों तक ही सीमित रहा। सम्भव है अधिक मंहगा होने से इसका प्रचार जनसाधारण में न हो पाया हो। सोमदेव के उल्लेख से इतना निश्चय अवश्य हो जाता है कि दसवीं शताब्दी तक भारतीय राज्य-परिवारों में वारबाण का व्यवहार होता आया था तथा कंचुक की तरह वारबाण भी स्त्री–पुरुष दोनों पहनते थे।

चोलक—चोलक का उल्लेख सोमदेव ने सेनाओं के वर्णन के प्रसंग में किया है। गौण सैनिक पैरों

८४. अग्रवाल–अहिच्छत्रा के खिलौने, चित्र ३०५, पृ० १७३, ऐन्शेण्ट इंडिया
८५. अग्रवाल–हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५०, फुटनोट ८६
८६. ट्रांजेक्शन आफ दी फिलोलाजिकल सोसायटी आफ लन्दन, १९४५, पृ० १५४, फुटनोट, हेनिंग। उद्धृत, अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५१
८७. वारबाणः परिस्तोमः समन्तभद्रकं च आविकम्, अर्थशास्त्र, २९, ११
८८. तद्योधवारबाणानाम्, रघुवंश ४।५५
८९. वारबाणानां कंचुकानाम्, वही, सं० टी०
९०. तारमुक्तास्तवकितस्तवरकवारबाणैश्च, हर्षचरित, पृ० २०६
९१. धवलवारबाणधारिणम्, वही, पृ० २४
९२. मृगरुधिरलवशतशबलेन वारबाणेन, कादम्बरी, पृ० २१५।

तक लम्बा (म्राप्रपदीन) चोलक पहने थे।[९४] संस्कृत टीकाकार ने चोलक का अर्थ कूर्पास किया है।[९५] किन्तु देखना यह है कि टीकाकार इन वस्त्रों के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किये बिना ही कुछ भी अर्थ कर देता है। ऊपर कंचुक के लिए कूर्पासक कहा है यहां चोलक के लिए। वास्तव में ये सभी वस्त्र अलग-अलग तरह के थे।

चोलक के विषय में डा० अग्रवाल ने निम्न प्रकार जानकारी दी है—

चोलक एक प्रकार का वह कोट था, जो कंचुक या अन्य सभी प्रकार के वस्त्रों के ऊपर पहना जाता था। यह एक सम्भ्रान्त या आदर-सूचक वस्त्र समझा जाता था। उत्तर-पश्चिम भारत में सर्वत्र जोशे के लिए इस वेश का रिवाज लोक में अभी भी है, जिसे चोला कहते हैं। चोला ढीला-ढाला गुल्फों तक लम्बा खुले गले का पहनावा है, जो सब वस्त्रों से ऊपर पहना जाता है।[९६]

मध्य एशिया से आने वाले शक लोग इस वेश को भारत में लाये होंगे और उनके द्वारा प्रचारित होकर यह भारतीय वेशभूषा में समा गया।[९७]

मथुरा संग्रहालय में जो कनिष्क की मूर्ति है, उसमें नीचे लम्बा कंचुक और ऊपर सामने से धुरा-धुर सामने से खुला हुआ एक कोट दिखाया गया है, जिसकी पहचान चोलक से की जा सकती है।[९८] मथुरा से प्राप्त हुई सूर्य की कई मूर्तियों में भी इसी प्रकार के खुले गले का ऊपरी पहरावा पाया जाता है। चष्टन की मूर्ति का भी ऊपरी लम्बा वेश चोलक ही ज्ञात होता है। इसका गला सामने से तिकोना खुला है। कनिष्क और चष्टन के चोलकों में अन्तर है। ये दोनों दो प्रकार के हैं। कनिष्क का धुराधुर बीच में खुलने वाला है और चष्टन का दुपरता जिसका ऊपर का परत बायीं तरफ से खुलता है तथा बीच में गले के पास तिकोना भाग खुला दिखाई देता है। कनिष्क की शैली का चोलक मथुरा संग्रहालय की डी० ४६ संज्ञक मूर्ति में और भी स्पष्ट है।[९९]

मध्य एशिया से लगभग सातवीं शती का एक ऐसा ही पुरुष चोलक प्राप्त हुआ है, जिसका गला तिकोना खुला है।[१००] चष्टन शैली के चोलक का एक सुन्दर नमूना लाप मरुभूमि से प्राप्त मृण्मय मूर्ति के चोलक में उपलब्ध है। यह उत्तरी वाईवंश (३८६-५२५) के समय का है।[१०१]

बाणभट्ट ने राजाओं के वेश-भूषा में चीन-चोलक का उल्लेख किया है।[१०२]

---

९३. परिजनोपनीत उपविश्यासने वारबाणमवतार्य, वही, पृ० २१६

९४. आ.प्रपदीनचोलकस्खलितगतिवैलक्ष्य, यश० सं० पू०, पृ० ४६६

९५. चोलकः कूर्पासकः, वही, सं० टी०।

९६. अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५२

९७. अग्रवाल-वही, पृ० १५१
मोतीचन्द्र-भारतीय वेशभूषा, पृ० १६१

९८. मथुरा म्युजियम हैंडबुक, चित्र ४, उद्धृत, अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५१

९९. अग्रवाल-वही, पृ० १५२

१००. वायवी सिलवान-इन्वेस्टिगेशन आफ सिल्क फाम एड्सन गौल एण्ड लापनार (स्टाकहोम, १९४९) प्ले० ८-ए। उद्धृत, अग्रवाल-वही, पृ० १५२

१०१. वायवी सिलवान-वही, पृ० ८३, चित्र सं० ३२। उद्धृत, अग्रवाल-वही, पृ० १५२

१०२. चापचितचीनचोलकैः, हर्षचरित, पृ० २०६

चण्डातक—चण्डातक का उल्लेख सोमदेव ने चण्डमारी देवी का वर्णन करते हुए किया है। गीला चमड़ा ही उस देवी का चण्डायक था।

चण्डातक का अर्थ अमरकोषकार ने जांघों तक पहुंचने वाला अधोवस्त्र किया है।[१०३] यह एक प्रकार का जांघिया या घंघरीनुमा वस्त्र था, जिसे स्त्री और पुरुष दोनों पहनते थे।[१०४]

उष्णीष—शिरोवस्त्र में सोमदेव ने उष्णीष और पट्टिका का उल्लेख किया है। उत्तरापथ के सैनिक रंग-बिरंगा उष्णीष पहनते थे।[१०५] दक्षिणापथ के सैनिकों ने बालों को पट्टिका से कस कर बांध रखा था।[१०६]

सोमदेव के उल्लेख से उष्णीष के आकार प्रकार या बांधने के ढंग पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, केवल इतना ज्ञात होता है कि उष्णीष कई रंग के बनते थे। सम्भव है इनकी रंगाई बांधने के ढंग से की जाती हो। बुन्देलखण्ड के लोकगीतों में पंचरंग पाग (उष्णीष) के उल्लेख आते हैं।

डा० मोतीचन्द्रजी ने साहित्य का मरहुत, सांची और अमरावती की कला में अंकित अनेक प्रकार की पगड़ियों का वर्णन 'भारतीय वेशभूषा' पुस्तक में किया है।

कौपीन—कौपीन का उल्लेख सोमदेव ने एक उपमालंकार में किया है। दाक्षिणात्य सैनिक जांघों से एकदम सटा हुआ वस्त्र पहने थे, जिससे वे कौपीनधारी थेवानल की तरह लगते थे।[१०७]

कौपीन एक प्रकार का छोटा चादर कहलाता था जिसका उपयोग साधु पहनने के काम में करते थे।

उत्तरीय—उत्तरीय का उल्लेख भी तीन बार हुआ है। मुनिकुमार युगल शरीर ही शुभ्र प्रभा के कारण ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे उन्होंने दुकूल का उत्तरीय ओढ़ रखा हो।[१०८] कुमार यशोधर के राज्याभिषेक का मुहूर्त निकालने के लिए जो ज्योतिषी लोग इकट्ठे हुए थे, वे दुकूल के उत्तरीय से अपने मुंह ढके थे।[११०]

राजमाता चन्द्रमति ने संध्याराग की तरह हलके लाल रंग का उत्तरीय ओढ़ रखा था (संध्यारागोत्तरीयवसनाम्, उत्त० ८२)। ओढ़ने वाले चादर को उत्तरीय कहा जाता था। अमरकोषकार ने उत्तरीय को ओढ़ने वाले वस्त्रों में गिनाया है।[१११]

चीवर—एक उपमा अलंकार में चीवर का उल्लेख है। चीवर की ललाई से अन्त:करण के अनुराग की उपमा दी गयी है।[११२]

बौद्ध भिक्षुओं के पहिनने ओढ़ने के काषाय वर्ण के चादर चीवर कहलाते थे। महावग्ग में चीवरखन्धक नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण है, जिसमें भिक्षुओं के लिए तरह तरह की कथाओं के माध्यम

---

१०३. चण्डातकमार्द्रचर्माणि, यश० सं० पू०, पृ० १५०
१०४. अर्धोरुकं वरस्त्रीणां स्याच्चण्डातकमस्त्रियाम्, अमरकोष, २, ६, ११६।
१०५. मोतीचन्द्र-भारतीय वेशभूषा, पृ० २३
१०६. भागभागार्पितानेकवर्णवसनवेष्टितोष्णीषम्, यश० सं० पू०, ४६५
१०७. पट्टिकाप्रतानघटितोद्भटजूटम्, वही, पृ० ४६१
१०८. आवंक्षणोत्श्लिष्टनिबिडनिवसनं सकोपीनं वैखानसवृन्दमिव, यश० सं० पू०, पृ० ४६२
१११. वपुप्रभापटलदुकूलोत्तरीयम्, यश. स. पू., पृ०, १५६
११० उत्तरीयदुकूलांचलपिहितबिम्बिना, वही, पृ० ३१६
१११. संव्यानमुत्तरीयं च, अमरकोष, २, ६, ११८
११२. चीवरोपरागनिरतान्तःकरणेन, यश० उत्त०, पृ० ८

से चीवरों के विषय में ज्ञातव्य सामग्री प्रस्तुत की गयी है।[११३] चीवर कपड़ों के अनेक टुकड़ों को एक साथ सिलकर बनाए जाते हैं।

अवान—आश्रमवासी तपस्वियों के वस्त्रों के लिए यशस्तिलक में अवान शब्द आया है।[११४]

परिधान—अधोवस्त्रों में सोमदेव ने परिधान और उपसंव्यान शब्दों का उल्लेख किया है। एक उक्ति में सोमदेव कहते हैं कि जो राजा अपने देश की रक्षा न करके दूसरे देशों को जीतने की इच्छा करता है वह उस पुरुष के समान है जो धोती खोल कर सिर पर साफा बान्धता है।[११५] अमरकोषकार ने नीचे पहनने वाले वस्त्रों में परिधान की गणना की है।[११६] बुन्देलखण्ड में अभी भी धोती को पर्दनी या परदनिया कहा जाता है, जो इसी परिधान शब्द का बिगडा हुआ रूप है।

उपसंव्यान—उपसंव्यान का दोबार उल्लेख है। एक कथा के प्रसंग में एक अध्यापक बकरा खरीदता है और अपने शिष्य से कहता है कि इसे उपसंव्यान से अच्छी तरह बांध कर लाना।[११७] यहां पर संस्कृत टीकाकार ने उपसंव्यान का अर्थ उत्तरीय वस्त्र किया है।[११८]

राजमाता ने सभा मंडप में जाते समय उपसंव्यान धारण किया था। (अरुणमणिमौलिमयूखोन्मुखराजिरंजितोपसव्यानाम्, उत्त० ८२) यहां संस्कृत टीकाकार ने अधोवस्त्र ही अर्थ किया है।

परिधान और उपसंव्यान में क्या अन्तर था, यह स्पष्ट नहीं होता।[११९] अमरकोषकार ने दोनों को अधोवस्त्र कहा है। हेमचन्द्र ने भी दोनों को अधोवस्त्र कहा है।[१२०] यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार द्वारा एक स्थान पर अधोवस्त्र और एक स्थान पर उत्तरीय अर्थ करने से प्रतीत होता है कि टीकाकार को उपसंव्यान के अर्थ का ठीक पता नहीं था। अमरकोपकार ने अधोवस्त्र के लिए उपसंव्यान और उत्तरीय के लिए संव्यान[१२१] पद दिया है। सम्भवतया इसी शब्द व्यवहार से भ्रमित हो कर टीकाकार ने यह अर्थ कर दिया।

गुह्या—गुह्या का उल्लेख शंखनक नामक दूत के वर्णन में हुआ है। शंखनक ने पुराने गोन की गुह्या पहन रखी थी।[१२२] गुह्या का अर्थ श्रुतसागर ने कच्छोटिका किया है।[१२३]

बुन्देलखण्ड में बिना सिले वस्त्र को लंगोट की तरह पहनने को कछुटिया लगाना कहते हैं। यहां गुह्या से सोमदेव का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

हंसतूलिका—हंसतूलिका का उल्लेख सोमदेव ने अमृतमति महारानी के भवन के प्रसंग में किया

---

११३. महावग्ग, चीवरक्खन्धकं।

११४. अपरगिरिशिखराश्रयाश्रमवासतापसावानवितानितधातुजलपाटलपटप्रतानस्मृशि, यश० उत्त० पृ० ५

११५. अकृत्वा निजदेशस्य रक्षां यो विजिगीषते सः नृपः परिधानेन वृतमौलिः पुमानिव ॥.
यश. सं. पू., पृ, ७४

११६. अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्य धों शुके। अमरकोष, २, ६, ११७।

११७. तदतियत्नमुपसंव्यानेन बद्धवानीयताम्, यश. उत्त. पृ. १३२

११८. उपसंव्यानेन उत्तरीयवस्त्रेण, वही, सं. टी.।

११९. देखिए-उद्धरण ११६

१२०. परिधानं त्वधोंशुकम्, अन्तरीयं निवसनमुपसंव्यानमित्यपि। अभिधान चिन्तामणि

१२१. संव्यानमुत्तरीयं च, अमरकोष, २, ६,११८

१२२. पटच्चरपर्याणगोणीगुह्यापिहितमेहनः, यश. सं. पू., पृ० ३९८

१२३. गुह्या कच्छोटिका, वही, सं. टी.

है। अमृतमति के पलंग पर हंसतूलिका बिछी थी, जिस पर तरंगित दुकूल का चादर बिछा था।[१२४] संस्कृत टीकाकार ने हंसतूलिका का अर्थ प्रास्तरण विशेष किया है।[१२५]

उपधान—तकिए के लिए सोमदेव ने अत्यन्त प्रचलित संस्कृत शब्द उपधान का प्रयोग किया है। अमृतमति के अन्तःपुर में पलंग के दोनों ओर दो तकिए रखे थे, जिससे दोनों किनारे ऊंचे हो गये थे।[१२६]

कन्था—यशस्तिलक में कन्था का उल्लेख दो बार आया है। शीतकाल के वर्णन में सोमदेव ने लिखा है कि इतने जोरों की ठंड पड़ रही थी कि गरीब परिवारों में पुरानी कन्थाएं चिथड़ा हुई जा रही थीं।[१२७] एक अन्य स्थान पर दुःस्वप्न के कारण राज्य छोड़ने के लिए तत्पर सम्राट यशोधर को राजमाता समझाती है कि जूं के भय से क्या कन्था भी छोड़ दी जाती है।[१२८]

कन्था, जिसे देशी भाषा में कथरी कहा जाता है, अनेक पुराने जीर्ण-शीर्ण कपड़ों को एक साथ सिल कर बनाए गये गद्दे को कहते हैं। गरीब परिवार जो ठंड से बचाव के लिए गर्म या रूई भरे हुए कपड़े नहीं खरीद सकते वे कन्थाएं बना लेते हैं। ओढ़ने और बिछाने दोनों कामों में कन्थाओं का उपयोग किया जाता है। मोटी होने से इन्हें जल्दी से धोना भी मुश्किल होता है, इसी कारण इनमें जूं भी पड़ जाती है।

नमत[१२९]—यशस्तिलक में नमत (हि० नमदा) का उल्लेख एक ग्राम के वर्णन के प्रसंग में आया है। उज्जयिनी के समीप में एक ग्राम के लोग नमदे और चमड़े की जीनें बना कर अपनी आजीविका चलाते थे।[१३०] संस्कृत टीकाकार ने नमत का अर्थ ऊनी खेल या चादर किया है।[१३१]

नमदे भेड़ों या पहाड़ी बकरों के रोएं को कूट कर जमाए हुए वस्त्र को कहते हैं। काश्मीर के नमदे अभी भी प्रसिद्ध हैं।

निचोल—यशस्तिलक में निचोल के लिए निचल शब्द आया है।[१३२] संस्कृत टीकाकार ने एक स्थान पर निचोल का अर्थ कंचुक किया है[१३३] तथा दूसरे स्थान पर प्रावरणवस्त्र किया है।[१३४] सुन्दरलाल शास्त्री ने भी इसी के आधार पर हिन्दी अनुवाद में भी उक्त दोनों ही अर्थ कर दिये हैं।[१३५] प्रसंग की दृष्टि से निचल का अर्थ कंचुक यहां ठीक नहीं बैठता। अमरकोषकार ने

---

१२४. तरंगितदुकूलपटप्रसाधितहंसतूलिकम्, यश० उत्त०, पृ० ३०
१२५. हंसतूलिका प्रास्तरणविशेषः, वही, सं० टी०।
१२६. उपधानद्वयोत्तम्भितपूर्वापर भागम्, यश० उत्त०, पृ० ३०
१२७. शिथिलयति दुर्विधकुटुम्बेषु जरत्कन्थापटच्चराणि, यश० सं० पू०, पृ० ५७
१२८. मयेन किं मन्दविसर्पिणीनां कन्थां त्यजन्कोऽपि निरीक्षितोऽस्ति। यश० उत्त०, पृ० ८६
१२९. मुद्रित प्रति का तमत पाठ गलत है।
१३०. नमताजिनजेणाजीवनोटजाकुले, यश० उत्त० पृ० २१८
१३१. नमतम् ऊर्णामयास्तरणम्, वही, सं० टी०।
१३२. जगद्वलयनीलनिचलेष, निचलसनाथनुपतिचापसपादिपु, यश० सं० पू०, पृ० ७१-७२
१३३. नीलनिचिलः कृष्ण वर्णनिचोलकः, कुंचुकः, वही, सं० टी०।
१३४. निचलसनाथानि प्रावरणवस्त्रसहितानि, वही, सं० टी०।
१३५. सुन्दरलाल शास्त्री—हिन्दी यशस्तिलक, पृ० ४०

निचोल का अर्थ प्रच्छद पट अर्थात बिछाने का चादर किया है।[136] क्षीरस्वामी ने इसे और भी अधिक स्पष्ट किया है कि जिससे शय्या आदि प्रच्छादित की जाए उसे निचोल कहते हैं।[137] शब्दरत्नाकर में भी निचोलक, निचुलक, निचोल निचोलि और निचुल ये पांच शब्द प्रच्छादक वस्त्र के लिए आए हैं।[138] यही अर्थ यशस्तिलक में भी उपयुक्त बैठता है। सोमदेव ने लिखा है कि काले काले मेघ पृथ्वी-मण्डल पर इस तरह छा गये, जैसे नीला प्रच्छदपट बिछा दिया हो।[139]

चन्दौवा—चन्दौवा के लिए यशस्तिलक में सिचयोल्लोच तथा वितान शब्द आए हैं। सोमदेव ने लिखा है कि राजपुर में गगनचुम्बी शिखरों पर लगे हुए सुवर्ण-कलशों से निकलने वाली कान्ति से आकाश-लक्ष्मी के भवन में चन्दोवा सा बन रहा था।

एक दूसरे प्रसंग में सोमदेव ने लिखा है कि अस्ताचल पर रहने वाले साधुओं ने अपने अचान सुखने के लिए वितान (चन्दोवा) की तरह डाल रखे थे। चण्डमारी के मन्दिर में पुराने चमड़े के बने वितान का उल्लेख है।

अमरकोष में उल्लोच और वितान समानार्थी शब्द हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय वस्त्र एवं वेश भूषा के अध्ययन के लिये यशस्तिलक चम्पू एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिससे तत्कालीन भारतीय एवं विदेशी वेश भूषा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

---

१३६. निचोलः प्रच्छदपटः, अमरकोष, २, ६, ११५

१३७. निचोलते अनेन निचोलः येन तूलशय्यादि प्रच्छाद्यते, वही, सं० टी०।

१३८. निचोलको निचुलको निचौलं च निचौल्यपि। निचुलो वसरधिकायां स्मृता पर्यस्तिकायुता॥
शब्दरत्नाकर ३, २२५।

१३९. पयोधरोन्नतिजनितजगद्वलयनीलनिचोलेपु, यश० सं० पू०, पृ० ७१

●

'बप्पभट्टिचरित्' : ऐतिहासिक महत्त्व

हरिअनन्त फड़के

इतिहास विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

आचार्य प्रभाचंद्र लिखित प्रभावकचरित जैनियों का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। विक्रम की १ली शती से लेकर १३वीं शती के पूर्वभाग तक के जैनधर्म के अनेक आचार्यों के जीवन का इतिहास इस ग्रंथ में संकलित किया गया है। इसका आधार जैसा कि ग्रंथकार ने प्रस्तावना में लिखा है प्राचीन ग्रंथ और बहुल विद्वानों से सुनी हुई परम्पराएं हैं।[1] ई० स० १२७७ में इस ग्रंथ की रचना पूरी हुई इसलिये कतिपय आधुनिक विद्वान् भारत के प्राचीन इतिहास को जानने के लिये इसका प्रामाण्य स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं।[2] लेखक के विचार में इस ग्रंथ में भी ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। ग्रंथ कुछ बाद का होने से उसकी प्रामाणिकता के बारे में हमें संदेह नहीं होना चाहिये। बृहत्कथा और मुद्राराक्षस का अध्ययन क्या हम मौर्य साम्राज्य के इतिहास के लिये नहीं करते ? ग्रंथ में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का दूसरे ऐतिहासिक साधनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से यदि उसकी सत्यता प्रमाणित होती है तो उसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जैनधर्म के महत्व को स्थापित करना इस ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य है। इसके लिये अत्यन्त उपयुक्त और सुन्दर विषय जैन आचार्यों का जीवन ही हो सकता है। इसे ही माध्यम बनाकर घटनाओं का वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक घटनाओं को भी इस तरह घुमाया गया है जिससे कि जैनधर्म की महिमा प्रकट हो। इसलिये हमारी आधुनिक दृष्टि में यदि इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व कम हो जाता है तो इसमें आश्चर्य नहीं। परन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि ग्रंथ का स्वरूप धार्मिक होते हुए भी प्रसंगवश इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत किया गया है जिसके सूक्ष्म अध्ययन से उस समय के इतिहास को स्पष्ट करना संभव है। आश्चर्य तो यह है कि बप्पभट्टि चरित में वर्णित घटनाओं की पुष्टि स्कन्दपुराण और प्रतिहार सम्राट् मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति से हो जाती है जो इस ग्रंथ के महत्व को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही इस ग्रंथ में सूचित ऐतिहासिक घटनाओं की विवेचना प्रस्तुत निबंध में की गयी है।

'बप्पभट्टिचरित्' प्रभावकचरित का एक अंश है। कन्नोज के राजा आम-नागावलोक के सभा पंडित आचार्य बप्पभट्टि का जीवनचरित इसका विषय है। इस आम-नागावलोक का समीकरण इतिहासकारों[3] ने कन्नोज के प्रतिहार सम्राट् नागभट

---

१. बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राग्ग्रन्थेभ्यश्च कानिचित् । उपश्रुत्येतिवृत्तानि वर्णयिष्ये कियन्त्यपि । १ । -प्रभावकचरित (सिंघी जैन ग्रंथमाला) प्रस्तावना, संवत् १९९७ ।

२. डा० रमेशचन्द्र मुजुमदार "हिस्ट्री ऑफ बंगाल" पृ० १११-१३, सिनहा डिक्लाइन ऑफ द किंगडम ऑफ मगध; पृ० ३६८ ।

३. इंडियन इंटीक्वेरी, १९११, पृ० २३९-४०, डा० त्रिपाठी, 'हिस्ट्री आफ कन्नोज, पृ० २३५ डा० अलतेकर, 'राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स' पृ० ८३, एपि० इंडि०, भा० २, पृ० १२१-२६ ।

द्वितीय के साथ किया है। प्रतिहारों का मूलस्थान राजस्थान में था और उनकी राजधानी संभवतः जालौर थी।[४] नागभट द्वितीय के समय में प्रतिहारों ने कन्नौज जीता और वहीं अपनी राजधानी बदली। सम्भवतः इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण ही बप्पभट्टिचरित् में ग्राम-नागावलोक को कन्नौज के राजा यशोवर्मन का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात असत्य जान पड़ती है क्योंकि नागावलोक का शासनकाल इसी ग्रंथ के आधार पर लगभग ७९२–८३३ ई० स० तक रहा है। यह समय कन्नौज के शासक यशोवर्मन (ई० स० ७२४–७५२) के बहुत बाद का है अतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पठारी स्तम्भलेख[५] के अनुसार राष्ट्रकूट कर्क ने नागावलोक को पराजित किया था। सम्भवतः उसने गोविन्द तृतीय के साथ उत्तरभारतीय युद्धों में भाग लिया जिसमें नागभट द्वितीय की पराजय हुई थी। इसी नागभट्ट के प्रपितामह नागभट प्रथम को भी उसके भड़ौंच के सामन्त राजा भर्तृवध्य द्वितीय के हन्सोट अभिलेख[६] में नागावलोक कहा है। अतः यह संभव है कि कुछ प्रतिहार सम्राटों ने नागावलोक की उपाधि धारण की हो। बप्पभट्टिचरित् में भी इसे उपाधि के रूप में ही बताया गया है। इसके अतिरिक्त स्कन्द पुराण के धर्मारण्य महात्म्य[७] में कन्नौज के आम-नामक राजा का वर्णन है जो सार्वभौम राजा था और जिसके समय में जैनधर्म का प्रचार हुआ था। यह वर्णन बप्पभट्टि के आम-नागावलोक से बहुत मिलता है।

८वीं–९वीं और १०वीं शतियां भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्व की है। कन्नौज के प्रतिहार बंगाल के पाल तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों में अखिल भारतीय प्रभुत्व के लिये एक भयंकर संघर्ष इसी समय हुआ था। कन्नौज के प्रतिहार और बंगाल के पाल गंगाघाटी पर अधिकार करने लिये किस तरह निरन्तर युद्धरत रहे थे इसका प्रमाण उनके शत्रु, राष्ट्रकूटों के अभिलेखों से भी प्राप्त होता

४. जैन ग्रन्थ कुवलयमाला के अनुसार ई० स० ७७८ में वत्सराज जावालिपुर (जालौर) का शासक था। इस वत्सराज को विद्वानों ने प्रतिहार राजा वत्सराज माना है।

५. एपि० इंडि०, भा० ९, पृ० २५५।

६. वही, भा० १२, पृ० २०२।

७. इदानी च कलौ प्राप्ते आमो नाम्ना बभूव हि कान्यकुब्जाधिपः श्रीमान धर्मज्ञो नीतितत्परः ॥११॥
एतच्छ्रुत्वा गुरोरेव कान्यकुब्जाधिपो बलि। राज्यं प्रकुरुते तत्र आमो नाम्नाहि भूतले ॥३४॥
सार्वभौमत्वमापन्नः प्रजापालनतत्परः। प्रजानां कलिना तत्र पापे बुद्धिरजायत ॥३५॥
वैष्णवं धर्ममुत्सृज्य बौद्धधर्ममुपागताः। प्रजास्तमनुवर्तिन्यः क्षपणैः प्रतिबोधिताः ॥३६॥
अधुना वाडव श्रेष्ट आमो नाम महीपतिः शासनं रामचन्द्रस्य न मानयति दुर्मतिः
जामाता तस्य दुष्टो वै नाम्ना कुमारपालकः पाखण्डैर्वेष्टितो नित्यं कालधर्मेण सम्मतः
इन्द्रसूरेण जैनेन प्रेरितो बौद्धधर्मिणा। १८४–८६। स्कन्दपुराण-ब्रह्मखंड-धर्मारण्य महात्म्य।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुराण में जैन धर्म और बौद्ध धर्म में अंतर नहीं रखा गया है। दोनों का ही एक साथ उल्लेख इस प्रसंग में किया गया है। एक दूसरे प्रसंग में इस पुराण में मोहेरक नामक नगर की चर्चा है। प्रभावक चरित् के अनुसार बप्पभट्टि के गुरु सिद्धसेन मोढेरक के निवासी थे। क्या इन दोनो में अभिन्नता संभव नहीं? प्रश्न विचारणीय है। लेखक के विचार में इनकी समानता गुजरात के मोढेरा से हो सकती है। आम नागावलोक का प्रभाव गुजरात तक था। ग्वालियर प्रशस्ति में उसके द्वारा आवर्त के अपहरण का उल्लेख है। बप्पभट्टिचरित् के अनुसार भी उसने सोमनाथ की यात्रा की थी।

है।[८] उस युग की इस महत्वपूर्ण घटना को विस्मृत कर देना किसी भी प्रतिभाशाली लेखक के लिये संभव नहीं था। बप्पभट्टिचरित् में बंगाल के राजा धर्मपाल और कन्नौज के आम-नागावलोक के बीच चिर शत्रुता का संकेत है।[९] इसका उपयोग भी जैन सिद्धान्तों की सर्वोच्चता दिखाने के लिये करना था इसीलिये सम्भवतः यह संघर्ष इस ग्रंथ में धर्मपाल के सभा पंडित सौगताचार्य वर्धन कुंजर और जैनाचार्य बप्पभट्टि के बीच दार्शनिक वादविवाद का स्वरूप धारण कर लेता है।[१०] विजय अंत में बप्पभट्टि की होती है। प्रतिहार शासक बाउक की जोधपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसके पूर्ववर्ती शासक कक्क ने मुद्गगिरी में गौड़ों को परास्त कर यश प्राप्त किया था।[११] यह शासक सम्राट नागभट का समकालीन और अधीन शासक प्रतीत होता है। उसके लिये अकेले ही गौड़ों को हराना सम्भव नहीं जान पड़ता सम्भवतः उसने अपने सम्राट् नागभट की ओर से पालों के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया हो। ऊपर वर्णित दार्शनिक वाद-विवाद भी दोनों राज्यों की सीमा पर हुआ था। क्या यह संकेत मुद्गगिरि के संघर्ष की ओर नहीं? इस विवाद के परिणाम स्वरूप धर्मपाल की पराजय वर्णित है। ग्वालियर प्रशस्ति[१२] में भी नागभट् और बंगपति के बीच भयंकर संघर्ष का वर्णन है जिसमें बंगपति की बुरी तरह हार हुई थी। बंगाल जाने के पूर्व बप्पभट्टिचरित् के अनुसार आम नागावलोक गोदावरी[१३] के तट पर गया था। ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार आंध्र, सैन्धव, कलिंग और विदर्भ ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया था। जैसा कि डा० मजुमदार महोदय ने लिखा है नागभट ने इन राज्यों का बंगाल के विरुद्ध एक संघ बनाया

चंडीगढ़ के समीप पिंजौर नामक एक स्थान है। प्राचीन जैन मंदिरों के अवशेष आज भी वहां दिखाई देते हैं। मनुष्य के कद की जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें वहां विद्यमान हैं। अलबेरुनी ने पिंजौर का उल्लेख किया है। क्या इन मन्दिरों का इस समय के इतिहास से कोई सम्बन्ध है? लेखक के मन में अनेक शङ्कायें हैं। इन पुरातन अवशेषों का अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है। अपने मित्र डा० मिश्रा के हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने वहां स्वयं जाकर यह सूचना प्राप्त की है।

८. राधनपुर, वाणी डिंडोरी तथा संजान ताम्रपत्र

९. परमेस्त्यामराजेन दुर्ग्रहो विग्रहाग्रहः। तदाल्ह्वानाद् यदा पश्चात् याति तन्मे तिरस्कृतिः ॥१६८॥
गुहागतो नृपः शत्रुर्नार्चितो न च साधितः। द्विधापि चिरवैरस्य निवृतिर्नप्रवर्तिता ॥२६१॥

१०. राज्ये नः सौगतो विद्वान् नाम्ना वर्धनकुंजरः। बप्पभट्टिचरित्।
महावादी दृढ़प्रज्ञो जितवादी शतोअतः ॥३६२॥
देश सन्धौ समागत्य वाद मुद्रां करिष्यति।
सम्यै सह वयं तत्र समेष्यामः कुतूहलात् ॥३६३॥

धर्मपाल बौद्ध था। पाल अभिलेखों में उसे 'परम सौगत' कहा गया है। तिब्बती परम्परा के अनुसार विक्रमशिला के बौद्ध मठ की स्थापना उसने ही की थी, जो ९ वीं से १२ वीं शती तक विद्या का महत्वपूर्ण केन्द्र रही। विख्यात बौद्ध विद्वान् हरिभद्र उसकी सभा में थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि बप्पभट्टिचरित में वर्णित बौद्ध विद्वान वर्धनकुंजर भी उसके दबाव में रहा हो।

११. ततोऽपि श्रीयुतः कक्कः पुत्रो जातो महामतिः
यशो मुद्गगिरौ लब्ध येन गौडै संम रणे ॥२४॥ एपि. इं, भाग १८, पृ० ९८।

१२. ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ९-१०।

१३. गच्छन् गोदावरीतीरे ग्रामं कंचिदवाप सः ॥२२३॥ बप्पभट्टिचरित तथा ग्वालियर प्रशस्ति, श्लो० ८

था और संभव है इसी कारण उसे गोदावरी के प्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा हो।

इस ग्रंथ में वर्णित एक अन्य घटना राजगिरि-दुर्ग [१४] की विजय है। यह आम–नागावलोक की अंतिम विजय थी। राजगिरिदुर्ग एक दुर्भेद्य किला था जिसे जीतने के लिये नागावलोक को बहुत यत्न करने पड़े थे। उसके पौत्र भोज के जन्म के बाद ही वह उसे जीतने में समर्थ हो सका था। इस राजगिरिदुर्ग की स्थिति एक विवाद्य विषय है। प्रस्तुत लेखक ने अन्यत्र [१५] यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस राजगिरिदुर्ग का समीकरण ग्वालियर प्रशस्ति में उल्लिखित राजगिरिदुर्ग से हो सकता है जो संभवतः पंजाब में था और अरब इतिहासकार अलबीरुनी द्वारा उल्लिखित है। यह संभव है कि इस गिरिदुर्ग की विजय आम नागावलोक ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये की हो क्योंकि जैसा कि इस समय के अभिलेखों से विदित होता है उत्तरी पश्चिमी सीमा पर अरबों के आक्रमण हो रहे थे और प्रतिहारों ने उन्हें रोक कर देश की रक्षा की थी। ग्वालियर प्रशस्ति में भी नागभट की विजयों में सैन्धव और तुरुष्क की विजय वर्णित है। स्कन्दपुराण [१६] से हमें म्लेच्छों के शासन का पता चलता है। इसके अनुसार ब्रह्मावर्त तक आम–नागावलोक के प्रभाव की भी जानकारी प्राप्त होती है। वहां का राजा कुमार-पाल आम का जामाता था और उसके समय में पंजाब में जैनधर्म का प्रभाव बढ़ रहा था।

बप्पभट्टिचरित् से ज्ञात होता है कि गोपागिरि [१७] (गोपालगिरि) या ग्वालियर आम–नागावलोक के अधिकार में था। एक दूसरे जैन लेखक राज-शेखरसूरि के प्रबन्धकोश से भी इस बात की पुष्टि होती है। मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से उस प्रदेश का उसके अधिकार में रहना सिद्ध है। संभव है वह उसके पितामह नागभट के भी अधि-कार में रहा हो। इसी ग्रंथ के अनुसार आम नागावलोक का पुत्र दुन्दुक था। ग्वालियर प्रशस्ति में उसका नाम रामभद्र दिया हुआ है। सम्भव है रामभद्र का दूसरा नाम दुन्दुक रहा हो। नाम में समानता न होने पर भी उसकी अयोग्यता के विषय में बप्पभट्टिचरित् और अभिलेख एकमत हैं। [१८] इसके दुराचारी शासन में दूर के प्रदेश साम्राज्य से अलग हो रहे थे और शत्रुओं के आक्रमण हो रहे थे। उसके पुत्र मिहिर भोज ने इस अव्यवस्था को दूर कर दृढ़ शासन किया। इस ग्रंथ के अनुसार भी भोज ने अपने पितामह नागावलोक से भी अधिक प्रदेश जीते, भ्रष्ट राज्यों पर अपनी प्रभुता फिर से स्थापित की। [१९]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बप्प-भट्टिचरित् भी प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के लिये कितना महत्वपूर्ण साधन है। इसकी उपादेयता अभिलेखों और दूसरे साहित्यिक प्रमाणों से इसके तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

---

१४. बप्पभट्टिचरित ।। श्लो० ६६१-६७५।

१५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संव० २०२१, अंक० १-२, पृ० १८२-८३।
अखिल भारतीय प्राच्य परिषद्–गौहाटी अधिवेशन 'सारांश'। –१९६४–

१६. स्कन्दपुराण, ब्राह्मखंड धर्मारण्य महात्म्य, श्लो० ३१।

१७. तथा गोपगिरौ लेप्यमयबिम्वयुतं नृपः ! श्री वीरमंदिर तत्रत्यौविंशतिहस्तकम् ।१४०।

१८. एपि० इंडि० भा० १९, पृ० १८-१९, भा० ५, पृ० २१३, बप्पभट्टिचरित, पृ० १०९-११०।

१९. भोज राजस्ततो नेक–राज्यभ्रष्टग्रहग्रहः । आमादप्याधिको जज्ञे जैन प्रवचनोन्नतौ ।।७६५।

महाकवि रइधूयुगीन अग्रवालों की साहित्य सेवा

प्रो० डा० राजाराम जैन M. A., Ph. D. आरा.

महाकवि रइधू साहित्य-गगन के ऐसे उज्ज्वल नक्षत्र थे, जिन्होंने अपनी दैवी-प्रतिभा से मध्यकालीन समाज एवं राष्ट्र के अन्तर्तम को प्रदीप्त किया था। विविध राजनैतिक आक्रमणों की बोछारों से सन्तप्त, त्रस्त एवं उत्पीड़ित मानव-क्रन्दन की करुण पुकार पर लोकनायक की तरह उन्होंने अपने को सजग किया और सरस्वती के वरद पुत्र बनकर जो अमृतत्व का दान दिया वह भारतीय साहित्येतिहास के एक विशिष्ट अध्याय के रूप में सदा सुरक्षित रहेगा।

रइधू, जिनका कि समय वि. सं. १४५०—१५४६ के लगभग निर्धारित किया गया है, ने अपने जीवन-काल में कई ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जिनमें से लगभग तीस ग्रन्थों का पता चल सका है और अभी तक चौबीस रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं, जो पुराण, चरित, आख्यान, सिद्धान्त, आचार, अध्यात्म एवं दर्शन आदि विषयों से सम्बद्ध हैं।[1] उक्त समस्त साहित्य पद्यमय है और काव्यशास्त्र की प्रायः सभी विधाओं से अलंकृत है। उनकी भाषा सन्धिकालीन अपभ्रंश है, किन्तु कुछ ग्रन्थ प्राकृत एवं हिन्दी तथा कुछ पद्य संस्कृत के भी उपलब्ध हैं। समग्र रइधू-साहित्य अभी अप्रकाशित ही है और हस्तलिखित रूप में उत्तर भारत के शास्त्र भण्डारों में यत्र-तत्र सुरक्षित है। भारतीय मध्यकालीन इतिहास, संस्कृति, पूर्ववर्त्ती, एवं समकालीन साहित्य तथा साहित्यकारों, भट्टारकों, मध्यकालीन राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों, समकालीन राजाओं, ग्वालियरनगर एवं दुर्ग का जैनमूर्त्ति कला वैभव एवं उत्तरभारत-विशेषतः मध्यभारत-की ऋद्धि-समृद्धि आदि की प्रामाणिक जानकारी के लिये रइधू-साहित्य का महत्व एक विश्वकोष से कम नहीं ठहरता।

महाकवि रइधू तथा उनके साहित्य के स्मरण के समय उस वर्ग को निश्चय ही विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिसके स्नेह में पगकर रइधू की प्रतिभा मुखरित हुई, भावना को ओजस्वी वाणी मिली और निरन्तर प्राप्त हुई प्रेरणाओं से जिसे विस्तार मिलता रहा। यह वह वर्ग है जो आज "अग्रवाल जाति" के नाम से जाना जाता है। रइधू ने इसे "अग्गोय" (अग्रोत) "अयरवाल" (अग्रवाल) आदि नामों से सूचित किया है। इस जाति के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विविध मत-मतान्तर हैं लेकिन निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इसके कार्यों ने राष्ट्रीय एवं सामाजिक क्षेत्र में सदैव चार चाँद लगाए हैं। समाज एवं राष्ट्र की हर परिस्थिति में इस वर्ग के नेता अथवा अनुयायी बनकर प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः तन, मन एवं धन सभी दृष्टिकोणों से यथाशक्ति सक्रिय सहयोग किया है।

महाकवि रइधू का साधना केन्द्र ग्वालियर था। उसे कवित्व शक्ति एवं अर्थाभाव पैतृक विरासत के रूप में उपलब्ध हुए थे; किन्तु साधनाभाव में ग्रस्त कवि प्रतिभा के अवरोध की स्थिति ग्वालियर तथा सुदूर देशवासी विद्यारसिक अग्रवालों से छिपी न रही। शीघ्र ही अग्रवाल कुल शिरोमणि कमलसिंह संघवी, जैन कुलावतंस खेमसिंह, अग्रवाल कुलकुमुद-चन्द्र हरसी (हरिसिंह) साहू प्रभृति परिचित एवं अपरिचित कई प्रतिष्ठित नागरिक एवं नगरसेठ उनके

---

१. रइधू के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विस्तृत जानकारी के लिये "अपभ्रंश भाषा के सन्धिकालीन महाकवि रइधू" नामक हमारा निबन्ध, जो कि 'भिक्षु स्मृति ग्रन्थ' कलकत्ता (१९६१) में प्रकाशित है, पढ़ें।

पास पहुँचने लगे और अपने यहाँ हर प्रकार की सुविधाएं ग्रहणकर साहित्य प्रणयन के लिये उनसे आग्रह करने लगे। संघवी कमलसिंह, जो कि ग्वालियर के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह (वि. सं. १४८१–१५१०) के वित्त एवं गृहमंत्री थे, सर्वप्रथम रइधू की सेवा में पहुँचते हैं और कहते हैं [२] "हे महाकवि, मेरे पास शयनासन, छत्र, चमर, ध्वजा, हाथी; घोड़े, रथ, ग्राम, नगर, देश, मणि, मोती, बन्धु-बान्धव आदि सभी भरपूर उपलब्ध हैं, भौतिक-सामग्री की कोई भी कमी नहीं है, किन्तु मुझे यह सारा का सारा वैभव फीका-फीका लगता है क्योंकि मेरे पास काव्यरूपी सुन्दर मणि नहीं है (लब्भइण कव्व माणिक्कु मव्वु)।" फिर आगे वे पुनः कहते हैं [३] "मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है, जिसमें से आधी आयु सोने में और बाकी की आयु खाने-पीने में धनार्जन करने में, विविध मनोरंजन करने में, रोग, शोक, चिन्ता आदि में समाप्त हो जाती है और धर्म साधन की बात मन में आ ही नहीं पाती। अतः मुझ पर आप महान कृपा कीजिये तथा ऐसी रचना का प्रणयन कर दीजिये जिसमें 'सम्यक्त्व' की चर्चा रोचक शैली में हो। इस पुण्य कार्य को करके आप मेरी सम्पत्ति का सदुपयोग करा दीजिये।"

उक्त कमलसिंह संघवी ग्वालियर-राज्य की राजनीति के विधायक तो थे ही किन्तु अग्रवाल जाति के गौरव एवं जैन समाज साहित्य एवं कला के महान संरक्षक भी थे। रइधू ने उन्हें गोपाचल को श्रेष्ठ तीर्थ बना देने वाला कहा है और उनकी पवित्रात्मा की उपमा कैलाश पर्वत स्थित सरोवर के विमल जल से दी है:—

पइकिउ वरतित्थु गोवायलि। जिह भरहें कइलासें विमल जलि।।

(सम्मत्त० १।१५।४)

तीर्थ निर्माता के रूप में कमलसिंह का स्मरण यथार्थ ही है। ग्वालियर में जो सहस्रों जैन मूर्तियां [४] निर्मित हुई हैं, उनमें से अधिकांश का निर्माण उक्त कमलसिंह की कृपा से ही हुआ है। गोम्मटेश्वर की बाहुबलि-प्रतिमा का स्मरण करने वाली ५७ फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति के निर्माता एवं प्रतिष्ठापक भी सम्भवतः यही कमलसिंह हैं और रइधू उसके प्रतिष्ठाचार्य। चतुर्विध संघ का भार ग्रहण करने से उन्हें सिंघई, संघवी अथवा संघपति [५] पद से भी विभूषित किया गया था। ग्वालियर के सांस्कृतिक उत्थान में निस्सन्देह ही कमलसिंह संघवी का बड़ा भारी योगदान है उसने स्वर्गों के सभी सुखों को वहाँ लाकर उपस्थित कर दिया था, इसीलिये कवि ने उसे भरत क्षेत्र की इन्द्रपुरी एवं स्वर्ग-गुरु की संज्ञा दी है।—

एच्छु जि भारहि खेत्ति जणि पसिद्धु णं इंदउरु।
गोवायलु णामेण तं जइवण्णइ तियस्स गुरु।।

सम्मत्त० १।२।९–१०

कमलसिंह के आग्रह से कवि ने सम्मत्त गुण-णिहाणकव्व' [६] (सम्यक्त्व गुणनिधान काव्य) की रचना की उसमें कुल चार सन्धियां एवं १०४ कडवक हैं। रइधू ने प्रबन्धात्मक पद्धति को लेकर जिस

२—सम्मत्तगुण णिहाण कव्व १/७

३—सम्मत्त गुण णिहाण कव्व १/८

४—ग्वालियर दुर्ग की जैन मूर्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये श्री महावीर जैन विद्यालय (बम्बई) स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित "ग्वालियर-दुर्ग के कुछ जैन मूर्त्ति निर्माता एवं महाकवि रइधू" नामक मेरा शोध-निबन्ध पढ़िये।

५—सम्मत्त १।१३।७.

६—यह ग्रंथ ऐ० प० सरस्वती भवन ब्यावर में हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है।

अध्यात्म और आचारमूलक साहित्य का निर्माण किया है उसमें उक्त रचना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की शैली नयसेनाचार्य के कन्नड ग्रन्थ 'धर्मामृत'[४] के समान है नयसेन ने सम्यग्दर्शन और पंचाणुव्रतों का कथन प्रबन्धात्मक पद्धति पर किया है। रइधू की शैली यह है कि प्रारम्भ में वह विषय का स्वरूप विश्लेषण, महत्व आदि के कथन के अनन्तर किसी आख्यान के माध्यम से विशेषताओं का प्रदर्शन करता है तथा बाद में अपना निष्कर्ष उपस्थित करता है। रचना बड़ी ही सरस एवं मार्मिक है।

"सम्मत्त गुणणिहाणकव्व" की आद्यन्त प्रशस्ति में कवि ने कमलसिंह के लिये अग्रवाल कुल कुमुदचन्द्र[१] एवं विज्ञानकलागुणश्रेणीयुक्त[२] कहा है। इन विशेषणों में तथा कमलसिंह के उपर्युक्त कार्यों में पर्याप्त समानता है। रइधू की हर कृपा के प्रति कमलसिंह आभारी थे। वे अत्यन्त गद्गद होकर तथा 'बालमित्र' कहकर उनसे निवेदन करते हैं:—

> तुहु पुणु कव्वरयण रयणायरु।
> बालमित्तु अम्हहं णेहाउरु॥
> तहु महु सच्चउ पुण्ण सहायउ।
> महु मणिच्छ पूरण अणुरायउ॥
> जिण पयट्ठ महु णिरुपय होंति।
> चडिय पवाण गुणेण महंति॥
> पइ पुणु विरयइ सच्छ अणेयइं।
> चरिय पुराणागम बहुभेयइं॥
> एव्वहिं महु विणत्ति पमाणहिं।
> सच्छ चँदि णामक्खरु ठाणहिं॥

(सम्मत्त० १।१४।८–१२.)

संघवी कमलसिंह मुद्गल गोत्र के थे। इनके बाबा का नाम भोपा साहू था, जो ग्वालियर के निवासी थे। इनके चार पुत्रों[३] में से ज्येष्ठ पुत्र खेमसिंह ही कमलसिंह के पिता थे। कमलसिंह का एक छोटा भाई भी था जिसका नाम भोजराज था। यह परिवार विद्याव्यसनी एवं साहित्यरसिक था। कमलसिंह ने तो उक्त "सम्मत्तगुणणिहाणकव्व" के लिये कवि को प्रेरित किया ही, छोटे भाई भोजराज ने भी अपने पिता की अनुमोदना से कवि से अनुनय-विनय करके अपने लिये प्राकृत-गाथा निबद्ध "सिद्धन्तत्थसारु"[४] नामक एक विशाल सिद्धान्त आचार अध्यात्म एवं दर्शन विषयक ग्रन्थ का प्रणयन कराया था। प्रस्तुत ग्रन्थ में १३ अंक एवं १९३३ गाथाएं हैं। इसमें कवि ने प्रसंगवश संस्कृत-प्राकृत के कुछ ऐसे जैनेतर उद्धरण भी दिये हैं जिनके सन्दर्भ का कुछ भी पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ में कवि ने सम्यग्दर्शन, जीव-स्वरूप, गुणस्थान, क्रियाभेद, कर्म, श्रुतांग, लब्धि, अनुप्रेक्षा, धर्म एवं ध्यान इन दश विषयों पर सुन्दर एवं मार्मिक विवेचन किया है—

> दंसण जीवसरूवं गुण ठाणाणं पि भेय किरियाय।
> कम्मं सुयंग लद्धी अणुवेहा धम्म झाणं व॥

सिद्धान्त० १।५.

४—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं सरस्वती मन्दिर आरा द्वारा प्रकाशित.

१—सम्मत्त गुणणिहाण कव्व. ४। ३५। ३.

२—वही ४। ३५। ११.

३—शिलालेख संग्रह (माणिक० सीरीज) तृतीय भाग के लेखाङ्क ६३३ (पृ० ४८३) में प्राप्त वंशावली में भोपा साहू के पाँच पुत्रों का उल्लेख है। उसके पांचवें पुत्र 'पाल्का' को रइधू ने चतुर्थ पुत्र कहा है तथा शिलालेख के चतुर्थ पुत्र धनपाल का रइधू ने उल्लेख नहीं किया।

४—यह प्रति हस्तलिखित रूप में राजस्थान जैन शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।

'सिद्धान्तार्थसार' का प्रशस्तिभाग त्रुटित है अतः यह कहना कठिन है कि उसके प्रणयन के बाद कवि का क्या सम्मान किया गया, किन्तु यह स्पष्ट है कि 'सम्मत्तगुणणिहाण कव्व' की परिसमाप्ति के बाद कमलसिंह ने कवि को बहुत प्रकार से सम्मानित किया था।[1]

महाकवि रइधू के दूसरे प्रेरक एवं आश्रयदाता थे श्री खेऊ साहू (खेमसिंह साहू), जिन्हें रइधू ने दान देने वालों में राजा श्रेयांस[2] की उपाधि दी है। साथ ही उसे आगमरस का रसिक[3], अग्रवाल कुलरूपी कमलों के लिये चन्द्रमा[4], कलावतार,[5] कविसंगी,[6] एवं संगपति[7] जैसे विशेषणों से संयुक्त किया है। ये ऐंडिल गोत्र के थे तथा योगिनीपुर इनका निवास स्थान था। कवि ने खेऊ साहू की आठ पीढ़ियों[8] का विस्तृत विवरण लिखा है। प्रथम पीढ़ी देदा साहू से प्रारम्भ होती है। उसमें खेऊ साहू छठवींपीढ़ी के थे। इन्होंने कवि को प्रेरित कर 'मेहेसर चरिउ'[9] (मेघेश्वर चरित) एवं 'पासणाह चरिउ'[10] (पार्श्वनाथ चरित) जैसे महाकाव्यों का प्रणयन कराया था। खेऊ के चतुर्थ पुत्र होलु साहू ने कवि को "दसलक्खणजयमाल"[11] के लिखने की प्रेरणा की थी। यह जयमाल अध्यात्मरस की अनुपम कृति है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि भारत के कोने-कोने में जैन समाज इसका पाठ करती हुई आनन्द विभोर हो उठती है। इसका महत्व गीता एवं बाइबिल से किसी भी प्रकार कम नहीं। "मेहेसर चरिउ" में कुल १३ सन्धियाँ एवं ३०४ कडवक[12] हैं। इसमें कवि ने भरत चक्रवर्त्ति के सेनापति मेघेश्वर के चरित का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। काव्यकला की दृष्टि से यह रचना उच्चकोटि की है। कवि ने इसमें दुवई, गाहा, चामर, घत्ता, पद्धडिया, समानिका, मत्तगयंद आदि विविध छन्दों में शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र एवं शान्त आदि रसों की प्रसंगवश सुन्दर उद्भावनाएं की हैं। इसका कथा-भाग परम्परा से प्राप्त होने पर भी कवि ने अपनी नवीन शैली तथा उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि अलंकारों की योजना करके उसे काफी सरस एवं आकर्षक बना दिया है।

खेऊ साहू की अनुनय-विनय पर जब रइधू ने पासणाह चरिउ के प्रणयन की स्वीकृति दे दी तब खेऊ साहू का आनन्द देखते ही बनता है। वे आनन्द विभोर हो नाचने लगते हैं और कवि की उक्त

१—सम्मत्तगुणणिहाण कव्व ४।३४।११.
२—पासणाह चरिउ ७।८।४.
३—पासणाह० १।५।११
४—मेहेसरचरिउ १।१०।१.
५—मेहेसर० ५।१ संस्कृत श्लोक.
६—मेहेसर० ६।१ संस्कृत श्लोक.
७—पासणाह० १।५।११
८—मेहेसर० ७।८–१०
९—इसका अपरनाम आदिपुराण है। यह ग्रंथ हस्तलिखित रूप में जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित है।
१०—यह ग्रंथ हस्तलिखित रूप में राजस्थान जैन शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।
११—जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई (१९२३) से प्राशित.
१२—कडवकछन्द के उद्भव एवं विकास पर भारतीय साहित्य संसद् वाराणसी (१९६५) से प्रकाशित संसद् स्मारिका में मेरा विस्तृत निबन्ध पढ़िये।

स्वीकृति को कल्पवृक्ष एवं कामधेनु की संज्ञा देते हुए कहते हैं:—

णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु ।
तहु फलु को गाउ वंछइ ससुक्खु ॥
पुण्णेण पत्त् जइ कामधेणु ।
को णिस्सायइ पुणु वि गयरेणु ॥
तह पइ पुणु महु किउ सइं पसाउ ।
महु जम्मु सफलु भउ अज्ज जाउ ॥
तहं धण्णु जासु एरिसउ चित्त् ।
कइयण गुणु दुल्ह जेण पत्त् ॥

(पासणाह० १।८।१-४.)

कवि ने जब ७-सन्धियों एवं १३८ कडवकों वाले 'पासणाह चरिउ' को लिखकर समाप्त किया तथा उसे खेऊ साहू को सौंपा, तब वह हर्षातिरेक से गद्गद हो उठे तथा द्वीप-द्वीपान्तर से मंगवाए हुए विविध हीरा, मोती, वस्त्राभूषण आदि को ससम्मान समर्पित किया। कवि ने लिखा है:—

संपुण्ण करेप्पिणु पयड अत्थु ।
खेउं साहुहु अप्पियउ सत्थु ॥
दीवंतर आगय विविह वत्थु ।
पहिराविवि अइसोहा पसत्थु ॥
आहरणसहिं मंडिउ पुणु पवित्त् ।
इच्छा दाणें रंजियउ चित्तु ॥
संतुट्ठउ पंडिउ णिय मणम्मि ।
आसीवाउ विदिण्णउ खणम्मि ॥

(पासणाह० ७।१०।३-८)

महाकवि रइधू के एक अनन्य भक्त हरसी साहू थे। उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्र विमान[1] में लिखा जाय 'रामचरित' (पद्मचरित) को बिना लिखवाये तथा उसका स्वाध्याय किये बिना उक्त लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नहीं, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। अतः वे कवि से साग्रह अनुरोध करते हैं कि उसके निमित्त वह 'रामचरित' की रचना अवश्य करदे, किन्तु उसे सुनकर कवि अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहता है कि "भाई, 'रामचरित' का लिखना क्या आसान बात है? उसके लिखने के लिये महान साधना, क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है। आप ही बताइये भला, कि घड़े में समुद्र को कोई भर सकता है? साँप के सिर पर स्थित मणि को कोई स्पर्श कर सकता है? प्रज्ज्वलित पञ्चाग्नि में कोई अपना हाथ डाल सकता है? बिना धागे के रत्नों की माला कोई गूंथ सकता है? नहीं। ठीक इसी प्रकार बिना बुद्धि के इस विशाल रामकाव्य की रचना करने में मैं कैसे पार पा सकूंगा[2]?" इस प्रकार का उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवतः टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बड़े चतुर थे। उन्होंने ऐसे मौके पर वणिक् बुद्धि से काम लिया। उन्होंने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा:—

तुहुँ कव्वु धुरंधरु दोसहारि ।
सत्थत्थ कुसलु बहु विणय धारि ।
करि कव्वु चित परहरहिं मित्त ॥
तुहु मुहि णिवसइ सरसइ पवित्त ॥

(बलहद्द० १।५।५-६,)

अर्थात् कविवर आप तो निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर हैं। शास्त्रार्थ आदि में कुशल हैं, विनयवान एवं उदारहृदय हैं। आपकी जिह्वा पर सरस्वती का वास है अतः इस काव्य की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये।" अन्ततः कवि तैयार हो जाता है और 'रामचरित[3]' की रचना प्रारम्भ कर देता है।

१—बलहद्द चरिउ १।४।१२.
२—बलहद्द० १।४।१-४.
३—इस रचना के अपरनाम बलहद्द चरिउ (बलभद्र चरित) एवं पउमचरिउ (पद्मचरित) भी हैं। रइधूकृत यह रचना अप्रकाशित है और दिल्ली के जैन शास्त्र-भण्डार में त्रुटित रूप में सुरक्षित है।

ग्रन्थ की रचना समाप्ति पर जब "कवि ने अपना रामचरित समर्पित किया तब हरसी साहू के हर्ष का पारावार न रहा। वे कवि को सम्मुख आया देख अपना आसन छोड़कर तुरन्त दौड़े तथा विशिष्ट आसन लाकर सर्वप्रथम कवि को उस पर बैठाया और सभी प्रकार के गौरवों से उसे सम्मानित किया। फिर सुन्दर-सुन्दर बेशकीमत वस्त्र, कुण्डल, कंकरण, अलंकृत अंगूटी आदि आभूषणों से उसे अलंकृत किया। पुनः उसने एक अत्यन्त सुन्दर सजे हुए घोड़े पर बैठाकर बड़े ही उत्सव के साथ कवि को वापिस भेजा।"

... .।..... .... मरणम्मि (२)।
पंडिउ आसरिण धावियउ तेरण।
पुणु सम्मारिणउ बहुगउरवेरण ॥
वरवच्छहिं कुंडल कंकरणेहिं।
अंगुलियहिं मुद्दिय रिणम्मलेहिं ॥
पुज्जिवि आहररणहिं पुणु तुरंगि।
आरोपिवि सज्जिउ चंचलंगि ॥
गउरिणय गिहि पंडिउ सच्छुतेरण।
जिरणगेहिं गयउ सुमहुच्छवेरण ॥
बलहद्द० १२।६

रइधू ने उक्त हरसी साहू की छह पीढ़ियों का उल्लेख किया है। इसमें आदि पुरुष का नाम छंगे साहू था। इनकी चतुर्थ पीढ़ी में हरसी साहू का जन्म हुआ था[1]। महापुरुषों के चरित इन्हें बहुत ही रुचिकर लगते थे अतः कवि को प्रेरित करके इन्होंने १२ सन्धियों एवं २४६ कड़वकों वाला राम चरित अथवा बल भद्र चरित तो लिखाया ही था, साथ ही "सिरिवाल चरिउ"[2] (श्रीपाल चरित) का प्रणयन भी उन्होंने अपने आश्रय में कराया था। इसमें दस सन्धियाँ एवं २०२ कडवक हैं। राम-चरित की प्रशस्ति के अनुसार उक्त हरसी साहू की दिवही एवं वील्हा ही नाम की दो पत्नियाँ थीं। उनका करमसिंह[3] नाम का एक पुत्र था जिसे राजडूंगरसिंह से राज्यासम्मान प्राप्त था। वह अपने पिता के समान ही साहित्यरसिक था।

महाकवि रइधू के एक अनन्य भक्त थे खेल्हा साहू[4] जिनकी प्रेरणा से कवि ने 'हरिवंशपुराण[5]' 'एवं' सम्मइजिरण चरिउ[6], (सन्मति जिन चरित) की रचनाएं की थीं। 'हरिवंश पुराण' में १४ सन्धियाँ एवं ३०२ कडवक हैं, तथा 'सम्मइ जिरण चरिउ' में दस सन्धियाँ एवं २४६ कडवक हैं।

उक्त खेल्हा योगिनीपुर (दिल्ली) की पश्चिम-दिशा में स्थित हिसारपिरोज (सम्भवतः फीरोजशाह द्वारा बसाए गये हिसार नामक नगर) के निवासी अग्रवाल वंश के गोयल गोत्र में उत्पन्न श्री तोसउ साहू के ज्येष्ठ पुत्र थे।[7] स्वाध्याय प्रेमी होने के कारण वे सिद्धान्त एवं आगम ग्रंथों

१—सिरिवाल चरिउ १०। २४-२५.

२—इस रचना का अपरनाम सिद्धचक्क माहप्य (सिद्धचक्र माहात्म्य) भी है। यह रचना अप्रकाशित है और राजस्थान जैन शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।

३—सिरिवाल० १०। २५। ५.

४—विस्तृत जानकारी के लिये अनेकान्त वर्ष १५, किरण १ पृ० १६-२० (अप्रैल १९६२) में प्रकाशित "महाकवि रइधू द्वारा उल्लिखित खेल्हा ब्रह्मचारी" नामक मेरा शोध-निबन्ध देखें।

५—इस रचना का अपरनाम रोमिपुराण भी है। अमुद्रित रूप में जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित है।

६—इस रचना के भी अपरनाम वर्धमान चरित, वीरचरित एवं महावीर चरित हैं। रचना अप्रकाशित है और दिल्ली के जैन शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं।

७—सम्मइ० १०। ३१-३४.

के अच्छे जानकार थे। [1] खेल्हा का विवाह कुरुक्षेत्र के जैन धर्मानुरागी सेठियावंश के श्री सहजा साहू के पुत्र श्री तेजा साहू की जालपा नामक पत्नी से उत्पन्न खीमी नामक पुत्री से हुआ था। [2] सन्तान हीन होने के कारण खेल्हा ने अपने भाई के पुत्र हेमा को गोद ले लिया तथा गृहस्थी का भार उसे सौंपकर मुनि यशःकीर्ति के पास अणुव्रत धारण कर लिये थे और तभी से फिर वे ब्रह्मचारी कहलाने लगे थे। [3] खेल्हा ब्रह्मचारी ने ग्वालियर-दुर्ग में चन्द्रप्रभु भगवान की एक सुन्दर विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था। [4] ग्वालियर के सुप्रसिद्ध संघपति कमलसिंह इनके घनिष्ठ मित्र थे और उन्ही के सहयोग एवं सहायता से खेल्हा ने उक्त मूर्ति एवं एक विशाल शिखरबन्द मन्दिर की प्रतिष्ठा भी कराई थी। [5] मूर्ति-निर्माण के आसपास ही वे एकादश-प्रतिमा के धारी बन गये। [6]

इसी प्रकार कवि ने रणमल साहू, बाहू साहू, लोणा साहू, तोसउ साहू, कुन्थुदास, हेमराज प्रभृति अग्रवालों के भी उल्लेख किये हैं। जिन्होंने उसे हर प्रकार की सहायता, सम्मान एवं आश्रयदान देकर उससे एक विशाल साहित्य का निर्माण कराया था।

इनके अतिरिक्त महाकवि रइधू ने अपनी विस्तृत प्रशस्तियों में बहुत से संघपतियों, मूर्ति-निर्माताओं, मूर्तिप्रतिष्ठापकों, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा करने वालों, राजनयिकों, भट्टारकों आदि के भी विस्तृत उल्लेख किये हैं जिनकी चर्चा इस निबन्ध में नहीं की गई है इन उल्लेखों से यह स्पष्ट विदित होता है कि मध्यकाल में जैनधर्म, साहित्य, मूर्ति एवं मन्दिरनिर्माणकला आदि के क्षेत्र में जो प्रचार-प्रसार हुआ उसमें अग्रवालों का ही प्रमुख हाथ रहा है। समग्र उत्तर भारत में तो उन्होंने तन-मन एवं धन से अनवरत कार्य किया ही, साथ ही सुदूरवर्ती दक्षिण में भी भट्टारकीय गद्दियों के माध्यम से उन्होंने अद्भुत प्रचार एवं स्थायी कार्य किये हैं। साहित्य के क्षेत्र में अग्रवालों ने विद्वानों एवं साधुओं को उचित श्रद्धा, सम्मान एवं साधन देकर उन्हें समाज के शीर्ष पर आसीन किया। मध्य कालीन जैन-मूर्तियां, मन्दिर, साहित्य एवं शास्त्र भण्डार निस्सन्देह ही इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

रइधू-साहित्य में साहित्य लिखवाने वाले अथवा शास्त्रों की प्रतिलिपि करने अथवा कराने वालों का महत्व भी साहित्य लेखक से कम नहीं माना गया। साहित्य-सेवा के क्षेत्र में इस प्रकार की उक्ति निश्चय ही अग्रवाल जाति की साहित्य सेवा सम्बन्धी एक स्फूर्ति, साहित्य प्रचार और प्रसार के प्रति लगन एवं आस्था का द्योतन करती है।

विस्तार-भय एवं पृष्ठ-सीमा की विवशता के कारण यह निबन्ध यहाँ समाप्त करता हूं, किन्तु रइधूकालीन अग्रवालों की विविध सेवाओं की सीमा रेखा यही नहीं है इससे कहीं अधिक दूर है। वस्तुतः समाज, साहित्य एवं राष्ट्र का ऐसा कोई भी प्रगति-शील एवं रचनात्मक कार्य नहीं है जिससे अग्रवालों का सक्रिय सम्बन्ध न हो। यदि मध्यकालीन समग्र साहित्य को न भी लें और अकेले रइधू-साहित्य के प्रशस्ति खण्डों में उल्लिखित अग्रवालों के कार्यों का लेखा-जोखा किया जाय तो भी उससे इस जाति के गौरवपूर्ण कार्यों का एक सुन्दर प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ तैयार हो सकता है। रइधू-साहित्य निश्चयतः ही अग्रवाल-जाति के स्वर्णमय अतीत के गौरव का एक अद्वितीय उदाहरण है। यदि यह साहित्य प्रकाशित हो जाय तो उसका यश चतुर्दिक विकीर्ण होकर समाज एवं राष्ट्र को सुरभित करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। ●

---

१. सम्मइ० १ । ३ । २.
२. सम्मइ० १० । ३४ । १८-२७.
३. सम्मइ० १० । ३४ । २८-३४.
४. सम्मइ० १ । ४ । ११-१२
५. सम्मइ० १ । ४ । १६-१८,
६. सम्मइ० १ । ४ । ६.

कोयले को धोने से उसका रंग नहीं बदला जा सकता, उसे आग में जलाना पड़ता है। दुष्ट इसी प्रकार सुधारे जा सकते हैं, बातों से नहीं।

× × × ×

आज जो बात कठिन जान पड़ती है, वही किसी दिन सीधी और सहज हो जायगी।

× × × ×

आग और पाप बहुत दिनों तक नहीं छिपते।

× × × ×

आज का अमङ्गल कल नहीं रहता।

× × × ×

मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा ही है कि तनिक सा दोष देखते ही, कुछ क्षण पूर्व की सभी बातें भूलते उसे देर नहीं लगती।

—बापूजी की डायरी से

हिन्दी आदिकाल के जैन प्रबन्ध काव्य

श्याम वर्मा

एम० एस्सी०, एम० ए० (संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी)

साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न

अपभ्रंश भाषा के गर्भ से हिन्दी का उदय कब हो गया यह जानने के लिए कोई निर्विवाद प्रणाली आज उपलब्ध नहीं है। अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभुदेव को हिन्दी का महाकवि घोषित किया जा चुका है क्योंकि उनकी भाषा वास्तव में प्राचीन हिन्दी का रूप ही है। विक्रम की आठवीं शताब्दी के इस महाकवि से चौदहवीं शताब्दी तक के काल में जैन कवियों द्वारा रचित प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त पर्यालोचन प्रस्तुत निबन्ध में किया जायगा।

श्री नाथूराम प्रेमी की एक टिप्पणी

स्वर्गीय श्री नाथूराम प्रेमी ने 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' में उस समय उपलब्ध हिन्दी जैन साहित्य के विषय में विचार करते हुए लिखा था—"यह हमें मानना पड़ेगा कि जैन कवियों में उच्च श्रेणी के कवि बहुत ही थोड़े हुए हैं।....जो उच्च श्रेणी के कवि हुए हैं उन्होंने प्रायः ऐसे विषयों पर रचना की है जिनको साधारण बुद्धि के लोग बहुत कठिनाई से समझ सकते हैं।....साधारणोपयोगी प्रभावशाली चरितकाव्यों का जैनसाहित्य में प्राय: अभाव है और जैन समाज तुलसीकृत रामायण जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों के आनन्द से वंचित है। शीलकथा और बुशालचंदजी के पद्मपुराण आदि की निःसत्व कविता को पढ़ते-पढ़ते जैनसमाज शायद यह भूल ही गया है कि अच्छी कविता कैसी होती है।"

यह साहित्य महत्वपूर्ण है

परन्तु यह मार्मिक बात विक्रम संवत् १९७४ में लिखी गई थी। और तदनंतर अनेकानेक सुन्दर जैनकाव्यों के प्रकाश में आने से हिन्दी काव्य के क्षेत्र में जैनप्रतिभा के प्रति लोकश्रद्धा में वृद्धि हुई है। डा० हरमन याकोबी, श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल, मुनि जिन विजय, प्रोफेसर हीरालाल जैन, डा० परशुराम वैद्य, पं० लालचन्द गांधी, डा० जगदीशचन्द्र जैन, डा० अल्सफोर्ड, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री कस्तूरचंद कासलीवाल प्रभृति विद्वानों के परिश्रम से जैन साहित्य बहुत कुछ अन्वेषित, सुसम्पादित एवं प्रकाशित हुआ है। अब तो जैन प्रबन्ध-काव्यों का प्रभाव जायसी, तुलसी आदि महाकवियों पर सिद्ध करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। ऐसे दावेदारों में श्री राहुल सांकृत्यायन का नाम विशेष उल्लेख्य है। उन्होंने न केवल स्वयंभुदेव को हिन्दी का सर्वोत्तम कवि ही घोषित किया अपितु तुलसी को स्वयंभु का अनुकर्त्ता भी माना है। इस अतिशयोक्ति पर टिप्पणी निरर्थक है। दलविशेष या सम्प्रदाय-विशेष अथवा विचारधारा-विशेष से बँधकर यदि न सोचा जाय तो उपर्निर्दिष्ट ६०० वर्षों के उपलब्ध हिन्दी जैन प्रबन्ध काव्यों का पर्यवेक्षण कर निष्पक्ष सहृदय आलोचक यह कहने को बाध्य होगा कि यह साहित्य विशाल न होते हुए भी महत्वपूर्ण है। इन प्रबन्धकाव्यों में सौन्दर्य, स्नेह, साधना, संन्यस्त जीवन, संग्राम आदि विविध व्यापारों को छन्दों के कलात्मक परिधान, अलंकारों की कमनीय छटा एवं भाषा के परिष्कृत रूप के साथ सरसता पूर्वक चित्रित किया गया है।

प्रबन्धकाव्यों के दो भेद

प्रबन्धकाव्यों के दो भेद मान्य हैं—महाकाव्य

ग्रौर खण्डकाव्य ! महदुद्देश्य, महान चरित्र, सम्पूर्ण युगजीवन का चित्रण, गरिमामयी एवं उदात्त शैली इत्यादि गुणों से मण्डित होता है विशालकाय महाकाव्य । ग्रौर खण्डकाव्य होता है ग्रप्रासंगिक कथाग्रों से मुक्तप्राय, कथा में एकदेशीयता युक्त, कथाविकास में वर्णनविस्तार कम तथा भावप्रवणता ग्रधिक लिए हुए ।

जैन प्रबन्धकाव्यों की लोकप्रियता का प्रश्न

संस्कृत के जैन कवियों ने ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना में रुचि एवं दक्षता दिखाई है, यद्यपि इनका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्य ग्रस्थिर है । इसके विपरीत हिन्दी जैनकवियों ने ग्रपने प्रबन्धकाव्यों में महाकवियों की ग्रपेक्षा खण्डकाव्यों ग्रौर शास्त्रीय शैली की ग्रपेक्षा चरित शैली में ही रचना ग्रधिक की है। एक विशिष्ट बात यह भी है कि संस्कृत के जैनकवियों में साम्प्रदायिक भावना से मुक्त होकर रचने का जो गुण पाया जाता है वह हिन्दी के जैन कवियों में कम ही दिखाई पड़ता है। प्रायः सभी प्रबन्धकाव्य जैन वातावरण से परिपूर्ण हैं । प्रायः जैनमन्दिरों में, ग्रौर बहुत हुग्रा तो जैनसमाज के एक ग्रंश के मध्य तक, सीमित रहने वाले इन ग्रन्थों को ग्र-जैन समाज ने तो संभवतः इस काल में ही देखा है, ग्रौर ग्रभी भी बहुत कम ही । इसका कारण यह है कि प्रायः कविगण सरस स्थलों में (मने की ग्रपेक्षा नरक, स्वर्ग, त्रैलोक्य, कर्मप्रकृति, गुणस्थानादि के विस्तृत वर्णनों में ही फँसे रहे हैं ग्रौर दर्शन से बोझिल साहित्य लोकप्रिय नहीं हो सकता । जैनप्रबंधकाव्यों की लोकप्रियता के प्रश्न पर विचार करते समय यह महत्वपूर्ण बात भी ध्यान में रखनी होगी कि इन कवियों के सामने राष्ट्रीयता की प्रेरणा देने का लक्ष्य नहीं रहा, प्रायः सम्प्रदाय-भक्ति ही प्रेरणा एवं उद्देश्य रहा ।

महाकवि स्वयंभुदेव

महाकवि स्वयंभुदेव साम्प्रदायिक उन्माद से रहित थे । वे महाकवियों में ग्रग्रगण्य हैं। उनके 'पउमचरिउ' तथा रिट्ठनेमि चरित्र तथा 'पंचमिचरिउ' तीन प्रबन्धकाव्य हैं । ग्रन्तिम ग्रन्थ एक खण्डकाव्य है जो ग्रभी ग्रनुपलब्ध है; इसमें नागकुमार चरित्र वर्णित रहा होगा ।

पउमचरिउ

'पउमचरिउ' में रामचरित्र वर्णित है । इसमें पांच काण्ड हैं—विद्याधरकाण्ड, ग्रयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड ग्रौर उत्तरकाण्ड । इनमें क्रमशः २०,२२, १४, २१, ग्रौर १३ सन्धियां हैं। सन्धि=सर्ग] । प्रथम ८३ सन्धियां स्वयंभुदेव द्वारा रचित हैं ग्रौर उनमें ग्रन्थ पूर्ण है । ग्रंतिम ७ संधियों को स्वयंभुदेव के पुत्र त्रिभुवन ने पितृदेहावसान के उपरान्त जोड़ दिया था । ग्रंथ का ग्रारंभ नम्र ग्रात्मनिवेदन तथा ग्रात्मविश्वासाभिव्यक्ति के साथ होता है कवि 'सामाण भास' को त्यागने में ग्रसमर्थ है ग्रौर 'गामेल्ल भास' को त्यागकर कुछ 'ग्रागम-जुत्ति' गढ़ने में उसे रूचि नही है । "पुणु ग्रप्पणउं पायडीन रामायण कावें" के ग्रनुसार कवि की कृति स्वान्तः सुखाय रचित है ।

मानवीय शक्ति ग्रौर दुर्बलता दोनों से युक्त राम को चित्रित करने में कविकौशल पाकर भी हम यह कहने को बाध्य हैं कि कवि की सहानुभूति राम से न होकर सीता से है। जहां जहां सीता का वर्णन या सीता द्वारा किसी कथन का प्रसंग ग्राता है, कवि की लेखनी थिरक उठती है—ग्रग्निपरीक्षा से पूर्व सीता वरासन पर विराजमान कैसी लगती है ? 'सासण-देवए जं जिण-सासणे' (जैसे जिन-शासन पर जिन देवता) । उस समय सीता को राम ने कैसे देखा ? 'सिय-पक्खहो दिवसे पहिल्लए चंद-लेह णं सायरेण' (ग्रर्थात् जैसे सागर शुक्लपक्ष के प्रथम दिवस पर चन्द्ररेखा को देखे) । जब राम ने सीता को ग्रशुद्धता व निर्लज्जता के लिए धिक्कारा तो निर्भीक एवं सतीत्व के गर्व से युक्त सीता की उक्तियां बहुत मार्मिक बन पड़ी हैं यथा—

"पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि"

[पुरुष गुणवान होकर भी हीन होते हैं जो मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते ।]

"णर-णारिहिं एवड्डउ अंतरु
मरणे वि वेल्लिण मेल्लइ तरुवरु"

[नर और नारी में यही अंतर है कि मरने पर भी लता तरुवर का त्याग नहीं करती ।]

और तब सीता अग्नि को चुनौती देती है कि वह जला सके तो जलाए। अग्नि-परीक्षित सीता से राघव क्षमायाचना करते हैं तो सीता का चरित्र एक विचित्र मोड़ लेता है। और वह दार्शनिक भाषा बोलकर अन्तर्व्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति करती हैं—हे राघव! न तुम्हारा दोष है, न जनसमूह का, दोष तो दुष्कर्म का है! और इससे मुक्ति का उपाय यही है कि ऐसा उपाय किया जाए जिससे फिर स्त्रीयोनि में जन्म न लेना पड़े।

सम्पूर्ण महाकाव्य ही करुण प्रसंगों से ओतप्रोत है। रामवनगमन के अवसर पर माता का विलाप लोकगीतात्मक भाषा में अत्यन्त मार्मिक है। दशरथ विलाप भी हृदयस्पर्शी है। युद्ध में आहत लक्ष्मण के लिये विलाप करते भरत की उक्तियां—'महु णिवडिऊसि दाहिणउ पाणि' तथा 'आयइ सव्वइ लब्भंति जइ, णवरण लब्भइ भाइवरु" इत्यादि—अत्यन्त सुन्दर हैं। रावण मरण पर विभीषण एवं मन्दोदरी द्वारा विलाप भी स्वाभाविक एवं करुण हैं।

स्वयंभुदेव ने युद्धवर्णन में भी बड़ी कुशलता दिखाई है। युद्ध यात्रा वर्णन, शूरवीरों की उत्साहपूर्ण भावनाओं का चित्रण तथा युद्धों का वर्णन अत्यन्त ओजस्वी भाषा में किया गया है।

'पउमचरिउ' में मनोहर प्राकृतिक दृश्य भी चित्रित हैं। मगध देश में पके धान की कलमों, शुक पंक्ति, नन्दनवन आदि का वर्णन करने के उपरान्त कवि कहता है—

"जहि दक्खा—मंडव परियलंति
पुणु पंथिय रस-सलिलइ पियंति"

अर्थात वहां द्राक्षा के मण्डप लहराते रहते हैं और पथिक जल न पीकर द्राक्षा रस ही पीते हैं। मगध की समृद्धि की कैसी सुन्दर व्यंजना है।

इसी प्रकार कामेरी प्रदेश में इन्द्रनीलमणियों का बाहुल्य भी सुन्दर विधि से व्यंग्य है—वहां इन्द्र नील की किरणों से भिद्यमान शशि जीर्ण दर्पण के समान हो गया है।

उपमाओं के समायोजन में भी स्वयंभुदेव का अपना वैशिष्ट्य है। नवीन एवं रूढ़ उपमाओं की माला से वे प्रत्येक चित्र को सटीक उपस्थित करना जानते हैं। वन की ओर प्रस्थान करती सीता (रामगमन प्रसंग में) राजभवन से निकल रही है तो कवि को ऐसी लगा मानो हिमवान् से गंगा, वेद से गायत्री अथवा शब्द से विभक्ति निकल पड़ी हो। यहां पर भावना की मुखरता दृष्टव्य है।

प्रतापी रावण के मरण पर विभीषण विलाप में अलंकार भावोन्नयन में सहायक हैं-यह तुम्हारा हार नहीं टूटा पड़ा है, तारागण ही टूटे पड़े हैं; तुम्हारा हृदय छिद्र नहीं हुआ है, विश्वव्यापी गगन ही छिद्र हुआ है; तुम्हारी आयु समाप्त नहीं हुई है, रत्नाकर ही रीता हो गया है; तुम नहीं गए, मेरी आशाओं की पोटली ही चली गई है; तुम नहीं सो रहे हो, आज सम्पूर्ण भूमण्डल ही सो गया है।

गोदावरी नदी के वर्णन में कवि की सूझ देखिए—

"फेणावलि बंकिम-वलयालंकिय णं महि बहु
अहे तणिया।
जल-णिहि भत्तारहो मोत्तिय-हारहो वाह
पसारिय दाहिणिया॥"

अर्थात् गोदावरी बंकिम-फेनावलिरूपी वलय से अलंकृत जलनिधि की वधू पृथ्वी की दक्षिण भुजा है

जो उसने मुक्ताहार से सुशोभित अपने पति की ओर प्रसारित कर दी है।

समुद्र की गहराई की उपमा महाकाव्य की गहराई से, आकाश में मेघ विस्तार की उपमा महाकाव्य के विस्तार से तथा समुद्र के क्रन्दन की उपमा किसी निर्धन व्यक्ति की अप्रमाण चीखपुकार देकर महाकवि ने नवीनता दिखाई है।

पउमचरिउ के अध्ययन के उपरान्त इस महाकाव्य को अमरकाव्य तथा स्वयंभुदेव को यशस्काय कहे बिना रहा नहीं जा सकता।

रिट्ठणेमिचरिउ

स्वयंभुदेव कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' या हरिवंशपुराण' १८००० श्लोक प्रमाण महाकाव्य है जबकि पउमचरिउ केवल १२००० श्लोक प्रमाण है। इसमें यादव, कुरु और युद्ध नामक तीन काण्ड हैं जिनमें १३, १६ और ८० सन्धियाँ हैं। प्रारंभिक ६६ सन्धियों के रचयिता स्वयंभुदेव हैं, अन्तिम २ सन्धियां ६ शताब्दी बाद होने वाले जसकित्ति कवि की कृति हैं तथा शेष त्रिभुवन की। निस्सन्देह ग्रंथ ६६ सन्धियों में पूर्ण था।

इस महाकाव्य में स्वयंभुदेव की सर्वाधिक सहानुभूति द्रौपदी के साथ है। कीचक द्वारा अपमानित द्रौपदी को देखकर स्त्रियों की टिप्पणी बहुत सुन्दर है। पर रात्रि को द्रौपदी जब भीम से अपना दुःख व्यक्त करती है तो क्रूरकर्मा भीम दार्शनिक भाषा में द्रौपदी को समझाता है—"तुम संसार धर्म नहीं निरखतीं। कहीं सुख है, कहीं दुःख। पूर्वकर्मों का वृक्ष ये दो फल ही देता है! देखो रावण द्वारा सीता को क्या थोड़ा दुःख हुआ था?" पाठक इसे काव्यापकर्ष ही मानेगा। त्रिभुवन ने अपनी रचित सन्धियों में दार्शनिकता बढ़ाकर भाषा को बोझिल और ग्रंथ को नीरस ही अधिक बनाया है, भले ही उसके द्वारा धार्मिकता बढ़ गई हो।

अति प्राचीन एवं उदार 'यापनीय संघ' के अनुयायी महाकवि स्वयंभुदेव परवर्त्ती जैन कवियों की अपेक्षा अधिक उदार थे यह बात रिट्ठणेमिचरिउ में अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। अभिमन्यु मरते समय जिस सर्वेच्छि देव की वन्दना करता है वह जैन सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार वर्णित न होकर एक सर्वप्रभावी रीति से वर्णित है—"जो निष्कल, सतत्, परात्पर है, जो नारायण, दिनकर, विष्णु शिव, वरुण, हुताशन, शशि और पवन है, वह चाहे जो हो उसे एकान्त भाव से स्मरण करता हुआ अभिमन्यु मृत्यु को प्राप्त हुआ।" कितनी सुन्दर उक्ति है! अन्तिम पंक्ति को कवि के शब्दों में हम दोहरायें—"जो होउ सु होउ थुणन्तु थिउ, एक्कन्ते करेप्पिणु कालु किन्तु।" अपने निजी विचारों को अपने पात्रों पर थोपने का रोग स्वयंभुदेव को नहीं लगा था।

महाकवि पुष्पदंत

विक्रम की ग्यारहवीं शती के महाकवि पुष्पदन्त की ओज, प्रवाह, सौन्दर्य और रस से परिपूर्ण रचनाओं के कारण उनका नाम स्मरण स्वयंभुदेव के पश्चात अत्यन्त आदरपूर्वक किया जाता है। महाकवि ने स्वयं को 'अभिमानमेरु' 'कविकुलतिलक' 'काव्यपिसल्ल' 'सरस्वतीनिलय' आदि नाम यथार्थ ही दिए थे। उनके तीनों प्रबन्धकाव्य मूल्यवान हैं। 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु' महाकाव्य है। 'णायकुमार चरिउ' व 'जसहरचरिउ' खण्डकाव्य हैं।

तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु

'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु' की प्रसिद्ध 'महापुराण' के नाम से है। इसके दो खण्ड हैं—आदिपुराण और उत्तर पुराण। जैन महापुरुषों—२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रति-वासुदेव—अर्थात् ६३ शलाकापुरुषों के चरित्र इस ग्रंथ में वर्णित हैं। आदिपुराण में भगवान ऋषभदेव का और उत्तरपुराण में शेष

तीर्थङ्करों व उनके समकालीनों का चरित्र निबद्ध है। आदिपुराण में ८० संधियां हैं और उत्तरपुराण में ४२। २०००० श्लोक प्रमाण का यह ग्रंथ वास्तव में मनोहर है।

आदिपुराण का प्रारंभ रूढ़ि के अनुसार ही विनम्र आत्मनिवेदन, आश्रयदाता (महामात्य भरत) की प्रशंसा, खल-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा, रचनोद्देश्यवर्णन तथा श्री ऋषभदेव के अवतार ग्रहण की भूमिका प्रस्तुति से होता है। ऋषभदेव के जन्म के वर्णन उपरान्त उनकी बाललीला का वर्णन कवि ने अत्यन्त मनोयोग से किया है। यथा–

"सेसवलीलिया कीलमसीलिया।
पहणाधाविया केण ण भाविया॥
धूली धूसरु ववगयकडिल्लु।
सहजायक विलकोंतलु जडिल्लु॥" इत्यादि

तदनन्तर भगवान के विवाह, सन्तानोत्पत्ति, वैराग्य एवं महानिर्वाण का वर्णन कर आदिपुराण समाप्त होता है। निस्सन्देह आदिपुराण की कथा-वस्तु महाकाव्योचित प्रबन्ध कौशल से निबद्ध है।

उत्तरपुराण में २३ कथाएँ हैं और उनमें एकतानता का स्पष्ट अभाव है पर चरित्रों के प्रसंग में युद्धों एवं देशविदेश के वर्णन के साथ ही ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-राजनीति आदि की गंभीर बातों को रखकर 'महाभारत' के अनुकरण पर ही ग्रंथ को विश्वकोष बनाने की चेष्टा महाकवि ने की है। व्यास ने अपने काव्य के लिए कहा था।—"जो यहां है वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।" पर अभिमानमेरु ने उससे भी बड़ी घोषणा की है—"इस रचना में प्रकृत के लक्षण, समस्त नीति, छन्द, अलंकार, रस, तत्वार्थ-निर्णय सभी कुछ आ गया है और जो यहां है वह अन्यत्र कहीं नहीं है. धन्य हैं वे पुष्पदंत और भरत जिन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त हुई।"

उत्तरपुराण में रामचरित्र और महाभारत भी है। पुष्पदन्त ने वाल्मीकि और व्यास की भर्त्सना की है और लगता है कि महाकवि—जो स्वयं शैव रहे थे और शिवमहिम्नस्तोत्र के रचयिता थे—ब्राह्मण विरोधी भावना से युक्त थे।

रामकथा की अपेक्षा कृष्णकथा में महाकवि ने अधिक रुचि ली है और नटखट कृष्ण व प्रगल्भ गोपियों की लीला उन्होंने प्रेमपूर्वक चित्रित की है। कभी मथानी तोड़ते और कभी आधा विलोया दधि लुढ़काते कृष्ण से टूटी मथानी का मोल आलिंगन मांगती गोपियां बाजी मार ले गई हैं—'एण महारी मंथणि भग्गी, ए यहि मोल्लु देउ आलिंगणु, काले कृष्ण के आलिंगन से गोली चौली के काली होने पर 'मूढ जलेन जांइ पक्खालइ, कहकर नवीनता प्रदर्शित की गई है। पर कृष्ण की कालिय-दमन और गोवर्द्धन धारण सदृश पौरुषप्रधान लीलाओं में उनकी लेखनी अधिक सशक्त हो उठी है। गोवर्द्धन धारण से पूर्व घनघोर वर्षा का नादानुरंजित चित्र देखिए—

'जलु गलइ झलझलइ। दरिभरइ सरसरइ।
तडयडइ तडिपडइ। गिरिफुडर, सिहिणडइ।
मरुचलइ तरुधुलइ। जलु थलु वि गोउल वि।"
इत्यादि

णायकुमारचरिउ

'णायकुमार चरिउ' पुष्पदंत का ९ सन्धियों का मनोहर खण्डकाव्य है। 'श्रुत-पञ्चमी-व्रत' की महिमा बताने के उद्देश्य से रचित यह काव्य यद्यपि पातालपुरी आदि साम्प्रदायिक व अलौकिक स्थानों व घटनाओं के बाहुल्य से युक्त है पर कहीं कहीं यथार्थ चित्रण की झलक भी मिल जाती है। जैसे वेश्याहाट के वर्णन में। यहां कवि की भाषा का प्रवाह देखिए—

"कवि वेस अह रगु समप्पइ।
झिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।

काविबेस रस सलिलें सिंचिय
वेवइ वलइ धुलइ रोमंचिय ।

इस काव्य में कवि का वस्तुवर्णनकौशल एवं प्रबन्धपटुता दर्शनीय है ।

जसहरचरिउ

'जसहर चरिउ' पुष्पदन्त रचित चार संधियों का एक लघु खण्डकाव्य है जिसमें यशोधर राजा का चरित्र वर्णित है । इसमें कापालिक मत के ऊपर जैनधर्म की विजय जन्मजन्मान्तरों की अत्यन्त जटिल कथा के प्राश्रय से कही गई है । राजाओं के छल-कपट, परस्त्री और पुरुष में अनुरक्ति, हत्या, प्रवंचना, चोरी आदि के बोलते चित्र खड़े किए गए हैं । उदाहरणार्थ कापालिक भैरवानंद का वर्णन देखिए—"वर्णवर्ण वाली टोपी सिर पर दे रखी है जिससे दोनों कर्ण ढँक गए हैं; हाथ में ३२ अंगुल का दण्ड है गले में विचित्र योगपट्ट है; गली गली चंग खड़काते और सिंगा बजाते भैरवानंद दम्भपूर्वक घूमता है ।"

हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि का काल अभी निर्णीत नहीं है—मुनि जिनविजय के अनुसार इनका समय संवत् ७५७ और ८२७ के मध्य रहा होगा और राहुल सांकृत्यायन के अनुसार संवत् १२१६ के आसपास । उनके दो खण्डकाव्य 'णेमिणाह चरिउ' और 'जसहर चरिउ' सुन्दर रचनाएँ हैं ।

'जसहरचरिउ' और 'णेमिणाहचरिउ'

'जसहर चरिउ' सुन्दर होते हुए भी नावीन्य से रहित है और पुष्पदन्त की कृति उससे अधिक पटुता से निबद्ध है पर 'णेमिणाह चरिउ' में तीर्थंकर नेमिनाथजी के चरित्र का वर्णन कर कवि ने धवल यश अर्जित किया है । सात सन्धियों और ८०३ श्लोक प्रमाण के इस खण्डकाव्य की भाषा अति अलंकृत और समासबहुला है । साहित्यिक सौन्दर्य सम्पन्न इस कृति में पुरुषसौन्दर्य का एक चित्र देखिए—

नील कुंतल कमल नयणिल्लु बिबाहरु सियदसणु ।
कंबुग्गीवुपुर अररि उरयलु ।
कुय दीहर भुय जुयल वयण ससि जिय कमल उप्पल ।
पडम दलारुण करचलणु, तविय कणय गोरंगु ।
अट्ठ वरिस वउ पहु हुयउ समहिय विजिय अणंगु ।

प्रकृतिवर्णन परम्परानुसार होते हुए भी भाषा में सौन्दर्य अवश्य है—'तारय—वसण कलयलंत तरु सिहर पक्खिय ।

परिसंदिर कुसुम-महु-विंदु मिसिणए पईं बहु-क्खिय ।"

अर्थात् प्रभातकाल में तारकरूपी वस्त्र खिसक गए, वृक्षशिखरों पर पक्षी कलरव करने लगे और विशाल नेत्रों जैसे कमलों से मधुबिंदु टपकने लगे ।

रागरंजित वर्णन में भाषा भी रंगीन हो उठती है—

"वज्जंत गज्जंत बहु-भेय तूरं
लभिज्जतं दिज्जत कप्पूर पूरं
णच्चंत णच्चंत वेसा समूहं
दसिज्जंत हिंडुंत वावयणतूहं ।" इत्यादि

'प्रबन्धचिंतामणि' और 'कुमारपालप्रतिबोध'

विक्रम की ग्यारहवीं शती में मेरुतुंगकृत 'प्रबन्धचिंतामणि' और सोमप्रभकृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध' दोनों ही शिथिल प्रबन्धकाव्य हैं । दोनों में कथाओं का विस्तृत संचय है और साहित्यिक सौन्दर्य कम है । नीति वाक्यों में दोनों ग्रंथ सम्पन्न हैं । प्रबन्धचिंतामणि का अधिक मूल्य उसमें निहित ऐतिहासिक वृत्तों के कारण है ।

सुदंसण चरिउ

विक्रम की बारहवी शती मे णयणंदि मुनि की कृति सुदंसण चरिउ महत्वपूर्ण है । बारह संधियों में रचित इस सुदर्शन—चरित्र में पचनम-स्कार—प्रतिदिन अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु को—का महत्व प्रदर्शित है । प्रेम कथा को लेकर लिखे गए इस ग्रंथ में शृंगार रस की प्रधानता होते हुए भी काव्य का पर्यवसान शांत रस में ही हुआ है । इसमें नायिकाभेद, नखशिख-वर्णन, आदि के साथ ही प्रकृति के भी सुरम्य चित्र

मिलते हैं। 'अभया' की उन्मुक्त प्रणय-याचना और संसार की समस्त सुन्दर वस्तुओं के सार से विनिर्मित सुदर्शन द्वारा शील की रक्षार्थ उसकी अस्वीकृति में भावों का अन्तर्द्वन्द्व अच्छा चित्रित किया गया है। धर्म के क्रोड में पोषित प्रेमकाव्य के रूप में 'सुदंसण चरिउ' का जैनप्रबंधकाव्यों में अनुपम महत्व है।

जम्बूस्वामी रासा

तेरहवीं शताब्दी में धर्मसूरि द्वारा रचित 'जम्बूस्वामी रासा' कथावस्तु-शैथिल्य एवं संवादों के अभाव के कारण साहित्यिक सौन्दर्य से बहुत कुछ हीन है पर फिर भी भगवान् महावीर के समकालीन जम्बूस्वामी के चरितकाव्य के रूप में उसका अपना महत्व है। पर उसमे भी बढ़कर है उसका भाषावैज्ञानिक महत्व क्योंकि गुजराती और हिन्दी के मूल सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला यह भी एक ग्रंथ है जो दोनों भाषाओं में समान महत्वपूर्ण है।

बाहुबलिरास

शालिभद्रसूरिकृत 'बाहुबलिरास' खण्डकाव्य भी तेरहवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण रचना है। इस शौर्य से परिपूर्ण काव्य में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि की विजयवाहिनी का इतना ओजस्वी वर्णन है जो जैनसाहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। चंचल अश्वों की चंचल गति का वर्णन देखिए—

'हीसइँ हसिमिसि हणहणइँ, तरवर तार तोषार।
खंडइँ खुरलइँ खेडविय, मन मानइँ असवार॥"

'नेमिनाथ चउपई' 'मल्लिनाथ काव्य' और 'पार्श्वनाथ चरित'

तेरहवीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण जैनकवियों में विनयचन्द्र सूरि की गणना होती है। उनके ३ प्रबन्धकाव्य हैं—'नेमिनाथ चउपइ,' 'मल्लिनाथ-काव्य' और 'पार्श्वनाथ चरित'। अन्तिम दो खण्डकाव्यों की अपेक्षा 'नेमिनाथ चउपइ' को साहित्यिक जगत में अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। इसके दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि यह सम्पूर्ण काव्य चौपाइयों में लिखा गया है जो सौभाग्य सर्वप्रथम इसी ग्रंथ को प्राप्त हुआ है और द्वितीय यह कि 'बारहमासा' सर्वप्रथम यहीं मिलता है। नेमिनाथ के वैराग्य ग्रहण करने पर उनकी पत्नी राजल देवी का विलाप श्रावण से आसाढ़ तक 'बारहमासा' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रावण में 'बिज्जु झबक्कइ', भाद्र में 'भरिया सर पिक्खेवि सकरुण रोजइ राजल देवि', 'कार्तिक में खिलिग उभाई संभ', फाल्गुण में 'वागुणि पन्नपंडति राजल दुक्खि कि तरु रोयति', चैत्र में 'वणि वणि कोयल टहका करइ' आदि में कवि ने नारी हृदय की व्यथा का मार्मिक वर्णन कर इस खण्डकाव्य के सौष्ठव को बहुगुणित कर दिया है।

'संघपतिसमरा रासा'

अम्बदेव कृत 'संघपतिसमरारासा' खण्डकाव्य संवत् १३०० की रचना मानी जाती है। शाह समरा संघपति द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार होने पर कवि ने यह ग्रंथ लिखा था। इनकी भाषा सरलता से आज के हिन्दी पाठक की समझ में आने योग्य है। एक उदाहरण देखिए—

वाजिय संख असंख नादि काहल दुडुदुडिया।
घोड़े चड़र सल्लारसार राउत सींगड़िया।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि वेगि धाघरि खु झमकइ।
समविसम नवि गणइ कोई नव वारिउ थक्कइ॥

'रेवन्तगिरिरासा' और सप्तक्षेत्रि रास

तेरहवीं शती में रचित विजयसूरि कृत 'रेवन्तगिरिरासा' और चौदहवीं शती में रचित 'सप्तक्षेत्रिरास, (कवि अज्ञात) का साहित्यिक मूल्य कम और धार्मिक अधिक है।

विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता

इस प्रकार हिन्दी के आदिकाल के कतिपय जैन प्रबन्धकाव्यों का एक संक्षिप्त अवलोकन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इनकी विधाओं, शैलियों, काव्य रूढ़ियों आदि की पूर्वपरम्परा एवं परवर्ती काव्य पर प्रभाव विस्तृत अध्ययन के विषय हैं। ●●

जीवन की बहुत सी बड़ी बातों को हम तब पहिचान पाते हैं जब उन्हें खो देते हैं।

× × × ×

बुरा तो अच्छे का दुश्मन नहीं हुआ करता। अच्छे का दुश्मन तो वह है जो उससे और भी अच्छा है। वह "और भी अच्छा" जिस दिन अच्छे के समक्ष उपस्थित होकर प्रश्न का उत्तर चाहता है उस दिन उसी के हाथ में राजदण्ड सौंपकर इस 'अच्छे' को अलग हो जाना पड़ता है।

× × × ×

संसार में जितने पाप हैं उन सबसे बड़ा पाप देश द्रोह है।

× × × ×

इस संसार में भलाई करने का भार जिसने भी अपने ऊपर लिया है उसके शत्रुओं की संख्या सदा ही बढ़ती रही है। किन्तु इस भय से जो लोग पीछे हट जाते हैं, अगर उन्हीं में तुम भी जाकर मिल जाओगे तो कैसे काम चलेगा ?"

—बाबूजी की डायरी से

जैन संस्कृति में नारी के विविध रूप

प्रेमसुमन जैन

जैन संस्कृति यम-नियम और संयम की संस्कृति है। उसके स्वभावतः दो पक्ष हमारे सामने उपस्थित होते हैं। प्रथम दार्शनिकपक्ष जिसके सहारे जैन संस्कृति अपनी आत्मा नैवर्तक प्रवृत्ति को सुरक्षित रख सकी है और दूसरा पक्ष व्यावहारिक है, जिसके द्वारा वह अन्य भारतीय-संस्कृतियों के साथ कदम मिलाकर चल सकने में समर्थ हुई है।

जैन संस्कृति ने अपने इन दोनों पक्षों की दृष्टि से भारतीय नारी की व्याख्या की है। दर्शनपक्ष ने जहां नारी को मोक्षमार्ग में बाधक तथा एक परिग्रह के रूप में देखा है, वहां संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष ने नारी को इतने ऊपर जा बैठाया है, जहां अन्य भारतीय संस्कृतियों में स्वीकृत नारी नहीं पहुँच पाती। जैन संस्कृति में हमें नारी के दोनों रूपों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। जैन संस्कृति में नारी को हेय देखने की भावना अन्य संस्कृतियों का तात्कालिक प्रभाव है तो नारी को तपस्या के उच्च शिखर पर आरूढ़ कर पूजना जैन संस्कृति के हृदय की पुकार।

नारी के विविध रूपों का जैन संस्कृति में चित्रण हुआ है। उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक की कहानी वहां विभिन्न रंगों में चित्रित है। उचित यही होगा, नारी के समस्त पहलुओं पर विकास-क्रम की दृष्टि से विचार किया जाय।

कन्या की स्थिति

पुत्रियां समाज के लिए बोझ नहीं होती थीं और न मां-बाप के लिये अभिशाप ही। पिता साक्षात् कला रूप पुत्री को देख कर आनन्दित होता था।[1] कन्याओं के जन्म पर भी उत्सव मनाये जाते थे। माता के गर्भिणी होने पर जैसे हिन्दू संस्कारों में पुंसवन संस्कार करने का निर्देश है, जिसमें मात्र पुत्र उत्पन्न होने की कामना की जाती है[2] ऐसा कोई संस्कार जैन साहित्य में दिखाई नहीं पड़ता। अतः जैन संस्कृति पुत्र और पुत्री को समान दृष्टि से देखती है।

कन्याओं का लालन-पालन ढंग से करने के बाद उन्हें उचित शिक्षा देना, चौसठ कलाओं में पारंगत कराना गृहस्थ का कर्तव्य था। यही कारण है कि कन्यायें इतनी होशियार और विदुषी हो जाती थीं कि वे ऐसी अनेक समस्यायें जो उनके पिता नहीं सुलझा पाते थे, चुटकी मारते सुलझा देती थीं।[3] भगवान ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध किया था कि वे दोनों अंक विद्या और अक्षरशास्त्र की अधिष्ठात्री थीं।[4]

कन्यायें उस समय माता-पिता की कृपा पर निर्भर नहीं रहती थीं। उनका पैत्रिक सम्पत्ति में

---

१. आदिपुराण पर्व ६ श्लोक ८३.

२. पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्।
—हिन्दू संस्कार पृष्ठ ७३

३. आवश्यक चूर्णि ६. पृष्ठ ५२२

४. आदिपुराण पर्व १६, श्लोक १०३-१०४

भी पूर्ण हिस्सा रहता था। किन्तु फिर भी वह अपनी नाना कलाओं द्वारा धनोपार्जन कर परिवार को आर्थिक लाभ कराती थीं।[1] आज जैसा उन्हें परिवार के आश्रित होकर नहीं रहना पड़ता था। जैन कथाओं की कन्यायें तो राज दरबार तक में अपना स्थान बना चुकी थीं।[2]

परिवार में कन्या के उत्पन्न होने का अर्थ था उस गृहस्थ के त्रिवर्गों की सिद्धि। अपनी सुयोग्य कन्या का उचित समय पर सत्पात्र के साथ विवाह कर देने से गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को साधने का फल मिलता है। क्योंकि जिस घर में कन्या जाती है, वहां की गृहस्थी पूर्ण हो जाती है। धर्म, सन्तान और कुल की उन्नति के लिए कन्या को विवाह कर लाना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।[3] अतः कन्या समाज व परिवार के लिये जैन संस्कृति में उस धुरी के रूप में स्वीकृत की गई है, जिस पर सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम घूमता है।

वैवाहिक परम्परा

यद्यपि जैन संस्कृति निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करती है, किन्तु फिर भी उसमें सांसारिक व्यवस्था सम्बन्धी सामग्री भी कम नहीं मिलती। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ विवाह के बाद होता है। विवाह दो विषम लिंगियों के पारस्परिक उस महत्वपूर्ण समझौते का नाम है जिसमें दोनों एक दूसरे के होकर बंध जाते हैं। कन्या विवाह के लिये पूर्ण स्वतन्त्र थी। उसे पिता तथा अन्य व्यक्तियों की रुचि के अनुसार बाध्य नहीं होना पड़ता था। यदि वे चाहती थीं तो उन्हें सम्पूर्ण जीवन क्वांरा बि।ा देने के लिये समाज की ओर से स्वीकृति थी। ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना, जयन्ती आदि वे प्रमुख कन्यायें हैं जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य पालन कर धर्म साधा था।

जैनागमों में वर्णित स्वयम्बरों के दृश्य इस बात के प्रमाण हैं कि कन्या अपना वर चुनने में स्वतन्त्र थी। वैवाहिक क्रियायें किस प्रकार सम्पन्न होती थीं यह और बात है। नाभिराय इसके प्रथम सम्पन्नकर्ता थे। उस समय के विवाह कम उम्र में नहीं होते थे। जैन शास्त्रों के अनुसार जिसका बाल भाव समाप्त हो गया हो जिसके शारीरिक नौ अंग जागृत हो गये हों तथा जो भोग करने में समर्थ हो ऐसे व्यक्ति विवाह के योग्य समझे जाते हैं।[4] इस मान्यता के अनुसार बाल-विवाह को जैन संस्कृति स्वीकार नहीं करती। अतः उस समय की नारियां चिर वैधव्य जैसे दारुण दुख से दूर थीं।

वैवाहिक क्रियाओं से सम्बन्धित कुछ प्रसंग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें बहिन को अपने सगे भाई से विवाह करना पड़ता था। यह उस समय की स्थिति है जब लोग अपनी कन्याएं अज्ञात कुलों में भेजना पसन्द नहीं करते थे। ऋषभ देव ने अपनी बहिन से शादी का प्रस्ताव रखा था। पुष्पकेतु ने अपने पुत्र और पुत्री का परस्पर में स्वयं विवाह किया था।[5] यह प्रथा बाद में बौद्धिक विकास के साथ-साथ लुप्त हो गई।

कभी कभी कन्याओं को विवाह के बाद भी घर पर रहना पड़ता था। माता-पिता की स्थिति यदि अच्छी नहीं होती थी अथवा वर की आर्थिक स्थिति कमजोर होती थी तो लड़की मां-बाप को छोड़कर नहीं जाती थी। अपने पति को घर

---

१. आदिपुराण पर्व ७

२. आवश्यक चूर्णि २, पृष्ठ ५७-६०

३. सागर धर्मामृत २ अ. श्लोक ५६-६०

४. उमुक्क बालभावे, णवंगसुत्त-पडिबोहिए, अलं भोग समत्थं। ज्ञाताधर्मकथा आदि

५. आवश्यक चूर्णि २, पृष्ठ १७८

जमाई बनाकर रखती थी।[1] कुछ ऐसे विवाहों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें परस्पर बहिन बदल कर लोग विवाह कर लेते थे। देवदत्त ने अपनी बहिन की शादी धनदत्त से की थी और उसकी बहिन को अपनी पत्नि बनाया था।[2] इससे यही प्रतीत होता है, कन्यायें परिवार की भलाई के लिए विवाह जैसे महत्वपूर्ण कार्यों में भी विरोध नहीं करती थीं।

एक ओर कन्यायें जहाँ विवाह के लिए स्वतंत्र थीं वहाँ दूसरी ओर उनका अपहरण भी कम नहीं होता था। विवाह का एक यह भी प्रकार था। बासवदत्ता उदयन के द्वारा, सुवर्ण गुलिका दासी राजा प्रद्योत के द्वारा, रुक्मणि कृष्ण के द्वारा और चेलना राजा श्रेणिक के द्वारा अपहृत की गई थीं।[3] किन्तु इन कन्याओं ने, अपहरण द्वारा लादी जाने पर भी अपने पतियों का जितना सुधार किया था शायद ही कोई ब्याहकर लायी हुई पत्नी करती।

वैवाहिक परम्परा के अवलोकन से यही प्रतीत होता है कि नारी को अनेक कठिनाईयों से गुजरना अवश्य पड़ा किन्तु उसकी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई। यहाँ हमें नारी की दुर्बलता कहीं देखने को नहीं मिलती, भले उसे परवशता सहन करनी पड़ी हो।

बौद्धिक नारियाँ

जैन संस्कृति के निर्माण में जितना योगदान पुरुषों का है उतना नहीं, तो भी नारियों का सहयोग कम नहीं है। आज नारियां पुरुषों के साथ कंधा मिलाकर चलने की बात करती हैं, उस समय वे चलती थीं। उन्होंने अपने जीवन की आहुति मात्र पति की सेवा करने में ही नहीं देदी बल्कि समय समय पर विदुषी, धर्मपरायण, वीराङ्गना और कर्तव्यनिष्ठ होकर यह भी साबित कर दिया है कि नारी चरण दाबने के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानती है; कर सकती है।

विदुषी—विद्वत्ता के क्षेत्र में हम ब्राह्मी, सुन्दरी चन्दनबाला, जयन्ती आदि का नाम गर्व पूर्वक ले सकते हैं जिन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा भारतीय नारी का मस्तक ऊँचा उठाया है। चन्दनबाला वह प्रथम बाला है जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर कई वर्षों तक भगवान महावीर के नारी-संघ की अधिष्ठात्री रही, जिसमें करीब छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। जैन कथा ग्रन्थों में भी अनेक कुशल उपदेशिकाओं और अध्यापिकाओं का उल्लेख मिलता है।[4] सोम शर्मा की पुत्री तुलसा और भद्रा विद्वत्ता में जगत प्रसिद्ध थीं।[5]

अनेक नारियां विदुषी होने के साथ साथ लेखिका और कवियित्री भी हुई हैं। लेखिकाओं में गुणसमृद्धि, पद्मश्री, हेमश्री, सिद्धश्री, विनयचूल, हेमसिद्धि, जयमाला आदि प्रमुख नारियां हैं जिनकी रचनाएँ श्वेताम्बर साहित्य में सुरक्षित हैं। रणमति आर्यिका का 'जसह चरिउ' और राममती का 'समकितसार' ये दोनों ग्रन्थ इन लेखिकाओं की विद्वत्ता प्रगट करते हैं।[6] कुछ ऐसी महिलाओं का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने स्वयं तो ग्रन्थ नहीं लिखे किन्तु अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां लिख-लिखा कर साधुओं और विद्वानों को भेंट की थीं। यह कार्य १४-१५ वीं शताब्दी में अधिक हुआ है।[7] अनुलक्ष्मी, असुलधी, अवन्ती, सुन्दरी, माधवी आदि जैन साहित्य की प्रमुख कवियित्रियां हैं, जिन्होंने प्राकृत संस्कृत आदि भाषाओं में अपनी लेखनी चलायी है।[8]

१. नायाधम्मकहा १६, पृष्ठ १६६
२. पिधानयुक्ति पृष्ठ ३२४.
३. नायाधम्म कहा १६ पृष्ठ १८६.
४. नायाधम्म कहा २, पृष्ठ २२०-२३०
५. हरिवंश पुराण पृष्ठ ३२६
६. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४८१
७. वही पृष्ठ ४८३
८. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ६७०

धर्मपरायणा :—धर्म-कर्म और व्रतानुष्ठान में नारी कभी पीछे नहीं रही है। अनेक शिला-लेखों में जैन नारियों द्वारा बनवाये जाने वाले अनेक विशाल गगन चुम्बी मन्दिरों के निर्माण और उनकी पूजादि के लिए दिये गये दान का उल्लेख मिलता है। ई. पू. छठवीं शताब्दी में चेटक की रानी भद्रा, शतानी की पत्नी मृगावती, उदयन की भार्या वासवदत्ता, दशरथ की जाया सुप्रभा, प्रसेनजित की वल्लभा, मल्लिका तथा दार्थवाहन की श्रीमती अभया ने जैन मंदिरों का निर्माण कराया था।[1] यह परम्परा १४-१५ वीं शताब्दी तक देखने को मिलती है। इस तरह हमें अनेक जैनधर्म की सेवा करने वाली धार्मिक महिलाओं का उल्लेख मिलता है।

कला विशारद :—प्राचीन नारी की बौद्धिक क्षमता हमें हर क्षेत्र में देखने को मिलती है। जैन नारियों का मूर्तिकला से भी बहुत सम्बन्ध रहा है। मथुरा की जैनमूर्तिकला, जो भारतीय मूर्तिकला की जननी है, में नारी का अपूर्व योगदान हैं। वर्तमान में प्राप्त अवशेषों में कम से कम पचास ऐसी नारियों के उल्लेख मिलते हैं जिन्होंने अपनी रुचि के अनुसार मंदिर, मूर्ति, गुफा, चरणवेदिका आदि बनवायी थीं। आबू की मंदिर की जगत प्रसिद्ध वास्तुकला सेठानी अनुपमा की कलाप्रियता की निशानी है। ये समस्त कला-कृतियां हमारी बहुमूल्य थाती हैं। जब तक ये रहेंगी उन उदारचेता एवं कला-प्रेमी नारियों की मधुर स्मृति जागृत किये रहेंगी।[2]

वीरांगना :—प्राचीन जैन नारी एक ओर जहाँ सेवा की मूर्ति और धर्मपरायणा थीं वहां निर्भय और वीराङ्गना भी। पुराणों में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्त्री ने पति की सेवा करते हुए उसके कार्यों में, राज्य के संरक्षण में तथा युद्ध के क्षेत्र में भी लड़कर पति को सहयोग दिया है। गंग नरेश के वीरयोद्धा 'बद्देग' (विद्याधर) की पत्नि 'सावियब्बे' ने पति के साथ युद्ध में लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की थी। वह सीता, रेवती आदि जैसी जिनेन्द्रभक्तिन तथा धर्मपरायणा भी थी।[3] 'जाक्कियब्बे' दूसरी साहसी और वीर नारी है जिसने पति के बाद राज काज सम्हाल कर राज्य-शासन और जैन शासन दोनों की रक्षा की थी।[4]

इस अवलोकन से ज्ञात होता है कि जैन नारी ने हमेशा अपना आदर्श जीवन बिताने की कोशिश की है। पुरुषों की भांति वह भी चहार दीवारी से बाहर निकल कर आत्मसाधन और धर्मसाधन में रत हुई है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम थी। वह राधा आदि नारियों की तरह पुरुषों की अनुगामिनी मात्र बनकर नहीं रह गई। इसीलिए जैन नारियों का जीवन पुरुषों को भी प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। आज की नारी यदि उससे कुछ न सीखे तो यह उसका दुर्भाग्य है।

सामाजिक कुरीतियां और नारी

भारतीय संस्कृति का इतिहास बतलाता है कि कोई भी समाज कितना ही अच्छा क्यों न रहा हो, कुछ न कुछ कुरीतियां उसमें अवश्य प्रविष्ट हो जाती हैं। जैन संस्कृति की नारी को भी इस अवस्था से गुजरना पड़ा है। किन्तु उसके ये कुछ दोष गुणों की बाहुल्यता के कारण छिप जाते हैं।

सती प्रथा—जैनागमों में सती प्रथा का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जैन नारी प्रबुद्ध और निर्भर थी। उसे यह डर नहीं था कि पति के बाद उसके शील पर कोई आंच आ सकती है। और न वह इस अन्ध विश्वास की शिकार थी कि पति के साथ जल जाने से ही उसके प्रति सच्ची भक्ति प्रदर्शित

१. श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. ४९१, आदि
२. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४९२
३. चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख नं. ६१ (१३६)
४. श्रवणबेलगोला शिलालेख नं. ४८६

की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि जैन नारी के समक्ष आर्यिका बन धर्म ध्यान में शेष जीवन बिता देने का मार्ग प्रशस्त था। अतः उसे पति के साथ अपना जीवन होम कर देने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। केवल महानिशीथ ग्रन्थ में एक राजकुमारी का उल्लेख मिलता है जो सती होने के लिये संकल्पबद्ध थी, किन्तु परिवार के लोगों द्वारा उसे बचा लिया गया था।[१]

विधवा-विवाह—सती प्रथा को रोकने में विधवा विवाह काफी सहायक होते हैं। जिन जातियों में विधवाओं के विवाह होते हैं उनमें नारियां पति के साथ कम ही भस्म होती हैं। या यों कहना चाहिये, जिस समाज में वैधव्य के दारुण दुख को सुख में बदलने वाली संस्थाऐं हैं वहां भी सती प्रथा नहीं पनप पाती। जैन नारी के लिए पुनः विवाह नहीं खुला था। उसे अपना सारा वैधव्य पति की स्मृति में ही बिताना पड़ता था। उनके लिए फिर संसार में कोई सुख नहीं रह जाता था सिवा इसके कि वे अपना जीवन अध्यात्म की ओर लगायें। अतः विधवा विवाह जैन संस्कृति में न के बराबर है। अनेक जगह इस प्रथा का विरोध किया गया है।[२]

जैन विधवा नारियां अपना समस्त जीवन तपश्चरण और धर्मध्यान में व्यतीत करती थीं। धनश्री और लक्षणवती ऐसी विधवाएँ थीं जिन्होंने जिनदीक्षा लेकर सच्चे हृदय से समाज सेवा की थीं।[3] इस प्रसंग में राजुल की पति भक्ति को नहीं भुलाया जा सकता। उसके सामने तो पहाड़ जैसी जिन्दगी थी और उसका विधि से विवाह भी नहीं हो पाया था फिर भी उसने अपने मन-मंदिर के देवता के पथ का ही अनुसरण किया। अतः जैन संस्कृति में पतिभक्ति के कुछ उदाहरण ऐसे मौजूद हैं, जो बेजोड़ हैं।

विधवाविवाह की प्रथा न होने पर भी यदि कोई विधवा नारी निःसन्तान होती थी, उसके घर का कार्यभार सम्हालने वाला कोई नहीं होता था तो वह अपने निकट-सम्बन्धियों में से किसी एक के साथ सहवास कर पुत्र की प्राप्ति कर सकती थी। किन्तु यह नियम सर्वमान्य नहीं था। जैनकथा ग्रन्थों में एक उल्लेख ऐसा मिलता है जिसमें एक सास ने अपनी चार विधवा बहुओं का किसी अज्ञात व्यक्ति को उनका देवर बतलाकर उससे सहवास कराया था। और वह व्यक्ति बारह वर्ष तक उस घर में रहा। तदनन्तर चारों स्त्रियों से एक एक पुत्र उत्पन्न होने के बाद चला गया।[४] इस कथानक को सार्वभौम नियम के रूप में नहीं माना जा सकता।

बहुपत्नित्व प्रथा:—भारतीय संस्कृति के प्रत्येक युग की नारी ने पुरुषों की इस ज्यादती को सहा है। जैन नारी कैसे छूट जाती? उस समय बहु पत्नित्व प्रतिष्ठा का सूचक था। महाराजा भरत राजा श्रेणिक आदि इसके उदाहरण हैं।[५] बड़े आदमी की पहिचान उसके अवरोधन में दिन प्रति दिन वृद्धि के द्वारा होती थी। कुछ नारियां पुरुष अपने विलासी जीवन के लिए एकत्र करते थे। कुछ उन्हें उपहार स्वरूप प्राप्त होती थीं। ध्यान रहे, ये सब नारियां निम्न कोटि की ही होती थीं। दास-दासियों की खुले आम बिक्री ने भी बहुपत्नित्व को बढ़ावा दिया था।[६] क्योंकि वित्तस्त्री चेटका के रूप में उपभोग में ली जाती थी।[७]

पुरुषों के अधिकार उस समय बड़े चढ़े थे। छोटी से छोटी बात पर भी वे पत्नी को घर से निकाल देते थे।[८] सुभद्रा नाम की एक स्त्री किसी

१. महानिसीथ पृष्ठ ४२
२. महानिसीथ पृष्ठ २४
३. धर्म परीक्षा श्लोक ११-१२-१३,
४. आवश्यकचूर्णि
५. उत्तराध्ययन १८, पृष्ठ २३९
६. वसुमति चरित्र
७. वधूवित्तस्त्रियौ०—आचार्य सोमदेव
८. आदिपुराण पर्व ४७

बौद्ध व्यक्ति को ब्याही थी। एक दिन पति की अनुपस्थिति में एक जैन साधु सुभद्रा के घर आया। उसने विधपूर्वक उन्हें आहार दिया। तभी साधु की आंख में किरकिरी पड़ गई। उन्हें दुख में देख सुभद्रा ने वह किरकिरी अपनी जीभ के अग्रभाग से निकाल दी, जिससे साधू की आंख में पीड़ा न हो। ऐसा करते समय सुभद्रा का मस्तक साधू के मस्तक से छू गया और उसके माथे की बिंदिया का रंग साधू के माथे पर लग गया। तभी सुभद्रा का का पति आ गया। उसने कुछ और ही समझा। तथा सुभद्रा को लांछन लगा कर घर से बाहर निकाल दिया।[1]

पर्दा प्रथा :— जैन नारी पर्दे की दीवार में घिर कर कभी नही रही। यह उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। जैन-सम्प्रदाय में हमेशा से समय-समय पर धार्मिक उत्सव होते आये हैं। जैन गृहस्थ पूरे परिवार के साथ इन उत्सवों में सम्मिलित होते हैं। नर-नारियों की सामुदायिक उपस्थिति प्रत्येक धार्मिक सभाओं में एक सी होती है। जैन कथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन-नारियां बेरोक-टोक जनसमुदाय में जाती थीं। अपने रिश्तेदारों और सखी-सहेलियों के यहां जाने की भी उन्हें छूट थी। राजा अपने पूरे अवरोधन के साथ जैन मुनियों के दर्शनार्थ जाया करते थे। रानियां, सेठानियां व कन्याएँ सबके सामने साधुओं से प्रश्न पूछतीं और व्रतादि ग्रहण करती थीं।[2] गृहस्थ औरतें पतियों के साथ अथवा अकेले ही वन-विहार को जाया करती थीं।[3] अतः जैन नारियां पर्दे की प्रथा से प्रायः मुक्त थीं।

गणिकाएँ :—

गणिका अथवा वेश्या शब्द से आज जो अर्थ साधारणतया लगाया जाता है तथा उन्हें जिस हीन और उपेक्षा की भावना से देखा जाता है, वह जैन संस्कृति के स्वरूप में कहीं देखने को नहीं मिलता। गणिकाओं की स्थिति उस समय में अच्छी थी। वे समाज का एक आवश्यक अंग थीं। गणिकाओं को मांगलिक माना गया है। भगवान ऋषभ देव की दीक्षा के समय द्वार पर वार-योषिताओं को मंगल द्रव्य लिए हुए खड़ा किया गया था।[4]

गणिका का तात्पर्य एक उस गण (समूह) से था जो जनसमुदाय का नृत्यगानादि द्वारा मनोरंजन करता था। गणिकाओं को रतिशास्त्र की आचार्याओं के रूप में स्वीकृत किया गया है। वे विदुषी, कला-सम्पन्न तथा मधुर गायिका होती थीं। जैन साहित्य में चम्पा नाम की एक गणिका का बहुत उल्लेख मिलता है। वह चौसठ कलाओं में प्रवीण और अनन्य सुन्दरी थी। एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ वह एक रात के लेती थी।[5] एक गणिका चित्र-कला में इतनी प्रवीण थी कि उसके यहां सहज नागरिक का पहुँचना कठिन था। कला पारखी ही उसके यहां आ पाते थे। क्योंकि वह उनकी रुचि के अनुसार ही उनका स्वागत करती थी।[6] कोशा नाम की गणिका चार वेदों और अनेक लिपियों की जानकार थी।[7] इससे स्पष्ट है, विविध कलाओं में उस समय नारी कितने आगे बढ़ी हुई थी।

इन गणिकाओं का जैन धर्म से भी बहुत सम्बन्ध रहा है। क्योंकि उनके यहां आने जाने वाले लोग प्रायः सेठ साहूकार ही होते थे, जो अक्सर जैन होते थे। वसन्त सेना और चारुदत्त की कथा जगत् प्रसिद्ध है। कुछ गणिकाएँ ऐसी भी थी जो मात्र किसी एक पुरुष को अपना शरीरार्पण करती थीं। पाटलिपुत्र की एक कोशा नाम की गणिका बारह वर्ष तक स्थूलभद्र के साथ रही। और जब वह

---

१. नायाधम्म कहा २, पृष्ठ २२०-२३०
२. व्यवहार भाष्य आदि
३. आदिपुराण पर्व ४ श्लोक ८६
४. आदिपुराण पर्व १७ श्लोक ८६
५. नायाधम्म कहा आदि
६. बृहत्कल्प भाष्य
७. नायाधम्म कहा ८, पृष्ठ १०८

संसार से विरक्त हो मुनि हो गया तो कोशा ने भी जिन दीक्षा ग्रहण कर ली।[1] उज्जैनी की देवदत्ता ने भी मूलदेव के साथ श्रावक धर्म स्वीकार किया था।[2] अन्य जैन धर्मावलम्बी गणिकाओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें देवदत्ता प्रमुख थी। इसके घर देवसंघ के मुनियों ने चातुर्मास किया था।[3] गणिकाओं द्वारा अनेक जैन मंदिर बनवाने का भी उल्लेख मिलता है।[4]

साध्वी नारियाँ—

जैन संस्कृति की नारी हमेशा चाहे वह गृहस्थ जीवन में हो अथवा सन्यास जीवन में आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख रही है। उसका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। जैन संस्कृति के उन्नायकों ने नारी को निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में आने से कभी नहीं रोका। भगवान महावीर ने नारी को अपने संघ में दीक्षित कर उनके आत्म-साधन का मार्ग खोल दिया था। इनके पूर्व के २३ तीर्थंकरों ने भी इसे किसी न किसी रूप में स्वीकारा ही था। अतः पुरुषों की भांति नारियों को भी आत्मकल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त था। विशल्या, चन्दना, राजमति आदि वे साध्वियां हैं जो त्याग और तपस्या की मूर्ति थीं। उनका चरित्र अतुलनीय है।[5]

अनेक नारी संघों का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है। एक संघ में करीब छत्तीस हजार नारियों के होने तक का प्रमाण है।[6] नारी संघों की साध्वियों को एक ओर जहाँ ध्यान एकाग्र कर आत्मा का चिंतन करना होता था, वहाँ दूसरी ओर बाह्य कठिनाईयां भी उन्हें कम नहीं थी।

जब वे अकेली भिक्षा के लिए जातीं तो उन्हें ग्राम के मनचलों के व्यंगबाणों को सहना पड़ता था। कभी कभी अनेक कामी गृहस्थ अपने घर की स्त्रियों को उपदेश देने के लिए तरुण सुन्दर साध्वियों को आमन्त्रित कर उनसे मनमानी करते थे। किंतु उन तेजस्विनी तापसियों का तेज और शील हमेशा उनकी रक्षा करता था। किन्तु इतने बड़े संघ में कुछ साध्वियों के शीलभंग भी हो जाते थे। उनके लिए कोई रियायत नहीं थी। संघ की आचार्या पता पड़ने पर उन्हें संघ से निष्कासित कर देती थीं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी नारी संघ को जंगल में रहने के कारण चोर डाकुओं से भी हानि उठानी पड़ती थी।

इन कठिनाइयों के बावजूद भी जैन नारी संघ आत्म-कल्याण के मार्ग से विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपने धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हुए जैनाचार्यों के आदर्श को कायम रखा तथा अपने नैतिक जीवन के स्तर को हमेशा ऊँचे उठाये रखा। जैन संस्कृति की नारी के प्रति उदार प्रवृत्ति का ही यह फल था।

स्त्रियों की निन्दा और प्रशंसा

जैनसंस्कृति व साहित्य में स्त्रीनिन्दा के प्रकरणों का आना स्वाभाविक है। क्योंकि प्रायः सभी जैन साहित्य त्याग और वैराग्य को उद्देश्य में रख कर लिखा गया है। वैदिक संस्कृति में नारी का स्थान बहुत ही निम्न माना गया है। उसे दासी से ऊपर उठने ही नहीं दिया गया। इस तरह के वातावरण में ही जैन संस्कृति का जन्म हुआ। अतः अन्य संस्कृति के प्रभाव से भी हो सकता है स्त्री विषयक निन्दा जैन साहित्य में प्रविष्ट हुई

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २ पृष्ठ २६
२. नायाधम्म कहा पृष्ठ ६०
३. इण्डियन एन्टेकरी भाग २० पृष्ठ ३४६
४. वीर, वर्ष ४, पृष्ठ ३०२
५. पदमपुराण पृष्ठ ४२५-२६.
६. वसुमति चरित्र

हो। किन्तु जैन साहित्य में स्त्रियों की निन्दा और अन्य साहित्य की स्त्री की निन्दा में बहुत फरक है। जैन संस्कृति में स्त्री की निन्दा हमेशा मोक्ष-मार्ग के साधकों के प्रसंग के साथ हुई है। साधारण गृहस्थ ने नारी को कभी हेय नहीं समझा।

जैन कवियों ने जहां नारी के विषय में प्रशंसा के पुल बांधे हैं। वहां उसकी निन्दा भी कम नहीं की। उन्होंने स्त्री का मुख कफ का भण्डार, नेत्र दो मल के गढ्ढे, स्तन दो मांस के लोथड़े तथा नितम्बादि खून और हड्डियों का समूह है,[१] इस रूप में स्त्री के स्वरूप को वीभत्स किया है। ऐसे वर्णनों से कौन नहीं स्त्रियों से मुक्ति चाहेगा। थोड़ी बहुत आसक्ति हुई भी तो वह इससे खण्डित हो जायेगी कि स्त्रियां राक्षसनियां हैं, जिनकी छाती पर दो मांस के पिण्ड उगे रहते हैं। वे हमेशा विचारों को बदलती रहती हैं और मनुष्य को ललचाकर गुलाम बनाती हैं।[२] अग्नि भले शीतल हो जाये, विष चाहे अमृत हो जाय, किन्तु स्त्रियां कभी अपनी वक्रता नहीं छोड़ सकतीं।[3] अतः स्त्रियों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। उनके संसर्ग से मनुष्य धर्म का पात्र नहीं रह जाता और न ही मोक्ष का साधक बन पाता है।[४] क्योंकि—
जिस उर अन्तर बसत निरन्तर
नारी औगुन खान।
तहां कहां साहिब को बासा
दो खांडे, इकम्यान।।[५]

अतः विषवेल रूपी नारी को जब बड़े बड़े योगीश्वरा तक त्याग कर चले गये हैं[६] तो हम क्यों उनके चक्कर में फंसें? क्योंकि नारी शब्द का अर्थ ही है—'न+अरि' पुरुष के लिए नहीं है शत्रु जिसके समान ऐसी नारी।[७] शत्रु को कौन नहीं त्यागना चाहेगा। नारी वैसे ही विषैली होती है यदि उसे अधिक शिक्षित करा दिया जाय तो सांप को दूध पिलाना जैसा है[८] आदि-आदि।

निश्चय ही ये निन्दा विषयक सारे कथन नारी के किसी एक पहलू को लेकर कहे गये हैं। यह उसका सर्वाङ्ग चित्रण नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो गृहस्थ जीवन के लिए नारी की इतनी उपयोगिता न मानी जाती कि उसके बिना पुरुष का जीवन निष्फल है। वह जीते हुए मृतक के समान रहता है। नारी के बिना घर एक भयंकर अटवी-सा प्रतीत होता है।[९] कुशल नारी ही गृहस्थ के आध्यात्मिक अनुष्ठान में पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। उसके त्रिवर्गों को साधने वाली होती है। गृहिणी ही वास्तव में घर है, ईंट-पत्थर के बने मकान आदि नहीं[१०] इत्यादि।

इतना ही नहीं नारी की प्रशंसा में आचार्य जिनसेन ने यहां तक कहा है कि—'नारी गुणवती धत्ते स्त्री सृष्टिरग्रिमं पदम्' गुणवती स्त्रियां अपने गुणों के द्वारा संसार में श्रेष्ठ पद को प्राप्त होती हैं। जैन साहित्य में स्त्री को चक्रवर्ती के चौदहरत्नों में से एक माना गया है। धर्मपरायण पत्नी के न होने पर कोई भी राजा अभिषेक के योग्य नहीं समझा जाता।[११] इतना उच्च स्थान शायद ही नारी को कहीं मिला हो।

---

१. जीवन्धर चम्पू लम्ब ७, पृष्ठ ३८
२. उत्तराध्ययन सूत्र
३. आचार्य सोमदेव
४. यशस्तिलकचम्पू प्रथम अ. श्लोक ७७–८१
५. कविवर भूधर
६. जिनवाणी संग्रह-द्यानत
७. तन्दुल वैकालिक पृष्ठ ५०
८. यशस्तिलकचम्पू उत्त० पृष्ठ १५२
९. वही प्र. अ. श्लोक १२१
१०. सागारधर्मामृत दि. अ. श्लोक ५९–६०
११. जम्बूदीपपण्णत्ती

नारी माता के रूप में हमेशा पूजी गई है। जिस नारी ने तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुषों को जन्म दिया हो वह क्या कभी हेय हो सकती है ? भारतीय संस्कृति की जो यह सार्वभौम मान्यता है कि नारियों की जहाँ पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। किन्तु यह मान्यता कहीं मान्यता ही न रह जाय यह आशंका है। क्योंकि वर्तमान समय में नारी जिन रूपों में प्रस्तुत हो रही है या की जा रही है वह रूप पूजा के योग्य तो कभी नहीं हो सकता।

इस प्रकार जैन संस्कृति के आलोक में नारी के समस्त पहलुओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि नारी का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध के साथ यह दावा नहीं किया जा सकता कि नारी के समस्त पहलू और सम्पूर्ण रूप इसमें निहित हैं, किन्तु फिर भी यह कहने में संकोच नहीं होता कि नारी के विषय में कुछ भी सोचने और समझने के लिए इसकी उपयोगिता नहीं हटायी जा सकती।

संक्षेप में यदि कहें तो जैन संस्कृति में नारी के वे सभी रूप स्वीकृत हैं जिनके बिना मानव समाज का कोई भी चित्र पूरा नहीं हो सकता। कन्या के रूप में यदि नारी दुलारी गई है तो गृहस्वामिनी के रूप में उसे मान कम नहीं दिया गया। जैन नारी ने समस्त कलाओं में पारंगत हो अपनी विद्वत्ता और सामर्थ्य का जहाँ परिचय दिया है, वहाँ धर्म-परायण और कर्तव्यनिष्ठ होकर समाज और धर्म की सेवा भी कम नहीं की। आत्म साधना, त्याग एवं तपस्या की तो वह अधिष्ठात्री रही है, जिसने लिंग छेद कर निर्वाण को भी प्राप्त किया है। इस प्रकार यदि अन्य संस्कृतियों ने नारी को हेय और भोग्य की वस्तु समझ उसका अपमान कर घोर अपराध किया है तो नारी के उज्ज्वल और समुन्नत रूप को सराहना, उसे पुरुषों के समकक्ष मानना, यह जैन संस्कृति की नारी से क्षमायाचना है।

विष का विष ही तो अमृत है।

कोई बात बहुत दिनों से चली आ रही है, केवल इसीसे वह अच्छी नहीं हो जाती। सम्मान के साथ चले आने पर भी नहीं। बीच बीच में उसे जाँच करके देख लेना चाहिये कि उसकी उपयोगिता कहाँ तक अक्षुण्ण है।

—बाबूजी की डायरी से

—:०:—

कर्म हीन, उद्देश्य हीन जीवन का दिवारम्भ होता है भ्रान्ति में और शाम होती है अवसन्न ग्लानि में।

× × × ×

मनुष्य के मन का कोई भरोसा नहीं।

× × × ×

प्रायश्चित तो पाप के लिये होता है। जिसने पाप ही नहीं किया उसे प्रायश्चित की क्या आवश्यकता?

× × × ×

जंगल में रहने वाले पक्षी की अपेक्षा, पिंजड़े का पक्षी ही अधिक फड़फड़ाता है।

× × × ×

कुछ न कुछ दोष, कुछ न कुछ लज्जा की बात हर एक घर में है।

—बाबूजी की डायरी से

जैन समाज के आन्दोलन

स्वामी सत्यभक्त

जहाँ तक जनसंख्या का सवाल है, इस देश की विशाल जन संख्या को देखते हुए जैन जन संख्या बहुत छोटी है। आधा प्रतिशत भी नहीं। परन्तु साम्पत्तिक अवस्था, शिक्षा आदि में काफी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू समाज की तरह यह समाज भी विविध जातियों और सम्प्रदायों में बँटी हुई है। सौ से अधिक तो जातियां हैं। और प्रत्येक जाति के छोटे छोटे बहुत से आन्दोलन हैं जो कि प्रायः विवाह के रीति रिवाजों को लेकर हैं। बड़े बड़े आन्दोलन धार्मिक विभाग की दृष्टि से बने हुए कुछ विशाल जनसंख्या के क्षेत्र में हैं।

जैन समाज के धार्मिक दृष्टि से दो भेद हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर। ये दो भेद करीब दो हजार वर्ष पुराने है। इसका मतलब यह कि जैन समाज में दो हजार वर्ष पहले ही आन्दोलन शुरू हो गये थे। इसके बाद भी समय समय पर आन्दोलन होते रहे और समाज की शाखा प्रशाखाएं फूटती रहीं। दिगम्बर समाज में कुछ बातों को लेकर तेरापंथ बीसपंथ बने। मूर्ति को फूल चढ़ाना या न चढ़ाना, भट्टारक (जैन महन्त) को मानना या न मानना यही इस आन्दोलन का मुख्य विषय था। लकड़ी की मूर्ति बनाने तथा वह मूर्ति सूख कर फट न जाय इसलिये घी, दूध दही आदि चिकनी चीजों से अभिषेक करने आदि को लेकर काष्ठा संघ बन गया। इस प्रकार दिगम्बर समाज कई भागों में बंटा। श्वेताम्बर समाज में भी अनेक आन्दोलनों से संघ भेद हुए। अरहन्त देव, शास्त्र और साधु के साथ शासन देवों की स्तुति नहीं करना इस बात को लेकर त्रिस्तुतिक सम्प्रदाय चमका। परन्तु ये सब आन्दोलन और इनसे पैदा होने वाले भेद अब चमक नहीं रहे हैं। गौण अवस्था में पहुँच गये हैं।

हाँ। सोलहवीं शताब्दी में मुसलमानों के मूर्तिपूजा विरोध से प्रभावित होकर जो आन्दोलन हुए वे काफी प्रभावक और स्थायी बने। इससे श्वेताम्बर जैन समाज दो विशाल संघों में बँट गया। मूर्ति पूजक और स्थानकवासी। मूर्ति पूजक लोग मूर्ति पूजा करते हैं और वीतराग की मूर्ति को भी अलंकारों से विभूषित करते हैं। स्पष्ट ही उन पर वैष्णव सम्प्रदाय का पूरा प्रभाव है।

स्थानकवासी समाज ने मुसलिम प्रभाव में आकर मूर्तिपूजा ही छोड़ दी। अब वे अपने साधुओं की वन्दना करके और उनके दर्शनार्थ यात्रा करके अपनी मूर्तिपूजा की प्यास बुझा लेते हैं। स्थानकवासी समाज भी काफी संख्या में है और उसकी जन संख्या ४-५ लाख तक पहुँच गई है।

दिगम्बरों में भी सोलहवीं शताब्दी में एक मूर्ति पूजा विरोधी सम्प्रदाय तारण पंथ के नाम से खड़ा हुवा। इसने मूर्ति हटादी परन्तु वेदी पर शास्त्र विराजमान कर दिये और उसी से दर्शन पूजा की प्यास बुझाई। पर यह संप्रदाय फैल न सका। दो हजार आदमी इस संप्रदाय में होंगे। नाना तरह के आन्दोलन और उनसे पैदा होने वाले पंथ भेदों से जैन समाज का इतिहास भरा पड़ा है। परन्तु अब ये सब इतिहास की बातें हो गई हैं।

परन्तु इस युग में पिछले साठ-सत्तर वर्षों में भी काफी आन्दोलन हुए हैं। उनसे संघ भेद तो नहीं

हुआ परन्तु उनका प्रभाव अवश्य पड़ा और उनमें से कुछ आन्दोलन काफी मात्रा में सफल हुए।

पर स्थानकवासी समाज के भी दो टुकड़े हुए। इनमें से एक तेरापंथ संप्रदाय अलग निकला जिसने निवृत्तिवाद की परिसीमा पर पहुँचने की कोशिश की। सब जीव अपने अपने कर्मफल का भोग कर रहे हैं इसलिये उसमें हस्तक्षेप क्यों करना चाहिये। इसलिये यदि कोई आग में फंस कर मर रहा है तो उसे क्यों बचाना चाहिये, आदि विधान बने। हालां कि ऐसी बातों के समर्थन से अब बचा जाता है और आम जनता के सामने ऐसी बातें नहीं कही जातीं फिर भी पृथकता का आधारभूत सिद्धांत वही है। जैन समाज में यह संप्रदाय भी काफी प्रभावक है। जन संख्या में भी एक लाख की संख्या तक फैला हुआ है। दिगम्बर समाज में जो तेरापंथ है उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा उनकी नीति में भी कोई मेल नहीं है।

स्थानकवासी संप्रदाय में अनेक आचार्यों को मिटा कर एक आचार्य बनाने का आन्दोलन चला और वह बाहरी दृष्टि में सफल भी हुआ। भीतर ही भीतर द्वन्द्व है फिर भी एक आचार्य बन गया है। मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में बालदीक्षा को रोकने के लिये आन्दोलन खड़ा हुआ और इस निमित्त से सुधारकों का एक संगठन 'जैन युवक संघ' के नाम से बना। जहां तक विचारों का सवाल है बम्बई में वह संघ काफी प्रभावक है। बाल दीक्षाएं रुक तो नहीं सकी हैं फिर भी कम हो गई हैं और उनके विरोध में आवाज भी उठती है। बड़ौदा जब अलग राज्य था तब बालदीक्षा के विरोध में कानून भी बनवा दिया गया था।

मूर्ति पूजक समाज और स्थानकवासी समाज से भी मेरा सम्बन्ध काफी रहा है। और एक कार्यकर्त्ता के रूप में रहा है। इसलिये इन आन्दोलनों में थोड़ा बहुत हिस्सा मेरा भी रहा है। परन्तु प्रभावक हिस्सा रहा है दि० जैन समाज के आन्दोलनों में क्योंकि मेरा जन्म दि० जैन समाज में हुआ और काफी समय तक मैं दिगम्बर जैन समाज का पंडित और कार्यकर्त्ता रहा हूँ। मुझ से पहले दि० जैन समाज के चार आन्दोलनों का तो मुझे ठीक तरह से पता है। दस्सों को पूजा का अधिकार देने के बारे में एक आन्दोलन खड़ा हुआ था जिसका नेतृत्व स्व० पं० गोपालदास जी बरैया ने किया था। अब काफी अंशों में यह सफल है।

एक आन्दोलन शास्त्र छपाने के बारे में भी था। शास्त्र छपाने के पक्ष में अनेक लोग थे। विरोध में स्वर्गीय सेठ जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वाले थे। यह आन्दोलन भी सफल हुआ।

शास्त्र सुधार आदि के कुछ आन्दोलन स्वर्गीय श्री सूरजभानजी वकील ने किये थे जो दब गये।

विधवा विवाह के प्रचार के लिये स्वर्गीय श्रीदयाचन्दजी गोयलीय ने किया था जो उन्हीं के साथ समाप्त हो गया था। इन आन्दोलनों के समय मैं बालक या विद्यार्थी ही था। इसलिये इनमें मेरा कोई हाथ नहीं था।

फरवरी सन १९१९ में मैं बनारस के स्याद्वाद महा विद्यालय में अध्यापक के रूप में नियुक्त हुवा और उसी वर्ष एक जैन पत्र का संपादक भी बना। सन् १९२० में मेरे विचारों में जैन शास्त्रों के चिन्तन मनन के फलस्वरूप क्रान्ति हुई और उसके बाद ही आन्दोलनों का प्रारंभ हुवा।

पहिले तो मेरे आन्दोलन विवाह शादी के रीति रिवाजों को लेकर हुए और वे परवार जाति में थे जो कि पूरी तरह सफल हो गये।

परन्तु सबसे तीव्र आन्दोलन दि. जैन समाज में जाति पांति तोड़ने का था जो आज से करीब ४२ वर्ष पहले शुरू हुआ था जिसका पूरा और मुख्य नेतृत्व मुझे करना पड़ा था। 'विजातीय विवाह मीमांसा' नाम से मेरा एक ट्रैक्ट दिल्ली में जोहरीमलजी सर्राफ ने छपवाया था और वह पूरा

का पूरा जैनमित्र में भी छपा। उससे यह आन्दोलन भड़क उठा। रूढ़िपूजक समाज का रुख साधारणतः मेरे विरुद्ध हो यह स्वाभाविक था इस लिये कुछ पंडित समाज के वकील बनकर मेरे विरुद्ध खड़े हो गये। मुझे इसके लिये सौ से अधिक लेख लिखने पड़े। पंचायतों और पंडितों से पत्र व्यवहार करना पड़ा। गांव-गांव घूमना पड़ा और अन्त में इन्दौर की नौकरी भी छोड़नी पड़ी। श्रम तो बहुत हुआ ही पैसा भी खर्च हुवा। कुछ समय जीविका की चिंता से भी परेशान हुवा परन्तु जहाँ तक विचार परिवर्तन का सवाल है यह आन्दोलन पूरी तरह सफल रहा। बहुत से विरोधी पंडितों के विचार भी बदल गये और व्यवहार में भी काफी सफल हुवा। दक्षिणी मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में दर्जनों की संख्या में जांति पांति तोड़कर विवाह हुए और कुछ अल्पसंख्यक जातियाँ तो एक तरह से आपस में मिल ही गईं।

इसके बाद का आन्दोलन दि. जैन मुनियों के विरुद्ध था। स्थितिपालक जैन पंडितों ने तर्क से हार कर अपने बचाव के लिये दि. जैन मुनियों को आगे किया था। इस प्रकार एक तो मुनि लोग दलबंदी के शिकार थे। दूसरे उनकी कुछ हरकतों से समाज की बड़ी हानि हो रही थी। शूद्र जल त्याग कराने से जैन समाज को काफी क्षति उठानी पड़ी थी। जांत पांत के आधार से मनुष्य को छोटा समझने का सिद्धान्त न्याय के विरुद्ध तो था ही जैनधर्म के विरुद्ध भी था तथा इसके कारण कई जगह जैनों का सामाजिक विरोध बहिष्कार भी हुआ था इसलिये आत्मघातक भी था। इसलिये दि. जैन मुनियों की आलोचना का एक जबर्दस्त आन्दोलन बन गया था। अजमेर से निकलने वाले जैन जगत द्वारा यह आन्दोलन किया जाता था। श्री फतहचंदजी सेठी इसके प्रकाशक थे और मैं सम्पादक था। उस समय दि. जैन साधुओं के गुप्त-से गुप्त समाचार जैन जगत में प्रगट होते थे। जैन समाज में इस समय जैन जगतका बड़ा आतंक था। उस समय एक कवि ने लिखा था:—

इस जैन जगत की जरा हिम्मत तो देखिये
छोटे से मुंह से बम के गोले छोड़ रहा है।

उन दिनों दि. जैन मुनियों के विरोध में जो जैन जगत ने लिखा उसके कारण मुनिवेषियों की अंध श्रद्धा काफी कम हो गई और समाज काफी जग गया। मुनीन्द्रसागर दल के रहस्यों का तो इतना उद्घाटन हुआ कि दमोह की जैन पंचायत ने उस दल की नंगा झोली लेकर उसका बहुत सा धन छीन लिया। तब वह दल जबलपुर चला गया। जबलपुर की पंचायत ने भी उस दल के भ्रष्टाचार का डट कर मुकाबला किया। तब यह दल भंग हो गया। तीन मुनिवेषियों ने तो आत्म हत्या करली। बाकी मुनिवेष छोड़ कर भाग गये।

उस समय स्थितिपालक पंडित जैन जगत को मुनि निन्दक कहते थे। कई मुनि तो श्रावकों को प्रतिज्ञा देते थे कि जैन जगत को कभी न छुयेंगे। यदि छू गया तो तीन बार मिट्टी से हाथ धोयेंगे। फिर भी वे मुनि लोग ही एकान्त में उसे स्वयं पढ़ते थे। उस समय के जैन जगत द्वारा जो आन्दोलन छेड़ा गया वह इतने अंश में तो सफल हुआ कि मुनिवेष लेने के कारण ही जो भक्ति मिला करती थी और वे लोग जो आलोचना से परे हो जाते थे वह न रही। यहाँ तक कि स्थिति पालक दल भी किसी न किसी मुनि का आलोचक बन गया।

इसके बाद का जबर्दस्त आन्दोलन विधवा विवाह का था। सन् १९२० में चिन्तन करते करते भी विचारों में जो परिवर्तन हुवा उसने मुझे विधवा विवाह का समर्थक बना दिया पर इसका आन्दोलन मैं छेड़ न सका। एक बार ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी से मेरी चर्चा हुई। मैंने विधवा विवाह के पक्ष में अपनी दलीलें उन्हें सुनाई। बोले-विधवा विवाह के समर्थन में मेरे भी विचार हैं परन्तु मैं उन्हें प्रकट नहीं कर सकता। परन्तु मरने के पहले मैं लिख जरूर जाऊँगा कि मैं विधवा विवाह का समर्थक था और शायद ऐसा ही होता।

परन्तु जैन समाज के कुछ नेता ब्रह्मचारी जी के पीछे पड़े हुए थे। वे ब्रह्मचारी जी पर जोर डालते थे कि या तो आप विधवा विवाह के विचार छोड़ दें अथवा खुल्लम खुल्ला विधवा विवाह के समर्थक बन जांय। इस बात को लेकर ब्रह्मचारी जी को इतना दबाया गया कि इच्छा न रहने पर भी उन्हें विधवा विवाह का खुल्लम खुल्ला समर्थन करना पड़ा। ब्रह्मचारी जी के विरोधियों को उन्हें जैन समाज में निन्दित करने का अवसर मिल गया। ब्रह्मचारी जी ने सनातन जैन समाज नाम से एक अलग समाज खड़ा कर लिया। पर ब्रह्मचारी जी भीतर से कट्टर दि० जैन थे। उन्हें इसका पूरा मोह था। सिर्फ विधवा विवाह के समर्थक थे और उस विषय में उनके विचार पुराने आन्दोलकों--स्व. सूरजभान जी वकील, दयाचन्दजी गोयलीय आदि के समान थे अर्थात् विधवा विवाह के विषय में वे कहा करते थे कि भले ही वह जैनधर्म के विरुद्ध हो पर समय की मांग है। उसके बिना जैनों की संख्या घट रही है आदि। ऐसे ही तर्कों से विधवा विवाह का समर्थन करते थे। उन्हें मालूम था कि मैं विधवा विवाह का समर्थक हूँ। इसलिये प्रति सप्ताह उनका एक पत्र मुझे मिलने लगा कि आप इस आन्दोलन का समर्थन कीजिये, मैं असहाय हूँ, इस आन्दोलन को आप ही जोरदार बना सकते हैं। पर मेरी भी कुछ परेशानियाँ थीं। जिन संस्थाओं से मेरा सम्बन्ध था विधवा विवाह के आन्दोलन से उनको क्षति पहुँचती या मुझे उनसे सम्बन्ध छोड़ना पड़ता। मैं इन दोनों बातों के लिये तैयार न था। उस समय मैं जैन जगत का सम्पादक था ही। इसलिये मैंने यह घोषित किया कि जैन जगत में विधवा विवाह को लेकर दोनों पक्षों के लेख निकलेंगे। समर्थन में भी और विरोध में भी। जैन जगत से स्थिति पालक पंडित तो भड़कते ही थे इसलिये उनके लेख तो आए ही नहीं। इसलिये विधवा विवाह के विरोध में कोई लेख जैन जगत में छपने नहीं आया और समर्थन मे भी लेख लिखने की हिम्मत किसी में न थी तथा यह सारा नाटक मुझे ही करना पड़ा। कल्पित नामों से मैंने विधवा विवाह के विरोध और समर्थन में लेख लिखने शुरू किये। कभी कल्याणी देवी आदि के नाम से विधवा विवाह का विरोध करता कभी सव्यसाची के नाम से विधवा विवाह का समर्थन करता। कई वर्षों तक मै सव्य साची के नाम से विधवा विवाह के समर्थन में लेख लिखता रहा। विरोधियों को उत्तर देता रहा। उन लेखों को ट्रैक्ट के रूप में दिल्ली के जौहरीलाल जी सर्राफ ने छपवाया। एक ट्रैक्ट तो करीब २५० पेजों का था।

विधवा विवाह के पुराने समर्थकों से मेरे समर्थन में एक अन्तर था। पहले के लोग विधवा विवाह को जैनधर्म के विरुद्ध मानकर समय की जरूरत के नाम से आपद्धर्म के रूप में चलाना चाहते थे जब कि मेरा कहना था कि विधवा विवाह जैनधर्म का अंग है। विधवा विवाह के रिवाज के बिना जैनधर्म का ब्रह्मचर्याणुव्रत अधूरा है। ब्रह्मचर्याणुव्रत का मतलब है कि मनुष्य की उद्दाम काम वासना एक पुरुष या एक नारी में सीमित हो जाय। यह कार्य विधवा विवाह से भी होता है। विधवा को भी कामवासना को सीमित करने की जरूरत है जो कि विवाह से ही संभव है इसलिये विधवा विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का पूरक है। इसी प्रकार कोई पुरुष यदि किसी विधवा के साथ विवाह करके अपनी काम वासना को सीमित कर लेता है तो उसका यह विवाह भी ब्रह्मचर्याणुव्रत का सहायक बन जाता है। इस प्रकार दोनों के लिये विधवा विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का अंग है और ब्रह्मचर्याणुव्रत तो जैन धर्म का मूलव्रत है, इसलिये विधवा विवाह भी मूलव्रत में सहायक बना। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिकोण से मैंने विधवा विवाह का जोरदार समर्थन किया हालांकि यह सब सव्यसाची के नाम से किया। ब्रह्मचारी जी को जब भी कोई चैलेञ्ज देता था ये कह देते थे कि सव्यसाची से

शास्त्रार्थ करे और वह सब लिखित होगा। क्योंकि मैं अपने नाम से सामने आना नहीं चाहता था। सव्यसाची के नाम से ही सबको उत्तर देता था। इस प्रकार ब्रह्मचारी जी की ढाल भी मैं ही था और तलवार भी।

सव्यसाची के लेखों का इतना असर जरूर हुआ कि विधवा विवाह को लोग जैनधर्म की बात समझने लगे और उसके बारे में जो घृणा का भाव था वह दूर हो गया। कुछ विधवा विवाह हुए भी। इस बात का मुझे दर्द होता था कि जैनधर्म की बहुत सी बातें आधुनिक विज्ञान से मेल नहीं खाती। इसके कारण आज का विद्यार्थी जैनधर्म के बारे में अरुचि और अश्रद्धा व्यक्त करता है। इसलिये मेरे मन में विचार आया कि जैनधर्म का इतना संशोधन कर दिया जाय कि वह आधुनिक विज्ञान से टक्कर ले सके। इसी समय बाबू छोटेलालजी ने अपने सब विचारों को प्रकट करने की प्रेरणा दी। इसलिये 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक देकर मैंने एक लेख माला 'जैन जगत' में प्रकट की। यह साढ़े तीन वर्ष तक लिखी गई और बाद में तीन खण्डों में करीब बारह सौ पृष्ठों में 'जैनधर्म मीमांसा' के नाम से प्रकट हुई। इसके विरोध में भी लेख लिखे गये और उनके उत्तर में भी एक लेख माला और लिखी गई।

खैर इस लेखमाला में मैं दो कार्य करता था। जैनधर्म की जो बात आधुनिक विज्ञान से मेल नहीं खाती थी उसे मैं निकाल देता था। और जो कमी मालूम होती थी उसे जोड़ देता था। इस प्रकार जैनधर्म को मैं परिपूर्ण और शुद्ध बनाता जाता था। यह सब चिकित्सा मैं जैनधर्म के मोह के कारण करता था पर जैन समाज मेरे इस आचरण को नहीं समझ पा रहा था इसलिये मेरा विरोधी था। यदि मेरा यह मोह बना रहता तो मैं किसी के भी विरोध की परवाह न करके जीवन के अन्त तक जैनधर्म के संशोधन का कार्य करता रहता। भले ही मुझे उसके लिये जैन समाज में एक नया सम्प्रदाय ही खड़ा क्यों न करना पड़ता। परन्तु एक दिन चिन्तन करते करते जो नया प्रकाश मिला उसने यह मोह छुड़ा दिया।

मैंने सोचा "मैं जैनधर्म को बिल्कुल शुद्ध करने के लिये उसकी सब कमजोरियाँ हटा रहा हूँ और जो त्रुटियां देखता हूँ वह सब भर रहा हूँ अगर इसी नीति से मैं संशोधन अन्य धर्मों का करूं तो धर्मों में अन्तर क्या रह जायगा तब मैं सिर्फ जैन धर्म का ही संशोधन क्यों कर रहा हूँ। इसलिये तो कि मेरे पिता जैन थे। इसलिये कि बाल्यावस्था से मुझे वही धर्म मिला। परन्तु जैनधर्म को अच्छा धर्म समझ कर जैनपिता के यहाँ पैदा होने के लिये क्या मैंने पिता चुना था। अकस्मात ही मुझे जैन पिता मिल गया। बुद्धि पूर्वक मैंने पिता चुना नहीं। ऐसी हालत में अन्य धर्म का भी पिता मिल सकता था और मैं उसही धर्म के गीत गाने लगता। वास्तव में यह आकस्मिकता सत्य की निर्णायक नहीं है। इसके लिये तो बिल्कुल निर्मोह बनकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहिये।" बस! इस विचार ने मुझे धार्मिक पक्षपात से या मोह से मुक्त बना दिया। मैं साधारणतः सभी धर्मों में समभावी निष्पक्ष आन्दोलक बन गया। और इनही विचारों का मूर्तिमन्त रूप बना 'सत्य समाज'। यह सन् १९३४ की बात है। इसके बाद जैन जगत का नाम बदलकर सत्यसन्देश कर दिया गया। जब मैंने वर्धा में सत्याश्रम बनाया तब 'सत्यसंदेश' का प्रकाशन भी वहीं से होने लगा। और जैन समाज का सम्बन्ध करीब करीब उसी ढंग से छूट गया जैसा किसी लड़की का सम्बन्ध विवाह के बाद पीहर से छूट जाता है।

बाबू छोटेलालजी निर्मोह तो नहीं हो पाये। मेरे विचारों से पूरी तरह मेल भी बैठा नहीं पाये फिर भी मेरे विचारों की कद्र करते रहे और सत्याश्रम को बीस हजार से अधिक की भेंट बिना मांगे ही मुझे दी ऐसे कद्रदां वास्तव में दुर्लभ हैं। ●

जो समाज दुखी का दुख नहीं समझता, आपत्ति विपत्ति में हिम्मत नहीं बंधाता, वह समाज मेरा नहीं, मुझ जैसे गरीबों का नहीं है।

× × × ×

मनुष्य मनुष्य में अनगिनत भेद होते हैं, परन्तु मनुष्यता एक चीज है जो कभी-कभी भेद की इन सारी दीवारों को लांघ जाती है।

× × × ×

अपने सम्मान की आप रक्षा न करने से अन्यत्र सम्मान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

× × × ×

आदमी जिस जमीन पर गिरता है, उठने के लिए उसे उसीका सहारा लेना होता है।

—बापूजी की डायरी से

मथुरा की प्राचीन कला में समन्वय भावना

कृष्णदत्त वाजपेयी

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में मथुरा-आगरा के जिले तथा उनके समीपवर्ती क्षेत्र ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रज का प्राचीन नाम "सूरसेन जनपद" था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। इसी मथुरा में भगवान् कृष्ण ने जन्म लेकर ब्रज में अनेक लीलाएं कीं। शैव तथा शाक्त मतों का विकास भी ब्रजभूमि में बहुत प्राचीन काल से आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे मथुरा नगरी भागवत या वैष्णव धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गई।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हुआ, जिसका नाम "वोद्व" स्तूप था। जिस भूमि पर यह स्तूप बनाया गया वह अब कंकाली टीला कहलाता है। इस टीले के एक बड़े भाग की खुदाई पिछली शताब्दीके अंतिम भाग में हुई थी, जिसके फलस्वरूप एक हजार से ऊपर विविध मूर्तियां मिली थीं। हिन्दू और बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ इनीगिनी मूर्तियों को छोड़ कर इस खुदाई में प्राप्त शेष सभी मूर्तियां जैन धर्म से सम्बन्धित थीं। उनके निर्माण का समय ई० पू० २०० से लेकर ११०० ई० तक ठहराया गया है। कंकाली टीला तथा ब्रज के अन्य स्थानों से प्राप्त बहुसंख्यक जैन मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेष इस बात के सूचक हैं कि यहां एक लंबे समय तक जैन धर्म का विकास होता रहा।

बौद्धों ने भी मथुरा में अपने कई केन्द्र बनाये, जिनमें तीन मुख्य थे। सबसे बड़ा केन्द्र उस स्थान के आस-पास था जहां आजकल कलक्टरी कचहरी है। दूसरा शहर के उत्तर में यमुना किनारे गोकर्णेश्वर और उसके उत्तर की भूमि पर था तथा तीसरा यमुना-तट पर, ध्रुवघाट के आसपास था। अनेक हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं की तरह भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण भी सबसे पहले मथुरा में ही माना जाता है। भारत के प्रमुख धर्म भागवत, शैव, जैन तथा बौद्ध-ब्रज की पावन भूमि पर शताब्दियों तक साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होते रहे। उनके बीच ऐक्य के अनेक सूत्रों का प्रादुर्भाव ललित कलाओं के माध्यम से हुआ, जिससे समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाओं में वृद्धि हुई।

देशी और विदेशी कला का सम्मिश्रण

भारत का एक प्रमुख धार्मिक तथा कला-केन्द्र होने के नाते मथुरा को बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। ईरान, यूनान और मध्य एशिया के साथ मथुरा का सांस्कृतिक सम्पर्क बहुत समय तक रहा। उत्तर-पश्चिम में गंधार प्रदेश की राजधानी तक्षशिला की तरह मथुरा नगर विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक मिलन का एक बड़ा केन्द्र हो गया। इसके फलस्वरूप विदेशी कला की अनेक विशेषताओं को यहां के कलाकारों ने ग्रहण किया और उन्हें देशी तत्वों के साथ समन्वित करने में कुशलता का परिचय दिया। तत्कालीन एशिया तथा यूरोप की संस्कृति के अनेक उपादानों को आत्मसात् कर उन्हें भारतीय तत्वों के साथ एकरस कर दिया गया। शकों तथा कुषाणों के शासनकाल में मथुरा में जिस मूर्तिकला का बहुमुखी विकास हुआ उसमें समन्वय की यह भावना स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

प्राचीन मथुरा में मंदिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में प्रायः लाल बलुए पत्थर का प्रयोग होता था। यह पत्थर मथुरा के समीप तांतपुर, फतेहपुर सीकरी, रूपवास आदि स्थानों में मिलता है और मूर्ति गढ़ने के लिए मुलायम होता है।

हिन्दू मूर्तिकला के विकास को जानने तथा विशेष रूप से पौराणिक देवी-देवताओं के मूर्ति-विज्ञान को समझने के लिए ब्रज की कला में बड़ी सामग्री उपलब्ध है। ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु की अनेक मूर्तियां ब्रज में मिलती हैं, जिनका समय ई० प्रथम शती से लेकर बारहवीं शती तक है। विष्णु की कई गुप्तकालीन प्रतिमाएं अत्यन्त कलापूर्ण हैं। कृष्ण-बलराम की भी कई प्राचीन मूर्तियां मिली हैं। बलराम की सबसे पुरानी मूर्ति ई० पूर्व दूसरी शती की है, जिसमें वे हल और मूसल धारण किये दिखाये गये हैं। अन्य हिन्दू देवता, जिनकी मूर्तियां मथुरा कला में मिली हैं, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव, हनुमान आदि हैं। देवियों में लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, महिषमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, सप्तमातृका, वसुधारा, गंगा-यमुना आदि के मूर्त रूप मिले हैं। शिव तथा पार्वती के समन्वित रूप अर्धनारीश्वर की भी कई प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।

जैन मूर्तियाँ

ब्रज में प्राप्त जैन अवशेषों को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है : तीर्थंकर प्रतिमाएं, देवियों की मूर्तियां और आयागपट्ट। चौबीस तीर्थंकरों में से अधिकांश की मूर्तियां ब्रज की कला में उपलब्ध हैं। नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट प्राय. वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनपर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिन्ह उत्कीर्ण किये जाते थे। मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट है, जिसे उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक एक गणिका की पुत्री वसु ने बनवाया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का अंकन है तथा वेदिकाओं सहित तोरण द्वार बना है। मथुरा के कई उत्कृष्ट आयागपट्ट लखनऊ संग्रहालय में हैं।

बुद्ध-मूर्तियों का श्रीगणेश

भारत में भगवान बुद्ध का पूजन कुषाण काल से कई शताब्दी पहले आरम्भ हो चुका था, पर वह उनके चिन्हों की पूजा तक ही सीमित था। बुद्ध की मानव-मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। शुंग काल के अंत तक हम यही स्थिति पाते हैं। सांची, भरहुत, बोधगया, सारनाथ आदि स्थानों से उस समय तक की जितनी बौद्ध कला-कृतियां प्राप्त हुई हैं उन पर बोधि-वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, भिक्षापात्र आदि का ही पूजन दिखाया गया है। मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध का पूजन कहीं नहीं हुआ। मथुरा से भी अनेक प्राचीन मूर्तियां मिली हैं, जिन पर इन चिन्हों का पूजन मिलता है। मथुरा में हिन्दुओं के बलराम आदि देवों तथा जैन तीर्थंकर की प्रतिमाओं का निर्माण प्रारंभ हो चुका था। बौद्ध धर्मानुयायियों में भी अपने देव को मानव रूप में देखने की उमंग उठनी स्वाभाविक ही थी। मथुरा के कुषाण-शासक मूर्ति-निर्माण के प्रेमी थे और उस समय यहां भक्ति-प्रधान महायान धर्म प्रबल हो उठा था। फलस्वरूप कुषाण-काल में मथुरा के शिल्पियों द्वारा भगवान् बुद्ध की मूर्ति का निर्माण हुआ। इधर गंधार प्रदेश में भी बौद्ध मूर्तियां बड़ी संख्या में बनायी जाने लगी। मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की प्रारंभिक प्रतिमायें प्रायः विशालकाय मिली हैं, जैसी कि यक्ष-मूर्तियां मिलती हैं। कला के विकास के साथ ही मूर्तियां अधिक सुन्दर बनने लगीं। मथुरा में गुप्तकाल में निर्मित बुद्ध की कुछ प्रतिमाओं में बाह्य सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक गांभीर्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा-कला में बुद्ध के पूर्व जन्मों की घटनायें भी अनेक शिलापट्टों पर चित्रित मिलती हैं, जिन्हें जातक कहते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्ध होने के पहले भगवान् कई योनियों में जन्मे थे। उन्हीं पूर्व जन्मों की कहानियां जातक-कथाएं हैं।

मथुरा में इस प्रकार के दृश्यों वाले कई पट्ट हैं। गौतम बुद्ध के वर्तमान जीवन की मुख्य घटनाएं—यथा, जन्म, ज्ञान-प्राप्ति, धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण—भी मथुरा कला में अंकित मिलती हैं।

कला में नारी चित्रण

मथुरा के वेदिका स्तंभों पर विविध मनोरंजक चित्रण मिलते हैं: मुक्ताग्रथित केश-पाश, कर्ण-कुंडल, एकावली, गुच्छकहार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि धारण किए हुए स्त्रियों को विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाया गया है। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कंदुक-क्रीड़ा में लग्न है, कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है, या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन ढक रही है। किसी के हाथ में वीणा या वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हंस गिरती हुई पानी की बूंदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है। किसी स्तम्भ पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर संगीतोत्सव का और किसी पर मधुपान का। इस प्रकार लोक-जीवन के कितने ही दृश्य इन स्तम्भों पर चित्रित हैं। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित विभिन्न जातक कहानियाँ और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य भी हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण किए गए हैं। इन वेदिका स्तम्भों को शृंगार और सौन्दर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौंदर्य राशि बिखेर दी है। भारतीय कला में इन वेदिका-स्तम्भों का विशेष स्थान माना जाता है।

यक्षादि मूर्तियाँ

मथुरा-कला में यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों की प्रतिमाएं मथुरा कला में सबसे अधिक मिलती हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण परखम नामक गांव से प्राप्त लगभग ई० पू० २०० में निर्मित विशालकाय यक्ष-मूर्ति है। एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बड़ौदा गांव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ चारों ओर से कोर कर बनाई गई हैं, जिससे उनका दर्शन सभी दिशाओं से हो सके। कुषाण काल में ऐसी ही मूर्तियों के समान विशालकाय बोधिसत्व प्रतिमाएँ निर्मित की गई।

यक्षों में कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान बड़े महत्त्व का है। इनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं। कुबेर यक्षों के अधिपति तथा धन के देवता माने गये हैं। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू—इन तीनों धर्मों में इनकी पूजा मिलती है। कुबेर जीवन के आनन्दमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में उनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिलती हैं।

यक्षों की तरह प्राचीन ब्रज में नागों की पूजा बहुत प्रचलित थी। नाग और नागिनियों की बहु-संख्यक मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं। इनकी पूजा समृद्धि और संतान करने वाली मानी जाती थी।

ब्रज में शक और कुषाण शासकों की अनेक महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र नहीं मिलीं। कुषाण राजा विमकडफ़िसेस, कनिष्क आदि शासकों तथा शक-रानी कंबोजिका की प्रतिमाएं अब तक प्राप्त हो चुकी हैं। शासक लंबा कोट तथा सलवार के ढंग का पायजामा पहने दिखाये गए हैं। कम्बोजिका को भारतीय साड़ी पहने दिखाया गया है। ईरानी तथा यूनानी पुरुष-प्रतिमाओं के कई सिर भी मथुरा-कला में प्राप्त हुए हैं।

लोकजीवन का चित्रण

मथुरा-कला में विविध धर्मों के देवों की अनेक प्रकार की मूर्तियों के मिलने के अतिरिक्त ऐसी

कृतियाँ बहुत मिली हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतया लोकजीवन से है। इनमें मिट्टी की मूर्तियों का स्थान बड़े महत्व का है। यद्यपि मिट्टी की कुछ मूर्तियाँ देवी-देवताओं विशेषतः हिन्दू देवताओं की भी मिली हैं, पर उनकी संख्या थोड़ी है। अधिकांश मिट्टी की मूर्तियाँ नागरिक तथा ग्रामीण लोक जीवन पर प्रकाश डालती हैं। मथुरा संग्रहालय से इनकी संख्या बहुत अधिक है। ये अधिकतर टीलों में से तथा यमुना नदी से प्राप्त हुई हैं। इनके मुख्य दो प्रकार हैं: एक तो वे जो मौर्यकाल में या उसके पूर्व मातृदेवियों आदि की मूर्तियों के रूप में हाथ से गढ़कर बनाई जाती थीं और दूसरी सांचों के द्वारा बनी हुई। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ शुंगकाल से लेकर लगभग पूर्व मध्यकाल तक की पायी जाती हैं। ईसवी पूर्व २०० से लेकर ६०० ई० तक की मृण्मूर्तियों की संख्या सबसे अधिक है। इनमें से कुछ तो लड़कों के खेलने के लिए बनती थीं, जैसे हाथी, घोड़े, गाड़ी आदि खिलौने। शेष मूर्तियाँ वे हैं जिनमें जीवन के विविध अंगों का वैसा ही प्रदर्शन है जैसा कि हम पाषाण पर पाते हैं।

मथुरा की प्रचुर कलाराशि में वस्तुतः भारतीय संस्कृति के अध्ययन की अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध है। यहां के कुशल कलाकार अनेक देशी एवं विदेशी तत्वों तथा भारतीय धर्म-दर्शन की विविध धाराओं का समन्वित रूप प्रस्तुत करने में सफल हुए।

—:o:—

आँखों देखी भी असंभव घटना किसी से मत कहो, उस पर सहज विश्वास नहीं किया जाता।

× × × ×

जो सचमुच ही क्षमा चाहता हो उसे तो क्षमा करना ही चाहिये।

× × × ×

दुख चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसे सहने में ही तो मनुष्यत्व है।

—बाबूजी की डायरी से

भट्टारकयुगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ

प्रो० डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री, आरा

कवि या लेखक अपने चतुर्दिक फैले हुए विश्व को केवल बाह्य नेत्रों से ही नहीं देखता, बल्कि अन्तश्चक्षु द्वारा उसके सौन्दर्य एवं वास्तविक रूप का अवलोकन करता है और जगत के अनुभव के साथ अपना व्यक्तित्व मिलाकर जड़चेतनात्मक विश्व का निरीक्षण करता है। वह जीवन के सर्वोत्तम क्षणों का साक्षात्कार कर अपने सौन्दर्य बोध को बाह्य जगत की अनेक रूपता और अन्तर्जगत की रहस्यमयी विविधता अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि साहित्य किसी भी जाति या सम्प्रदाय का दर्पण होता है और उसमें लोकोत्तर आल्हाद उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान रहती है।

जैन साहित्य में संस्कृत-काव्य का सूत्रपात आचार्य समन्त भद्र के स्तोत्र-साहित्य से होता है, पर विकास की चरम सीमा भट्टारक युग में पाई जाती है। विविध विषयक विपुल रचनाएं इस युग में लिखी गई हैं। रचना परिमाण की दृष्टि से यह युग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह सत्य है कि इस युग में कुछ ही भट्टारक प्रतिभाशाली हुए हैं। पर ग्रन्थ रचना और ग्रन्थ संरक्षण के क्षेत्र में प्रत्येक भट्टारक ने योगदान दिया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा का प्रौढ़ अध्ययन भले ही भट्टारकों ने न किया हो पर पुरानी परम्परा के अनुकरण पर उक्तभाषाओं में पर्याप्त साहित्य का प्रणयन किया है। दर्शन, सिद्धांत, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, अलंकार प्रभृति विषयों की अभिज्ञता भट्टारकों में वर्तमान थी। ये केवल मठाधीश के रूप में ही अपनी विद्याबुद्धि का चमत्कार जन-साधारण के समक्ष उपस्थित नहीं करते थे बल्कि राजा महाराजाओं और सेठ साहूकारों को प्रेरित कर स्वयं साहित्य-सृजन के अतिरिक्त अन्य विद्वानों और कवियों से भी ग्रन्थ रचना कराते थे। धर्मप्रचार करना, जन साधारण को धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाना, स्वयं ग्रन्थ लिखना, अन्य विद्वानों से लिखवाना एवं सरस्वती का संरक्षण करना भट्टारकों का जीवन लक्ष्य था। कई भट्टारकों के कार्यकाल में आर्य ग्रन्थों की सहस्रों पाण्डुलिपियां तैयार कराई गयी हैं। व्रत विधान, पूजा-पाठ एवं जीवनोपयोगी औषधि तन्त्रादि विषयक साहित्य का प्रणयन इस युग में निश्चयतः सर्वाधिक हुआ है।

भट्टारक सम्प्रदाय के उल्लेख नवीं शती से ही उपलब्ध होने लगते हैं पर इस युग का आरम्भ १३ वीं शती से होता है। अतः १३वीं शती से १८ वीं शती तक का समय भट्टारक युग के अन्तर्गत परिगणित है। इन छह सौ वर्षों के काल में साहित्य और संस्कृति के प्रचार का ध्वज भट्टारक वर्ग के ही हाथ में था। आरम्भ में यह वर्ग निश्चयतः निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी और जितेन्द्रिय था। हाँ, उत्तरकाल में भट्टारकों में ऐसे दोष अवश्य दृष्टिगत होते हैं जिन दोषों के कारण यह वर्ग अपने कर्तव्य से च्युत तो हुआ ही, साथ ही साहित्य के स्तर और धर्म के स्वरूप विवेचन में भी अनेक कमियां उत्पन्न हो गईं।

दूसरी ओर इस काल खण्ड में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुनि और यतियों का वर्ग भी साहित्य सृजन में प्रवृत्त था। इस वर्ग के लेखक और कवियों ने भी भट्टारक युगीन प्रवृत्तियों का अनुसरण किया। साथ ही कुछ ऐसी साहित्यिक विधाएं भी प्रादुर्भूत हुईं जिनका साहित्यिक मूल्य पूर्वयुगीन साहित्य

की अपेक्षा कुछ भिन्न था। यों तो भट्टारकों के समान ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कवि और लेखक भी नवीन भावों और सन्दर्भों के स्थान पर समस्या पूर्त्यात्मक या हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रतिभाशाली आचार्यों के पदचिन्हों का अनुसरण करते रहे। संक्षेप में उक्त छह सौ वर्षों के कालखण्ड को जैन संस्कृत साहित्य का पुनरावृत्तकाल भी कहा जा सकता है। हम इस कालखण्ड को भट्टारक युग के नाम से इस लिए अभिहित करेंगे कि इस युग में भट्टारकों ने ही प्रमुख रूप से बहुसंख्यक रचनाएं निबद्ध की हैं। इस युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियां निम्नांकित हैं :—

१, पौराणिक चरितकाव्य
२. लघु प्रबन्ध काव्य
३. सन्देश या दूतकाव्य
४. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक साहित्य
५. सन्धानकाव्य
६. सूक्ति साहित्य
७. स्तोत्र एवं पूजा-भक्ति साहित्य
८. नाटक
९. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक साहित्य
१०. समस्यापूर्त्यात्मिक साहित्य
११. न्याय, दर्शन, और आध्यात्मिक साहित्य
१२. संहिता विषयक विविध साहित्य
१३. टीका-टिप्पणी विषयक विविध साहित्य
१४. कथा और पुराण विषयक साहित्य
१५. कोष, छन्द एवं अलंकार विषयक साहित्य

१—पौराणिक चरित काव्य विषयक प्रवृत्ति:—

जैन साहित्य में चरित नामान्त काव्यों का प्रारम्भ जटासिंह नन्दि के वराङ्ग चरित से होता है। इस साहित्यिक प्रवृत्ति में एक साथ चरित, दर्शन, आचार, रोमान्च, प्रेम, कामतत्व और भक्तितत्व का समवाय पाया जाता है, भट्टारक युगीन चरित काव्यों में चरित्र–विकास की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रमुख है। इस कोटि के काव्यों में पौराणिक कथाओं को ग्रहण कर वर्णन विस्तार और चमत्कार के बिना ही कथा के विकासक्रम में चरितों को निबद्ध करने का प्रयास किया है। परिणाम यह निकला है कि इस युग के पौराणिक चरित काव्य सम्प्रदाय विशेष की सीमा में आबद्ध होकर धर्मकथ–काव्य बन गये हैं। काव्य चमत्कार एवं रसोद्बोधन के लिये जिस सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता कवि को रहती है और जिस सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यञ्जना से कवि पौराणिक इतिवृत्त को काव्य बनाता है उसका प्रायः अभाव ही इस युग के काव्य में रह गया। संक्षेप में इस प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:—

(१) कथावस्तु में गहनता की अपेक्षा व्यास का समावेश और काव्य के स्थान पर पौराणिक आयाम का विस्तार

(२) सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना के स्थान पर उपदेश स्थापना का प्रयास। काव्य के प्रणेताओं ने कवि-धर्म का निर्वाह न कर कथावाचक के धर्म का निर्वाह किया है। फलतः काव्य–तत्व के स्थान पर उपदेश तत्व ही प्रमुख है।

(३) घटनाओं, पात्रों या परिवेश की सन्दर्भ पुरस्सर व्याख्या के स्थान पर केवल वातावरण के सौरभ का ही नियोजन महाकाव्यों के वस्तु वर्णनों में इस प्रकार का व्यापक चमत्कार निहित रहता है, जिससे पाठक घटनाओं और पात्रों के साथ साधारणीकरण को प्राप्त हो जाता है। भाव किसी पात्रविशेष के न होकर जन–साधारण के बन जाते हैं, पर भट्टारक–युग के चरित–काव्यों में साधारणीकरण की प्रक्रिया यथोचित रूप में घटित नहीं हो सकी है। इसका प्रधान कारण यही है कि उस युग के कवियों ने काव्य का वातावरण न उपस्थित कर सीधे कथा का ही आरम्भ कर दिया है। फलतः काव्य रस के स्थान पर पाठक को पौराणिक कथा का रस ही उपलब्ध हो पाता है।

(४) कथावस्तु के प्रवाह एवं उसकी मार्मिकता के निर्वाह के हेतु कथानक गठन में सघनता के स्थान

पर शिथिलता ही समाविष्ट है। कथानक में जिस प्रकार की शृंखला औरक्रम बद्धता चरित-काव्य के लिये अपेक्षित है, उसका समावेश इस युग में न हो सका।

(५) आत्मोत्थान या चरितोत्थान के मूल सिद्धान्तों को काव्य शैली में रखने का प्रयास। वर्णनों और कार्य व्यापारों के वैविध्य के अभावों में उक्त सिद्धान्त काव्यरूप में उपस्थित न होकर धर्मशास्त्र के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रेम, विवाह, मिलन, राज्याभिषेक, सैनिक-प्रस्थान, नगरावरोध, युद्ध, दीक्षा, तपश्चरण आदि का भावुकतापूर्ण वर्णन न होकर केवल कथात्मक वर्णन हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता दिखलाने के लिये जन्म-जन्मान्तरों की कथाएं भी चलते रूप में ही आयोजित हैं।

(६) चरित्र काव्यों का उद्देश्य रत्नत्रय की साधना दिखलाना है। आरम्भ से ही इस विधा के लेखकों ने उक्त उद्देश्य को चरितार्थ किया है। भट्टारक युग के कवि भी चरित का उद्घाटन रत्नत्रय के परिपार्श्व में करते रहे हैं। अन्तर इतना ही रहा है कि चन्द्रप्रभचरित, प्रद्युम्नचरित आदि ग्रन्थ में लक्षण और व्यञ्जना के आधार पर ही रत्नत्रय की व्याख्या प्रस्तुत की थी; किन्तु भट्टारक युग की रचनाओं में अभिधा शक्ति की ही मुख्यता है। पुरातन कथानकों की पुनरावृत्ति होने और काव्यगुणों के क्षीण होने के कारण उद्देश्य की व्यञ्जना काव्यरूप में न हो सकी।

(७) सन्दर्भ और आख्यानों में बहुत कम नवीनता का समावेश होने से शैली में चमत्कार और आकर्षण की कमी है; इतने पर भी कथारस की सरसता ने चरितकाव्य में प्रवाह गुण की पूर्ण रक्षा की है। पाठक एक साथ उदात्तचरित, भक्ति और चारित्र प्राप्त कर लेता है।

(८) दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या और विश्लेषण भी सामान्यरूप में निहित हैं, अतः कथानक की रोचकता अक्षुण्ण है।

पौराणिक चरित काव्यों की प्रवृत्ति का आरम्भ भट्टारक युग में कवि वर्धमान के वरांगचरित से होता है। प्रारम्भिक और भट्टारक युगीन इस प्रवृत्ति का अन्तर इस काव्य में सुस्पष्ट रूप में मिलता है। चरित विश्लेषण की शैली का रूपान्तर यहीं से भट्टारक के वराङ्गचरित से होता है। इनका समय ई० सन् १३६३ है।[1] और ये दशभक्त्यादि महाशास्त्र के रचयिता वर्धमान मुनि से भिन्न हैं। इस महाकाव्य में १२३ सर्ग और ११४५ पद्य हैं।[2] कवि ने अनुष्टुप् श्लोकों में १३८३ श्लोक संख्या बतायी है। इस युग के चरित काव्यों में यह उत्तम रचना है। इस प्रवृत्ति के अनुसरणकर्त्ता कई भट्टारक हैं।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती में भट्टारक सकलकीर्ति ने शान्तिनाथ चरित, वर्द्धमानचरित, मल्लिनाथ चरित, धन्यकुमार चरित,[3] सुदर्शन चरित,[4] जम्बू स्वामी चरित और श्रीपाल चरित की रचना की है। वे सभी पौराणिक चरित काव्य हैं। इनमें न तो वस्तुव्यापार वर्णनों का विस्तार है और न मर्मस्पर्शी सन्दर्भों की योजना ही। कथा जीवन व्यापी है अवश्य, पर उसका प्रवाह उस पहाड़ी नदी की तेजधारा के समान है, जो शीघ्र ही स्थल को प्राप्तकर लेती है। इसी शताब्दी में ब्रह्मजिनदास ने रामचरित और हनुमच्चरित की रचना की है। सोलहवीं शती में ब्रह्म नेमिदत्त ने सुदर्शन चरित,

---

१—जैन शिला लेख संग्रह प्रथम भाग, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् १९२८ ई० पृ० २२३

२—वरांग चरित्र, सोलापुर, सन् १९२७ ई०

३—४ सुकुमाल चरित और सुदर्शनचरित—रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा क्रमशः वी० नि० स. २४५५ और वी० नि० स० २४५३ में प्रकाशित।

श्रीपाल चरित, धन्यकुमार चरित और प्रीतिंकर महामुनि चरित का प्रणयन किया है। इसी सदी में शुभचन्द्र द्वितीय द्वारा चन्द्रप्रभ चरित, पद्मनाभ चरित, जीवन्धर चरित, श्रेणिक चरित और करकण्डुचरित की रचना सम्पन्न हुई है। अन्य चरित काव्यों में भावदेव सूरि का पार्श्वनाथ चरित, (ई० सन् १३५५), जयसिंह का कुमारपाल भूपाल चरित (सन् १३६५ ई०), पद्मनन्दि का वर्द्धमान चरित (ई० सन् की चौदहवीं शती), मुनि भद्र का शान्तिनाथ चरित (ई० सन् की चौदहवीं शती), पूर्ण भद्र के धन्यशालिभद्र चरित और कृतपुण्य चरित (ई० सन् तेरहवीं शती), धर्मधर का नागकुमार चरित (सन् १४५४ ई०), दोड्डय्य कवि का भुजबलि चरित (सोलहवीं शती), जयतिलक के सुलसा चरित और हरि विक्रम चरित (सन् १३४९-१४१३ ई०), वादिचन्द्र का सुभग सुलोचना चरित (सन् १५५५ ई० के लगभग), जगन्नाथ का सुषेण चरित (सन् १६४३ ई०), पदमसुन्दर के पार्श्वनाथ चरित और जम्बू चरित (विक्रम १७वीं शती) एवं सोमकीर्त्ति के प्रद्युम्न चरित और यशोधर चरित प्रसिद्ध पौराणिक चरित काव्य हैं। पौराणिक चरित काव्य की प्रवृत्ति का विस्तार भट्टारक युग में खूब हुआ है। यशोधर के आख्यान को लेकर सुन्दर चरित काव्य लिखे गये हैं। अहिंसा धर्म और कर्मसंस्कारों की प्रबलता का विश्लेषण करने के लिए हनुमान, सुदर्शन, श्रीपाल और यशोधर की कथा वस्तु में काट-छाँट कर पौराणिक चरित काव्यों का प्रणयन इस युग की एक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति है।

२. लघुप्रबन्ध काव्य—

जिन काव्यों में जीवन व्यापी कथा के होने पर भी कथा विभाजन आठ या छः सर्गों से कम में हो, वे लघु प्रबन्ध काव्य कहलाते हैं। खण्ड या जीवन के किसी अंश विशेष की कथावस्तु के न होने से इन्हें खण्ड काव्य नहीं माना जा सकता है। लघु प्रबन्ध काव्यों में सर्व श्रेष्ठ उदाहरण वादिराज का यशोधर चरित है। हमारे अभीष्ट युग में चारित्र सुन्दर गणि का महीपाल चरित्र (१५ वीं शती), भट्टारक रत्नचन्द्र के सुभौम चक्रवर्ती चरित, [1] और भद्रबाहु चरित [2] (वि० सं० १६८३), माणिक्य देव के मनोहर चरित, मुनिचरित और यशोधर चरित (वि० सं० १३२७-१३७५) एवं मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कवि का गौतम चरित [3] (वि० सं० १७२६) अच्छे लघु प्रबन्ध काव्य हैं। इस प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषता यह है कि सानुबन्ध कथावस्तु के रहने पर भी कल्पनाशक्ति का विराट् रूप एवं विभिन्न मानसिक दशाएं प्रस्फुटित नहीं हो पाती हैं। लघु प्रबन्ध काव्य और पौराणिक चरित काव्यों में अन्तर इतना ही है कि पौराणिक चरित काव्यों में यत्र-तत्र अलंकार, प्रकृति चित्रण, कथा विस्तार एवं पौराणिक मान्यताओं का निर्देश उपलब्ध होता है, पर लघु प्रबन्ध काव्यों में केवल कथा का विस्तार ही उपलब्ध होता है अलंकार और वस्तुवर्णन अत्यन्त संक्षेप में अंकित रहते हैं। कवियों ने प्रायः अनुष्टुप् छन्द का ही व्यवहार किया है। कथा का विभाजन छः सर्ग या इससे कम ही सर्गों में पाया जाता है।

३. दूत या सन्देश काव्य—

विप्रलम्भ शृंगार या विरह की पृष्ठ भूमि को लेकर इस कोटि के काव्य लिखे गये हैं। जैन कवियों ने दूतकाव्यों में शृंगार रस के वातावरण को नयी काव्य परम्परा द्वारा नयी दिशा और नया मोड़ दिया है। त्याग और संयम को जीवन का पाथेय समझने वाले कवियों ने अपनी संस्कृति के उच्चतत्वों तथा पार्श्वनाथ और नेमिनाथ तीर्थंकर

१—हिन्दी अनुवाद सहित दि० जैन पुस्तकालय सूरत से १९५३ में प्रकाशित

२—हिन्दी अनुवाद सहित दि० जैन पुस्तकालय सूरत से वी० नि० सं० २४७९ में प्रकाशित

३—उपर्युक्त संस्था द्वारा वी० नि० सं० २४५३ में प्रकाशित

के जीवनवृत्तों को इन काव्यों में अंकित किया है। विक्रम का नेमिदूत [४] (ई० सन् १३ वीं शती का अन्तिम चरण), मेरुतुंग का जैनमेघदूत [५] (सन् १३४६-१४१४ ई०), चारित्र सुन्दर गणि का शीलदूत [६] (१५ वीं शती), वादिचन्द्र सूरि का पवन दूत [७] (१७ वीं शती), विनयविजय गणि का इन्दुदूत [८] (१८ वीं शती), मेघविजय का मेघदूत समस्या लेख [९] (१८ वीं शती) एवं अज्ञात नाम वाले कवि का चेतोदूत [१०] प्राप्य हैं। विमलकीर्त्ति गणि का चन्द्रदूत भी उक्त विधा सम्बन्धी रचना है। इन समस्त सन्देश काव्यों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ जीवन व्यापी सत्यों की अभिव्यञ्जना हुई है। शील, संयम, तप, त्याग, भावशुद्धि और साधना का समन्वय इन काव्यों में पाया जाता है। घोर श्रृंगार की धारा को वैराग्य की ओर मोड़ देना साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं है।

४. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक साहित्य—

ऐतिहासिक तथ्यों का आधार ग्रहण कर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृतकाव्यपरम्पराओं में कोई नवीन नहीं है। भट्टारक और कवियों ने अपने आश्रयदाता अथवा अनन्य भक्तों की कीर्त्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उनके तथ्य पूर्ण जीवनवृत्तों को रोचक भाषा में निबद्ध किया है, कवि सर्वानन्द ने अपने जगडू चरित में [११] बताया है कि वि० सं० १३१२-१३१५ में गुजरात में बीसलदेव, मालवा में मदनवर्मा और काशी में प्रतापसिंह का शासन था। इस समय गुजरात में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। राजा बीसलदेव के पास अन्न का अभाव था; अतः प्रजा भूख से तड़पने लगी। जगडूशाह ने अन्नदान देकर राजा और प्रजा की रक्षा की। नयचन्द्र के हम्मीरकाव्य में हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी के बीच सम्पन्न हुए युद्ध की ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। भट्टारकों द्वारा विरचित ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। प्रायः प्रत्येक काव्य या पुराण के अन्त में अंकित प्रशस्ति में आचार्यों और पट्टों का इतिहास पाया जाता है। भट्टारकों द्वारा निबद्ध पट्टावलियाँ और गुर्वावलियाँ भी ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अर्ध ऐतिहासिक तथ्यों से युक्त देवदत्त दीक्षित कृत स्वर्णाचल महात्म्य (वि० सं० १८४५) का अन्तिम अध्याय भी भट्टारक परम्परा का इतिहास अवगत करने के लिए उपयोगी है।

५. सन्धान काव्य

संस्कृत भाषा में एक ही वस्तु के अनेक पर्यायवाची शब्द और एक ही शब्द के अनेक अर्थ पाये जाते हैं। सन्धानात्मक काव्यों के साथ अनेकार्थकस्तोत्र भी इस युग में रचे गये। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा में जैनों के 'एगस्स सुत्तस्स अनन्तो अत्थो' वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह बात महोपाध्याय समयसुन्दर को बुरी लगी और उन्होंने उक्त सूत्रवाक्य की सार्थकता बतलाने के लिए 'राजानो ददते सौख्यम्'

४—जैन प्रेस, कोटा, वि० सं० २००५ में प्रकाशित

५—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९८० में प्रकाशित

६—यशोविजय ग्रंथमाला, वाराणसी

७—हिंदी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, सन् १९१४

८—जैन साहित्य वर्धक सभा, शिरपुर (पश्चिम खानदेश) वि० सं० १९४६

९—जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि० सं० १९७०

१०—उपर्युक्त संस्था द्वारा वि० सं० १९८० में प्रकाशित

११—आत्मानन्द जैन सभा, अम्बाला सिटी, १९२५ ई०

के १०२२४०७ अर्थ किये । वि० सं० १६४६ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को जब सम्राट ने काश्मीर का प्रथम प्रयाण किया तो उसने प्रथम शिविर राजा श्री रामदास की वाटिका में स्थापित किया। यहां सन्ध्या के समय विद्वत्सभा एकत्र हुई जिसमें सम्राट् अकबर, शाहजादा सलीम, अनेक सामन्त, कवि, वैयाकरण एवं तार्किक विद्वान् सम्मिलित थे। कविवर समयसुन्दर ने अपना यह ग्रन्थ पढ़कर सुनाया जिसे सुन कर सभी सभासद आश्चर्य चकित हुए। कवि ने उक्त अर्थों में से असम्भव या योजनाविरुद्ध पड़ने वाले अर्थों को निकालकर इस ग्रन्थ का नाम 'अष्टलक्षी' रखा। मेघविजयगणि का 'सप्तसन्धान, काव्य भी इस युग की अमूल्य रचना है। भट्टारकों ने सन्धानात्मक-काव्य प्रवृत्ति का अनुसरण नहीं किया है।

६—सूक्ति-साहित्य-प्रवृत्ति—उपदेश, नीति और प्रेम सम्बन्धी काव्यों को सूक्ति या सुभाषित काव्य कहा जाता है। लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षा का निरूपण काव्य की अनुरंजनकारिणी भाषा में सम्पन्न होने से यह काव्यविधा भी सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। शर्करामिश्रित औषधि के समान काव्य चमत्कार उत्पन्न करना सूक्ति काव्य का लक्ष्य होता है। यों तो सूक्ति काव्य के अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर प्रधान रूप से धार्मिक सूक्तिकाव्य, नैतिक सूक्तिकाव्य और काम या प्रेम परक सूक्तिकाव्य ये तीन उसके उपभेद हैं। इन काव्यों में लोकवृत्तानुकूल उपदेश एवं ऐहिक जीवन को सुखी बनाने वाले सिद्धान्त काव्य चमत्कारों के साथ निबद्ध रहते हैं। सूक्तियों में इस की समस्त विशेषताएँ और चमत्कृति के समस्त उपकरण समाहित पाये जाते हैं। शब्द-चमत्कार और अर्थचमत्कार का जो समवाय सूक्तियों में उपलब्ध रहता है वह प्रबन्ध में नहीं। हमारे इस अभीष्टयुग में अर्हद्दास का भव्यजनकण्ठाभरण (१३ वीं शती), सोमप्रभ का सूक्तिमुक्तावलि काव्य (१३ वीं शती), पद्मानन्द का वैराग्यशतक, विमल कवि का प्रश्नोत्तर माला काव्य और दिवाकर मुनि का शृंगारवैराग्यतरंगिणी काव्य (१५ वीं शती) रुचिकर रचनाएं हैं। भट्टारक सकलभूषण विरचित उपदेशरत्नमाला में तप, दान, पूजा, स्वाध्याय आदि का सुन्दर चित्रण किया गया है। उनका समय वि. सं. की १५ वीं शती है। जयसेन सूरि कृत धर्मरत्नाकर भी सूक्तिकाव्य है। कुलभद्र का सार-समुच्चय, धर्मनीति प्रधान सूक्तिकाव्य है। कवि ने नीति और ज्ञान की बातें मर्मस्पर्शी शैली में व्यक्त की हैं:—

नास्तिकामसमो व्याधिर्नास्ति मोह समो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वन्हिर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ॥२७॥
विषयोरगदष्टस्य कषाय विषमोहितः।
संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्रदेहिनाम् ॥३०॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३॥

७. स्तोत्र और पूजा-भक्ति साहित्य—

भट्टारक-युग में इस श्रेणी के साहित्य का सर्वाधिक सृजन हुआ है। इस प्रकार के साहित्य में परमात्मा, परमेष्ठी या अन्य देवी देवताओं का स्तवन, पूजन या भक्ति आख्यान वर्णित रहते हैं। जैन दर्शन में भक्ति का रूप दास्य, सख्य और माधुर्य भाव से भिन्न है; क्योंकि कोई भी साधक अपनी चिकनी चुपड़ी प्रशंसात्मक बातों द्वारा वीतरागी प्रभु को प्रसन्न कर उनकी प्रसन्नता से अपने किसी लौकिक या अलौकिक कार्य को सिद्ध करने का उद्देश्य नहीं रखता है और न परम वीतरागी देव के साथ यह घटित ही हो सकता है। यतः वीतरागी आत्माओं की उपासना या भक्ति का आलम्बन पाकर मानव का चंचल चित क्षणभर के लिये स्थिर हो जाता है और आराध्य के गुणों का स्मरण कर भक्त अपने भीतर भी उन्हीं गुणों को विकसित करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। इस युग में महाकवि आशाधर का जिनयज्ञकल्प (१३वीं शती), ब्रह्मजिनदास की जम्बूद्वीप पूजन, अनन्तव्रत

पूजन, मेघमालोद्यापन पूजन, (१५वीं शती); ब्रह्म-श्रुतसागर का श्रुतस्कन्ध पूजन (१६वीं शती) गुणचन्द्र का अनन्तजिनव्रत पूजन (१७वीं शती) शिवराज का षट्चतुर्विंशतिजिनार्चन (१७वीं शती) चन्द्रकीर्त्ति के पंचमेरु पूजन, अनन्तव्रत पूजन और नन्दीश्वर विधान (१७वीं शती) विद्याभूषण के ऋषि मण्डल पूजन, बृहत् कलिकुण्ड पूजन और सिद्धचक्र मन्त्रोद्धार स्तवन पूजन (१७वीं शती) बुधवीरु के धर्मचक्र पूजन और बृहत् चक्र पूजन (१६वीं शती) विश्वसेन का षण्णवति क्षेत्रपाल पूजन (१६वीं शती) सकल कीर्त्ति के पंचपरमेष्ठि पूजन, अष्टान्हिका पूजन, षोडशकारण पूजन, और गणधरवलय पूजन (१६वीं शती) एवं अक्षयराम का चतुर्दशीव्रतोद्यापन पूजन (१६वीं शती) उल्लेख्य हैं। स्तोत्रों में पद्मनन्दि के वीतराग स्तोत्र, शान्तिजिन स्तोत्र, रावण पार्श्वनाथ स्तोत्र और जीरावली पार्श्वनाथ स्तवन (१५वीं शती) ब्रह्म-श्रुतसागर के पार्श्वनाथ स्तवन और शान्तिनाथ स्तवन (१६वीं शती) जिनप्रभसूरि के सिद्धान्तागम स्तव, पार्श्व स्तव, गौतम स्तव, वीर स्तव, चतुर्विंशतिजिन स्तव, निर्वाणकल्याण स्तव, ऋषभजिन स्तवन, अजितजिन स्तवन, नेमि स्तवन, श्री मन्त्र स्तवन, श्री शारदा स्तवन और शान्तिजिन स्तवन (१४वीं शती) एवं सकलकीर्त्ति का परमात्मराज स्तोत्र (१५ वीं शती) प्रमुख हैं। व्रतोद्यापन एवं व्रत विधान सम्बन्धी रचनाएं भी इस युग में निर्मित हुई हैं।

८. नाटक—

जैन संस्कृत-साहित्य में रूपकों का विकास नवमीं शती से हुआ है। नाटकों के विकास की दृष्टि से सन् ९००–१३०० ई० तक स्वर्णकाल माना जा सकता है। भट्टारक-युग में लिखे गये नाटकों में वादिचन्द्र का ज्ञानसूर्योदय (विक्रम संवत् १६४८, माघ शुक्ला अष्टमी) और यशचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रसिद्ध हैं। यह सत्य है कि इन नाटकों में नवीन शैली या नवीन भावों का समावेश नहीं हो सका है।

९. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक साहित्य-प्रवृत्ति—

इस प्रवृत्ति के साहित्य-निर्माताओं में भट्टारक सकलकीर्त्ति, शुभचन्द्र, सकलभूषण, ज्ञानभूषण, धर्मकीर्त्ति, मेधावी, सोमकीर्त्ति, रायमल्ल नेमिदत्त, जिनदास और ज्ञानकीर्त्ति आदि प्रमुख हैं। इस प्रवृत्ति में श्रावकाचार या चारित्रोत्थानक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ आती हैं। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के अनुकरण पर अधिकांश रचनाएँ निर्मित हुई हैं। पण्डित आशाधर जैसे स्वतन्त्र-चिन्तक मनीषी भी इस प्रवृत्ति के अनुसरणकर्ता हैं। इनके सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृत इस युग की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। अन्य रचनाओं में सकलकीर्त्ति के धर्म-प्रश्नोत्तर श्रावकाचार और मूलाचार प्रदीप (१५वीं सदी) ब्रह्मनेमिदत्त का धर्मोपदेश पीयूषवर्षी श्रावकाचार (१६वीं सदी) पद्मनन्दी का श्रावकाचार सारोद्धार (१४वीं सदी) अभ्रदेव का व्रतोद्योतन श्रावकाचार (अनुमानतः १४-१५वीं शती) नरेन्द्रसेन का सिद्धान्तसार (अनुमानतः १३–१४वी शती) गोविन्द का पुरुषार्थानुशासन (१५वीं शती) शुभचन्द्र का अध्यात्म तरङ्गिणी ग्रन्थ (१६वीं शती) ज्ञानभूषण के सिद्धान्तसार, परमार्थोपदेश और आत्मसम्बोधन (१३वीं सदी) एवं सोमसेन का त्रिवर्णाचार उल्लेख्य हैं।

१०. समस्यापूर्त्यात्मक साहित्य—

भट्टारक-युग में श्वेताम्बर कवियों ने समस्यापूर्ति को लेकर कई सुन्दर काव्य ग्रन्थों का प्रणयन किया है। कवि मेघविजयगणि ने नैषध महाकाव्य के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों की समस्यापूर्ति कर शान्तिनाथ चरित की रचना की है। इस काव्य के प्रथम चरण में नैषध के प्रथम चरण को, द्वितीय चरण को, तृतीय को तृतीय चरण में और चतुर्थ में चतुर्थ चरण को नियोजित कर

सम्पूर्ण प्रथम सर्ग को समाविष्ट कर दिया है। इस काव्य में छह सर्ग हैं। इसी कवि ने माघ काव्य के 'प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण लेकर और तीन पाद स्वयं नये रचकर विजयदेवसूरि के चरित को निबद्ध कर देवानन्द काव्य का प्रणयन किया है। कवि ने माघ के चरणों का नया ही अर्थ निकाला है। माघ में जहां जहां श्लोक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण में यमक है वहां-वहां समस्यापूर्तिकार ने यमक रखकर बड़ी चतुराई से अर्थानुसन्धान किया है। भट्टारक कवियों ने भक्तामर स्तोत्र और कल्याण मन्दिर स्तोत्र की समस्या पूर्त्तियां की हैं।

११. न्याय दर्शन विषयक प्रवृत्ति—

भट्टारक युग में प्रमेयरत्नमाला और तत्त्वार्थ-सूत्र पर वृत्तियां लिखने के साथ-साथ न्याय और दर्शन विषयक एकाध स्वतन्त्र रचना भी लिखी गई है। भट्टारक धर्मभूषणयति का न्यायदीपिका ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी और सारगर्भित है। भट्टारक प्रभाचन्द्र का तत्वार्थरत्नप्रभाकर (१५ वीं शती) तत्त्वार्थबोध के लिये प्रवेशद्वार है। भट्टारक शुभचन्द्र का संशयवदनविदारण और काष्ठासंघीय शुभचन्द्र का षड्दर्शन प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश जैन न्याय की सुन्दर रचनाएं हैं।

१२. संहिता विषयक विविध साहित्य—

जैन साहित्य में दो प्रकार के जीवन मूल्य दृष्टि गोचर होते हैं। प्रथम वे जीवन मूल्य हैं जो भौतिक, शारीरिक सम्पत्ति तथा सुखभोग के त्याग से सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे ऐहिक सुखभोग के साधनों को प्राप्त करने के लिये तन्त्र-मन्त्र ज्योतिष एवं आराधना के उपयोग पर जोर देते हैं। अनेकान्तात्मक जैन दृष्टि उक्त दोनों प्रकार के जीवन-मूल्यों का समन्वय प्रस्तुत कर अन्तिम लक्ष्य त्याग या निवृत्ति को ही महत्व देती है। विजयप के भाई नेमिचन्द्र का प्रतिष्ठा तिलक (आनन्द संवत्सर (वि० सं० १३ वीं सदी) विजयप के पुत्र समन्तभद्र का केवलज्ञान प्रश्नचूड़ामणि (१३ वीं शती) अकलंक देव की अकलंक संहिता (अनुमानतः १५ वीं शती) माघनन्दि की माघनन्दि संहिता (अनुमानतः १३-१४ वीं शती) सिंहनन्दि का व्रत-तिथि निर्णय (१७ वीं शती) चन्द्रसेन मुनि का केवलज्ञान होरा (अनुमानतः १६ वीं शती) भद्र-बाहु संहिता (१५ वीं शती) मल्लिषेण के काम चाण्डाली कल्प, ज्वालामालिनी कल्प और भैरव पद्मावती कल्प (१३ वीं शती) धर्मदेव का शान्तिक विधि ग्रन्थ (१५ वीं शती) ऐय्यपार्य का जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय (वि० सं० १३७६ सिद्धार्थ संवत्सर) इस प्रवृत्ति की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। यन्त्र-मन्त्रों के कई संग्रह भी इस युग के भट्टारकों ने लिखे हैं। जैन सिद्धान्त भवन आरा ने यन्त्र-मन्त्र संग्रह मन्त्र अनुष्ठान एवं मन्त्र समुच्चय प्रभृति कई कई रचनाएं उपलब्ध हैं। इन रचनाओं के रचयिताओं के सम्बन्ध में इतिवृत्त उपलब्ध नहीं हैं।

१३. पुराण और कथा साहित्य—इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास भट्टारक-युग में हुआ है। श्रुत सागर सूरि की षोडशकारण कथा, मुक्तावलि कथा, मेरुपंक्तिकथा, लक्षण पंक्ति कथा, मेघमाला, सप्त-परमस्थान, रविव्रत, चन्दनषष्ठि, आकाशपंचमी, पुष्पांजलि, निःशल्य सप्तमी, श्रावण द्वादशी, रत्नत्रय आदि २३ व्रत-कथाएं इनके व्रतकथाकोष में निबद्ध हैं। श्रुतसागर उत्तमश्रेणी के कथाकार हैं। इनका समय वि० सं० १५००-१५७५ के मध्य है। कवि जिनदास का व्रत कथा कोष (१५-१६ वीं शती) ब्रह्मनेमिदत्त का आराधना कथाकोष (१६ वीं शती) और ललित कीर्त्ति की नन्दीश्वरव्रत कथा, अनन्त-व्रत कथा, सुगन्ध दशमी कथा, रत्नत्रय व्रत, आकाश पंचमी कथा, धनकलश कथा, निर्दोष सप्तमी कथा, लब्धि विधान कथा, पुरन्दर कथा, कर्मनिर्जरा कथा, मुकुट सप्तमी कथा, चतुर्दशी कथा, दश लक्षण व्रत कथा, पुष्पांजलिव्रत कथा, अक्षय निधि दशमी कथा निःशल्याष्टमी व्रत विधान कथा, सप्त परमस्थान-कथा तथा षटरस कथाएं उल्लेखनीय हैं। इनका

समय अनुमानतः विक्रम की १६ वीं शती है। गुणचन्द्र की मौनव्रत कथा (१७वी शती) सोमकीति की सप्तव्यसन कथा समुच्चय (१६वीं शती) भी इस युग की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। पुराणों में केशव सेन का कर्णामृत पुराण (माघ वि० सं० १६८८), सकलकीति का पार्श्वनाथ पुराण (१६वीं शती) ब्रह्म कामराज का जयपुराण (वि० सं०) १५६०, शुभचन्द्र का पाण्डव पुराण (वि० सं० १६०८) ब्रह्म कृष्णदास का मुनिसुव्रत पुराण (१७वीं सदी) शिवराम का अष्टमजिनपुराण संग्रह (१७वीं सदी) चन्द्रकीर्त्ति के पार्श्वपुराण और ऋषभपुराण, श्रीभूषण के पाण्डव पुराण शांतिनाथ पुराण वंश पुराण (१७वीं सदी) धर्मकीर्त्ति का पद्मपुराण एवं अरुणमणि का अजितनाथपुराण (१८वीं शती), सुन्दर पौराणिक कृतियां हैं।

१४. टीका टिप्पण विषयक साहित्य—भट्टारक युग में टीका टिप्पण विषयक साहित्य प्रवृत्ति का पर्याप्त पल्लवन हुआ है। सहस्रकीर्ति की त्रिलोकसार टीका (१५वीं शती) आशाधर की भूपालचतुर्विशति टीका और मूलराधना दर्पण (१३वीं शती) सोमदेव की त्रिभंगीसार टीका (१७वीं शती) नेमिचन्द्र की द्विसन्धान काव्य की पदकौमुदी टीका (१७वीं सदी) शुभचन्द्र की स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा संस्कृत टीका (वि० सं० १६१३) और पार्श्वनाथ काव्य पंजिका, योगदेव की सुखबोध वृत्ति (१७वीं सदी) ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति की कर्मकाण्ड टीका (१५वीं शती) ज्ञान भूषण की नेमि निर्वाण पंजिका (१६वीं शती) कमल कीर्ति की तत्वसार टीका (१६वीं सदी) श्रीदेव की यशोधर काव्य पंजिका (१५वीं सदी) काष्ठान्वयी प्रभाचन्द्र की तत्त्वार्थरत्न प्रभाकर टीका (१५वी सदी) पण्डित प्रभाचन्द्र की पंचास्तिकाय प्रदीप और द्रव्यसंग्रह- वृत्ति एवं तोड़ानगर के राजा मानसिंह के मंत्री वादिराज की वाग्भटालंकार अवचूरि कविचन्द्रिका (वि० सं० १४२६) प्रसिद्ध टीका रचनाएं हैं। श्रुतसागर सूरि ने इस युग में यशस्तिलक चन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति' जिनसहस्रनाम टीका, महाभिषेक टीका, षटपाहुड टीका, सिद्धभक्ति टीका, सिद्धचक्राष्ट टीका और तत्वत्रय प्रकाशिका ये आठ प्रसिद्ध टीकाएं लिखी हैं। धर्मशर्माभ्युदय और चन्द्रप्रभचरित पर टिप्पण भी इस युग में लिखे गये हैं।

१५. कोष, छन्द और अलङ्कार—

अलंकार, छन्द और कोष आदि विषयों पर इस युग में अल्प रचनाएं ही प्रस्तुत हुई हैं। श्रीधर का विश्वलोचन कोष (१६ वीं शती) कोष विषयक उत्तम रचना है। यह अपने विषय में अमर कोष और मेदिनी से भी उत्तम एवं बहुमूल्य कृति मानी जा सकती है। अलंकार ग्रन्थ में विजयकीर्त्ति के शिष्य विजयवर्णी की शृंगारार्णव चन्द्रिका (अनुमानतः १३–१४ वीं शती) अमृतनन्दि का अलंकार संग्रह (१३ वीं शती), अजितसेन का अलंकार चिन्तामणि ग्रन्थ (१४ वीं शती), अभिनव वाग्भट का काव्यनुशासन (१४ वीं शती) एवं भावदेव का काव्यालंकार सार (१५ वीं शती) श्रेष्ठ अलंकार रचनाएं हैं। छन्द विषय पर वाग्भट की एक रचना छन्दोऽनुशासन नाम की उपलब्ध है। यह रचना काव्यानुशासन के पूर्व में ही लिखी गई है। इस छन्द ग्रन्थ में संज्ञाध्याय, समवृत्ताख्य, अर्धसमवृत्ताख्य, मात्रासमक और मात्राछन्दक ये पांच अध्याय हैं। मंगलाचरण में लिखा है:—

> विभुं नाभेयमानम्य छन्दसामनुशासनम्।
> श्री मन्नेमिकारस्यात्मजोऽहं वच्मि वाग्भटः।

इस प्रकार भट्टारक-युग में विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास होता रहा। ग्रन्थ बाहुल्य की दृष्टि से तो इस युग का महत्व है ही, पर विविध विषयक रचनाओं की दृष्टि से भी इस युग का कम महत्व नहीं।

—:०:—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

अर्थ—महर्षि व्यास ने अपने अठारह पुराणों में केवल दो ही बात कही हैं। परोपकार से पुण्य होता है और दूसरों को कष्ट देने से पाप होता है।

पंचकल्याणक तिथियां और नक्षत्र

श्री मिलापचन्द्रजी कटारिया, केकड़ी

तीर्थंकरों की पंचकल्याणकतिथियां लंबे असरे से गड़बड़ में चली आ रही हैं। इन तिथियों की उपलब्धि के खास स्थान पूजापाठ के ग्रंथ हैं। किंतु संस्कृत में लिखी चौवीसतीर्थंकरों की—पूजायें तो प्रचलित हैं नहीं, हिंदी पद्यों में रची भाषापूजाओं का ही इस समय अधिक प्रचार है। इन भाषापूजाओं में उल्लिखित कई पंचकल्याणकतिथियें आपसमें एक दूसरे से मिलती नहीं हैं। यह तो निश्चित है कि भाषापूजाओं में दी हुई तिथियों के आधार कोई प्रचीन संस्कृतप्राकृत के ग्रंथ रहे हैं। इसलिये हम भी प्रकृतविषय में भाषापूजाओं को एक तरफ रखकर इस संबंध के अन्य प्राचीन संस्कृतप्राकृत के ग्रंथोंपर विचार करना उचित समझते हैं।

हमारी जानकारी में इन तिथियों के प्राचीन उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण इन ३ ग्रंथोमे मिलते हैं। किंतु तीनों ही ग्रंथोंकी कई तिथियें भी आपस में मिलती नहीं हैं। इनमें से त्रिलोकप्रज्ञप्ति और हरिवंशपुराण में सिर्फ चार ही कल्याणकों की तिथियां दी हैं, गर्भकल्याणक की तिथियों का कोई उल्लेख ही नहीं है। न जाने इसका क्या कारण है। पर हरिवंशपुराण में ऐसा भी है कि–उसके ६० वें पर्व में जहां कि तीर्थंकरों के अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवरण दिया है वहां तो गर्भकल्याणक की तिथियों का कतई कथन नहीं है। किंतु इसी ग्रंथमें जहां ऋषभदेव, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ और महावीर इन चार तीर्थंकरों का चरित्र लिखा है वहां इन की गर्भकी तिथियें भी लिखदी हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि ६० वें पर्वका यह कथन जिनसेन ने शायद किसी अन्य ग्रंथ से अर्थ रूप से ज्योंका त्यों उद्धृत किया है। इसलिये उसमें गर्भकल्याणक की तिथियें न होनेसे इसमें भी नहीं हैं। इस संभावना की पुष्टि इससे भी होती है कि इसही हरिवंशपुराण पर्व १६ में भगवान् मुनिसुव्रत का चरित्र लिखा है वहां उनके कल्याणकों की जो तिथियें दी हैं वे इसके ६० वें पर्व में दी हुई मुनिसुव्रत की कल्याणक तिथियों से नहीं मिलती हैं। यथा—

पर्व ६० में—

दीक्षातिथि–वैशाखबुद ६ (श्लोक-२२६)
ज्ञानतिथि–फागुणबुद ६ (श्लोक-२५७)
मोक्षतिथि–फागुणबुद १२ (श्लोक-२६७)
जन्मतिथि–आसोजसुद १२ (श्लोक-१७८)

पर्व १६ में—

काती सुद ७ (श्लोक-१२)
मगसरसुद ५ (श्लोक-६४)
माघसुद १३ (श्लोक-७६)
माघसुद १२ (श्लोक-१२)

इस प्रकार एक ही ग्रंथकार के एक ही ग्रंथमें मुनिसुव्रत के कल्याणकों की भिन्न भिन्न तिथियों का कथन होना विद्वानों के सोचने की चीज है।

हरिवंशपुराण के ६० वें पर्व में जिस प्रकार तीर्थंकरों के अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवरण दिया है। उसी प्रकार पद्मपुराण पर्व २० में भी दिया है। किंतु पद्मपुराण में वहां किसी भी तीर्थंकरकी कल्याणक तिथियों का कोई उल्लेख नहीं है। सिर्फ नक्षत्र दिये हैं।

अब हमको यह देखना है कि–कल्याणकों की जो तिथियें उक्त तीनों ग्रंथों में भिन्न भिन्न रूप से पाई जाती हैं। उनमें से कौन तिथि प्रमाण यानी

सही मानी जावे और कौन नहीं। इसके लिये और नहीं तो भी यह तो अवश्य विचारणीय है कि उस तिथि के साथ जो नक्षत्र लिखा है वह उस तिथि से मेल खाता है या नहीं। अगर मेल नहीं खाता है तो अवश्य ही या तो वह तिथि गलत है या वह नक्षत्र गलत है। इसमें कोई संदेह नहीं। क्योंकि ज्योतिषशास्त्र का यह नियम है कि हर मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन में उस मास का नाम वाला नक्षत्र जरूर आता है। जैसे चैत्र मासकी पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन में चित्रा नक्षत्र आवेगा। वैशाख की पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र आवेगा। ज्येष्ठा की पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र आवेगा। इत्यादि। वास्तव में मासों के नाम ही मासांत में आने वाले नक्षत्रों के कारण पड़े हैं। जिस पूर्णिमा को जो नक्षत्र है उसके आगे के नक्षत्र जिस क्रम से उनके नाम हैं। उसी क्रम से अगली प्रत्येक तिथि में प्रायः प्रत्येक नक्षत्र नंबर वार आता जावेगा। जैसे चैत्र सुद १५ को चित्रा नक्षत्र है तो वैशाख बुद १० को या उसके अगले पिछले दिन में चित्रा के बाद का १० वां नक्षत्र शतभिषा आवेगा। इस हिसाब से सदा ही तिथियों के साथ किन्हीं निश्चित नक्षत्रों का सम्बन्ध पाया जा सकेगा। हां कभी कभी एक या दो नक्षत्रों का आगा पीछा भी हो सकता है। इसके लिए कोई सा भी नया पुराणा किसी भी वर्ष का पंचांग उठाकर देख लीजिए। इस गणना के अनुसार हम जान सकते हैं कि अमुक मास की अमुक तिथि को अमुक अमुक नक्षत्र ही हो सकते हैं। दूसरे नहीं। जबकि हमारे यहां कल्याणकों की हरतिथि के साथ नक्षत्र भी दिया गया है तो इस कसोटीको लेकर हम क्यों न जांच करलें कि किस ग्रंथ की तिथियां उनके साथ में लिखे नक्षत्रों से मिलती हैं और किसकी नहीं? उक्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रंथ माना जाता है। अतः पहिले इसी को जांच करते हैं। इस ग्रंथ में चार कल्याणकों की तिथियां और उनके साथ नक्षत्र दिये गये हैं। गर्भकल्याणक के तिथि नक्षत्र नहीं लिखे हैं। इस ग्रंथ में लिखी तिथियों के साथ अब हम इसमें लिखे नक्षत्रों का मिलान करते हैं तो अनेक जगह तिथियों के साथ नक्षत्र नहीं मिलते हैं। नमूने के तौर पर नीचे की तालिका देखिये—

जन्म कल्याणक—

संभवनाथ-मगसर सुद १५ ज्येष्ठा। सुमतिनाथ-श्रावण सुद ११ मघा।

दीक्षा कल्याणक—

धर्मनाथ-भादवासुद १३ पुष्य। पुष्पदंत-पोस सुद ११ अनुराधा।

ज्ञान कल्याणक—

सुमतिनाथ-पोस सुद १५ हस्त। विमलनाथ-पोस सुद १० उत्तराषाढ।

मोक्ष कल्याणक—

विमलनाथ-असाढ सुद ८ पूर्वभाद्रपद। मल्लिनाथ-फागण बुद ५ भरणी।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में इनके अलावा और भी तिथि नक्षत्र अनमेल हैं। जिन्हें लेख विस्तार के भय से यहां हम लिखना नहीं चाहते। उक्त तिथियों के साथ उक्त नक्षत्रों की संगति किसी भी तरह नहीं बैठ सकती हैं। अतः त्रिलोक प्रज्ञप्ति की ये तिथियां और नक्षत्र परस्पर अवश्य ही गलत हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति की तिथियों के गलत होने में एक दूसरा हेतु भी है। वह यह है कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में श्री मल्लिनाथ स्वामी का दीक्षा लिये बाद छद्मस्थ काल ६ दिन का बताया है। अर्थात् दीक्षा लिये बाद ६ दिन में उनको केवल ज्ञान हुआ है। किन्तु इसी त्रिलोक प्रज्ञप्ति में मल्लिनाथ की दीक्षातिथि मगसरसुद ११ की और केवल ज्ञान तिथि फागण बुद बारस की लिखी है। दोनों में अन्तर ढाई मास का पड़ता है जबकि अन्तर पड़ना चाहिए ६ दिन का ही। इसी तरह उनमें लिखा अन्य भी कुछ तीर्थंकरों का यह छद्मस्थकाल उनकी तिथियों के साथ मेल नहीं

जाता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन ग्रंथ का इस प्रकार का पूर्वापर विरोध कथन अवश्य ही चिन्तनीय है।

इसी तरह हरिवंश पुराण में उल्लिखित तिथिनक्षत्र भी कहीं कहीं अनमेल रहते हैं। जिनका विवरण लेखवृद्धि के भय से यहां छोड़ा जाता है। हरिवंशपुराण में जन्म और मोक्ष इन दो कल्याणकों के ही नक्षत्र दिये हैं। शेष कल्याणकों के नक्षत्र शायद इसलिये नहीं दिये कि उनके नक्षत्र भी वे ही हैं जो जन्म के हैं। कल्याणकों के नक्षत्रों का अनायास ही कुछ ऐसा योग बनगया है कि प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के पांचों कल्याणक एक ही नक्षत्र में होगये हैं। जैसे ऋषभदेव के सभी कल्याणक उत्तराषाढ में हुये हैं। अजितनाथ के सभी रोहिणी में हुये हैं इत्यादि। कहीं कुछ मामूली फर्क भी है जिसका विवरण लेख के अन्त में दिये नकशे से ज्ञात कर सकते हैं।

जब हम आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण में लिखे तिथि नक्षत्रों में मेल की जांच करते हैं तो उन्हें हम एक दम सही पाते हैं। यहां तिथियों के साथ जो नक्षत्र दिये गये हैं वे ज्योतिष सिद्धांत की गणना के अनुसार बराबर बैठते चले जाते हैं। कहीं कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। ये मास पक्ष-तिथियां इतनी प्रामाणिक हैं कि पं० आशाधर जी ने इन्हीं को अपनाई है। आशाधरजी ने एक कल्याणमाला नामक पुस्तिका निर्माण की है जो सिर्फ ३५ श्लोक प्रमाण है। वह माणिक चन्द्र ग्रन्थमालाके "सिद्धांतसारादिसंग्रह" के साथ छपी है। उसका अन्तिम पद्य यह है—

> इतीमां वृषभादीनां पुण्यत्कल्याणमालिकाम्
> करोति कंठे भूषां यः सः स्यादाशाधरेडितः ॥३५॥

इससे निश्चय ही यह पं० आशाधर की कृति है। इसमें आशाधर ने पंचकल्याणकों की जो मास पक्ष-तिथियां दी हैं वे सब उत्तरपुराण के अनुसार ही हैं। और खूबी यह की है कि अर्णन मास-पक्ष तिथियों के अनुक्रम से किया है जिससे लिपिकारों के द्वारा भी कोई गल्ती होने की संभावना नहीं रहती है और न किसी शब्द के विभिन्न अर्थ करने की गुंजायश ही।

हां कहीं २ कल्याणमाला और मुद्रित उत्तर पुराण की तिथियों में भी कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उस पर भी यहां विचार कर लेना समुचित है। दोनों की तिथिभिन्नता निम्न प्रकार है—

	मुद्रित उत्तर-पुराण में—	कल्याणमाला में—
चंद्रप्रभ का मोक्ष	फागुण सुद ७ ज्येष्ठा	फागुण बुद ७
धर्मनाथ का गर्भ	वैशाख सुद १३ रेवती	वैशाख बुद १३
अरनाथ का गर्भ	फागुण बुद ३ रेवती	फागुण सुद ३
मल्लिनाथ का ज्ञान	मगसर सुद ११	पोस बुद २
पार्श्वनाथ का ज्ञान	चैत बुद १४ विशाखा	चैत बुद ४

इसमें से जो तिथियें कल्याण माला की हैं वे सही हैं। क्योंकि जो नक्षत्र ऊपर उत्तरपुराण में दिये हैं उनकी संगति कल्याणमाला की तिथियों के साथ बैठती है, मुद्रित उत्तर पुराण की उक्त तिथियों के साथ नहीं। अतः उत्तरपुराण की उक्त तिथियों के प्रतिपादक श्लोक लिपिकारों के प्रमाद से अशुद्ध लिखने में आगये हैं। ऐसा ज्ञात होता है। इसमें से शुक्लकृष्णपक्ष का अंतर तो हो जाना आसान ही है। और जो मल्लिनाथ के ज्ञानकल्याण की तिथि में अंतर है वहां भी पोस बुद २ की मिति ही सही है क्योंकि उत्तरपुराण में मल्लिनाथ का संयम अवस्था का दीक्षा दिन मगसर सुद ११ का लिखा

है। अत दीक्षा से ६ दिन बाद पोस वुद २ को इन्हें केवल ज्ञान हुआ यह सिद्ध होता है देखो उत्तरपुराण पर्व ६६ श्लोक ५१-५२। इनका हिन्दी अनुवादकों के संगति पूर्वक ठीक अर्थ नहीं देकर-जन्म की तरह ही अर्थात् मगसर सुदी ११ अर्थ कर दिया है किन्तु दोनों श्लोक युग्म हैं उनका अर्थ यह होना चाहिए कि जन्म की तरह के ही दिनादि (मगसर सुदी ११) में छाद्मस्थ्य काल के ६ दिन बीतने पर अर्थात् पोष वुदी २ को केवल ज्ञान हुआ।

रहा पार्श्वनाथ के ज्ञान कल्याणक की तिथि में अंतर सो यहां भी मुद्रित उत्तरपुराण के पर्व ७३ श्लोक १४४ में उल्लिखित चैत वुदी १४ की मिति वाला "चतुर्दश्यां" पाठ अशुद्ध है इस तिथि के साथ विशाखा नक्षत्र का मेल बैठता नहीं है इस वास्ते पाठ भी "चतुर्थ्यां च" चाहिए! चैतवुदी ४ को विशाखा नक्षत्र की संगति भी भली प्रकार बैठ जाती है। पार्श्वनाथ के सभी कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए हैं अतः इनके ज्ञान कल्याणक में भी जो विशाखा बताया है। वह ठीक है उसका मेल चौथ के साथ ही बैठता है १४ के साथ नहीं अतः चैतवुदी १४ ही ज्ञानकल्याणक की तिथि है।

इस प्रकार कल्याण माला की तिथियों और उत्तर पुराण की तिथियों में जो मामूली फर्क था वह भी रफा होकर दोनों ग्रंथों की सब ही तिथियां बराबर बराबर मिल जाती हैं। मुद्रित उत्तर पुराण में संभवनाथ की दीक्षा तिथि और मुनिसुव्रत की जन्म तिथि का उल्लेख नहीं है ऐसा हस्तलिखित प्रतियों में उक्त तिथि सूचक पाठ छूट जाने से हुआ है। वर्ना गुणभद्र स्वामी ने जब सब की ही कल्याणक तिथियें दी हैं तो वे इन दो तिथियों को न दें ऐसा कैसे हो सकता है। अथवा इसका कारण यह हो कि संभवनाथ का मृगशिर नक्षत्र तो निश्चित है ही और नियमत: यह नक्षत्र मगसर सुदी १५ को आता ही है अत यह तिथि बिना बताये स्वतः ही सिद्ध हो जाती है इस ख्याल से ग्रंथकारने यह तिथि नहीं लिखी है। अब रही मुनिसुव्रत की जन्मतिथि की बात सो ३, ५, १८, २४ इन चार तीर्थंकरों को छोड़कर बाकी के तीर्थंकरों की अपनी अपनी तप की जो तिथि है वही जन्म की तिथि है इस तरह मुनिसुव्रत की जो तप की तिथि वैशाख बुदी १० दी है वही जन्म तिथि हो जाती है इसलिए उसे अलग से नहीं दिया हो।

इस प्रकार अशुद्ध पाठों की वजह से जो उत्तरपुराण की कुछ तिथियों में गड़बड़ पड़ी हुई थी वे शुद्ध तो करली गई किन्तु फिर भी एक चीज का हल होना बाकी रह गया कि उत्तर पुराण की कुछ एक तिथियों की संगति उनके साथ में लिखे नक्षत्रों से नहीं बैठती है। नीचे हम उसी पर विवेचन करते हैं :—

(१) अरनाथ के सब कल्याणक रेवती नक्षत्र में हुए हैं किन्तु ज्ञानपीठ से प्रकाशित उत्तर पुराण पर्व ६५ श्लोक २१—"मार्गशीर्षे सिते पक्षे पुष्ययोगे चतुर्दशी. अर्थात् अरनाथ का जन्म मगसर सुदी १४ पुष्य नक्षत्र में लिखा है यहां तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बैठता नहीं है अतः यह पाठ अशुद्ध है शुद्ध पाठ 'पुष्ययोगे' के स्थान में 'पूषयोगे' होना चाहिए तब उसका अर्थ रेवती नक्षत्र होता है क्योंकि 'रेवती' का स्वामी देव 'पूषा' माना गया है। पुष्पदंत कृत अपभ्रंश महापुराण भाग २ पृ० ३२८ पर भी "पूस जोइ चउदह मइ बासरि" पाठ दिया है और टिप्पण में भी "पूस जोइ का अर्थ "रेवती" नक्षत्र ही किया है।

यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि उत्तर पुराण में सभी तीर्थंकरों के जन्म कल्याण के नक्षत्र बताते हुए नक्षत्र का नाम न लिखकर उसके स्वामी देव का नाम ही लिखा गया है।

(१) नमिनाथ के सब कल्याणक अश्विनी नक्षत्र में हुए हैं किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण में इनका जन्म पर्व ६९ श्लोक ३० में 'आषाढे स्वाति योगे' अर्थात् आषाढ वद १० स्वाति नक्षत्र में लिखा है

यहां भी तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बनता नहीं है अतः यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'आषाढेऽश्विनी योगे' होना चाहिए अर्थात् 'स्वाति, की जगह अश्विनी होना चाहिए। आषाढ बद १० के साथ अश्विनी की संगति बैठ जाती है। यहां यह शंका नहीं करनी चाहिए कि ग्रंथकार ने जन्म नक्षत्रों में तो नक्षत्र के स्वामी देव के नाम दिये हैं फिर यहां अश्विनी नक्षत्र नाम कैसे दिया इसका उत्तर यह है कि अश्विनी नक्षत्र के स्वामी देव का नाम भी अश्विनी ही है।

(३) विमलनाथ का मोक्ष पर्व ५९ श्लो० ५५ में 'आषाढस्योत्तराषाढे" अर्थात् आषाढ बुदी ८ उत्तराषाढ में लिखा है किन्तु शुद्ध पाठ "आषाढस्योत्तरा भाद्रे होना चाहिए क्योंकि आषाढ बुदी ८ को उत्तर भाद्रपद ही पड़ता है और यही नक्षत्र विमलनाथ के अन्य सब कल्याणकों में है।

(४) वासुपूज्य के सब कल्याणक शतभिषा नक्षत्र में हुए है किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण में इनकी दीक्षा तिथि फागुण बुदी १४ ज्ञानतिथि माघसुदी २ और मोक्ष तिथि भादवा सुदी १५ की लिखी है और तीनों का नक्षत्र विशाखा लिखा है लेकिन इन तीनों तिथियों के साथ विशाखा की संगति किसी तरह बैठती नहीं है, 'शतभिषा' के साथ बैठती है यहाँ भी पाठ की अशुद्धि ही जान पड़ती हैं। तीनों पाठों में विशाखा वाक्य अशुद्ध ही जान पड़ती है तीनों पाठों में विशाखा, वाक्य अशुद्ध है उसके स्थान में शुद्ध वाक्य 'भिषका' अथवा 'भिषाका' होना चाहिए। शतभिषा के आगे का प्रत्यय लगाने से शत 'भिषका' या शत 'भिषाका' रूप बनता है— जिसका संक्षिप्त नाम भिषका या भिषाका होता है जैसे सत्यभामा का भामा, यह संक्षिप्त नाम होता है। ग्रंथकार गुणभद्र ने भी यहां "शतभिषाका" इस वाक्य का संक्षिप्त नाम "भिषाका" का प्रयोग किया है। प्रतिलिपि करने वालों ने भिषाका प्रयोग को अशुद्ध समझकर उसे विशाखा बना डाला है। इस तरह की गल्तियां अन्य कई हस्त लिखित ग्रंथों में भी देखने को मिलती हैं। और शुद्ध पाठ को अशुद्ध बना दिया जाता है। इसका एक उदाहरण इस लेख में ऊपर भी बताया गया है कि "आषाढेऽश्विनी योगे" यह शुद्ध पाठ था जिसका "आषाढे स्वातियोगे" ऐसा अशुद्ध बना दिया गया है। यह हम इस लेख में ऊपर लिख चुके हैं कि प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के अपने अपने पांचों कल्याणक अधिकतर एक ही नक्षत्र में हुये हैं। इस अपेक्षा से भी वासुपूज्य के गर्भजन्म की तरह शेष तीन कल्याणक भी शतभिषा में ही होने चहिये।

एक ही नक्षत्र में प्रत्येक तीर्थंकर के प्रायः पांचकल्याणक होने के संबंध में इतना और समझ लेना चाहिये कि उत्तरपुराण में कहीं २ उस नक्षत्र के स्थान में उसके पास वाले नक्षत्र का नाम दिया है। जैसे श्रेयांसनाथ के चार कल्याणक श्रवण नक्षत्र में और मोक्ष उनका धनिष्ठा में लिखा है। पार्श्वनाथ के चार कल्याणक विशाखा में और जन्म उनका अनिलयोग में लिखा है। अनिल कहिये पवनदेव यह स्वाति नक्षत्र का स्वामी माना जाता है। अतः यहां अनिल का अर्थ स्वाति नक्षत्र होता है। चंद्रप्रभ के तीन कल्याणक अनुराधा में और जन्म उनका शक्रयोग में लिखा है। शक्र का अर्थ इंद्र यह ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी देव माना जाता है। अतः यहां शक्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है। मोक्ष भी इनका ज्येष्ठा में ही लिखा है। पुष्पदंत के चार कल्याणक मूलनक्षत्र में और जन्म इनका जैत्र योग में लिखा है। जैत्र का अर्थ इंद्र यह ज्येष्ठा का स्वामी माना जाता है। अतः यहां जैत्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है इत्यादि इस प्रकार कल्याणकों के एक समान नक्षत्रों के साथ उनके समीप का नक्षत्र का नाम कहीं किसी कल्याणकों में दिये जाने का तात्पर्य यही समझना चाहिये कि उस तिथि को वे दोनों ही नक्षत्र क्रम से भुगत रहे थे। आप पंचांग उठाकर देखिये तो आपको बहुत बार एक ही तिथि में क्रमवार दो नक्षत्रों के अंश भुगतते नजर आयेंगे।

बल्कि कभी २ तो एक ही तिथि में दो नक्षत्रों के अंश और पूरा एक नक्षत्र इस तरह तीन नक्षत्र भुगतते मिलेंगे। इसलिये समीप के नक्षत्र का नाम होने से उसे भी एक तरह से अन्य समान नक्षत्र के अन्तर्गत ही गिनना चाहिये और एक ही नक्षत्र में पांचों कल्याणक होने में इसे अपवाद कथन नहीं समझना चाहिये।

इस प्रकार उत्तरपुराण की सब तिथियों और उनके साथ लिखे हुये नक्षत्रों की संगति भी अच्छी तरह से बैठ जाती है। यहां मैं यह भी सूचित किये देता हूँ कि कवि पुष्पदंतकृत अपभ्रंश महापुराण में भी कल्याणकों के तिथि नक्षत्र उत्तरपुराण के अनुसार ही लिखे हैं। पं० आशाधरजी के सामने त्रिलोक प्रज्ञप्ति और हरिवंशपुराण के मौजूद होते हुये भी उन्होंने स्वरचित कल्याणमाला में इन दोनों ग्रन्थों की तिथियों की उपेक्षा करके एक उत्तरपुराण की कल्याणकतिथियों को स्थान दिया है। इससे उत्तरपुराण की तिथियों की प्रामाणिकता पर गहरा प्रकाश पड़ता है।

इस सारे ऊहापोह का फलितार्थ यही है कि—उत्तरपुराण की शुद्धतिथियां वेही हैं जो पं० आशाधरजी ने कल्याणमाला में लिखी हैं। और कवि पुष्पदंतकृत अपभ्रंश महापुराण में जो तिथि नक्षत्र लिखे हैं वे भी सब उत्तरपुराण के अनुसार लिखे हैं। यहां लिखी तिथियां भी कल्याणमाला से मिलती हैं। ये पुष्पदंत गुणभद्राचार्यसे करीब १७५ वर्ष बाद ही हुये हैं। इस तरह उत्तरपुराण, अपभ्रंश महापुराण और कल्याणमाला इन तीनों की तिथियें एक समान मिल जाने से तथा नक्षत्रों की संगति उनके साथ लिखी तिथियों के साथ बैठ जाने से तिथिविषयक गड़बड़ जो लंबे अरसे से हमारे यहां चली आ रही थी वह अब समाप्त हो गई है। अतः अब हमको हमारी पूजापाठ की पुस्तकों की तिथियों को इसी माफिक शुद्ध करके काम में लेनी चाहिये।

इसके अलावा मूल ग्रंथ में शुद्ध पाठ होने पर भी अनुवादकों ने कहीं कहीं गलत मास-तिथी नक्षत्र लिख दिये हैं अतः सहूलियत के लिए पंचकल्याणक तिथियों का शुद्ध नकशा भी हम साथ में दिये देते हैं। इस विषय में एक विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि—महापुराण कार दक्षिणी होते हुए भी उन्होंने पंचकल्याणक तिथियां दक्षिणी पद्धति से नहीं देकर सभी उत्तरी पद्धति से ही दी हैं क्योंकि सभी तीर्थंकारों के पाचों कल्याणक उत्तर प्रान्त में ही हुए हैं।

कोई भी दुखी मनुष्य घृणा के योग्य नहीं हो सकता चाहे वह कितना भी हीन क्यों न हो?

समय का जादूगर कभी कभी आश्चर्यजनक करिश्मे दिखाता है।

किसी निश्चित लक्ष्य को जीवन समर्पित कर देने वाले कर्मवीर को अपने जीवन में अनेकों बलिदान देने पड़ते हैं।

—बाबूजी की डायरी से

श्री पंच कल्याणक शुद्ध तिथि और नक्षत्र

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१ ऋषभनाथ	आषाढ़ कृ.२	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६	फाल्गुन कृ.११	माघ कृ. १४	उत्तराषाढ
२ अजितनाथ	ज्येष्ठ कृ.३०	माघ शु. १०	माघ शु. ६	पौष शु. ११	चैत्र शु. ४	रोहिणी
३ संभवनाथ	फाल्गुन शु.८	कार्तिक शु.१५	मा.शी.शु.१५	कार्तिक कृ.४	चैत्र शु. ६	मृगशिरा
४ अभिनन्दननाथ	वैशाख शु.६	माघ शु. १२	माघ. शु. १२	पौष शु. १४	वैशाख शु. ६	पुनर्वसु
५ सुमतिनाथ	श्रावण शु.२	चैत्र शु. ११	वैशाख शु. ६	चैत्र शु. ११	चैत्र शु. ११	मघा
६ पद्मप्रभ	माघ कृ. ६	कार्तिक कृ.१३	कार्तिक कृ.१३	चैत्र शु. १५	फाल्गुन कृ. ४	चित्रा
७ सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु.६	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२	फाल्गुन कृ.६	फाल्गुन कृ. ७	विशाखा
८ चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ. ५	पोष कृ. ११	पोष कृ. ११	फाल्गुन कृ.७	फाल्गुन कृ. ७	अनुराधा
६ पुष्पदंत	फाल्गुन कृ.६	मा.शी. शु.१	मा. शी. शु. १	कार्तिक शु. २	भाद्रपद शु. ८	मूल
१० शीतलनाथ	चैत्र कृ. ८	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	पोष कृ. १४	आश्विन शु ८	पूर्वाषाढ
११ श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ कृ. ६	फा. कृ. ११	फाल्गुनकृ. ११	माघ कृ. ३०	श्रावणशु. १५	श्रवण
१२ वासुपूज्य	आषाढ़ कृ.६	फा. कृ. १४	फाल्गुनकृ. १४	माघ शु. २	भाद्र. शु. १४	शतभिषा
१३ विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ.१०	माघ शु.४	माघ शु. ४	माघ शु. ६	आषाढ कृ. ८	उत्ताराभाद्रपद
१४ अनंतनाथ	कार्तिक कृ.१	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	रेवती
१५ धर्मनाथ	वै.कृ.१३रेवती	माघ शु. १३	माघ शु. १३	पोष शु. १५	ज्येष्ठ शु. ४	पुष्य
१६ शांतिनाथ	भाद्रपद कृ. ७	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	पोष शु. १०	ज्येष्ट कृ. १४	भरणी
१७ कुन्थुनाथ	श्रावण कृ.१०	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	चैत्र शु. ३	वैशाख शु. १	कृत्तिका
१८ अरनाथ	फाल्गुन शु.३	मा.शी. शु १४	मा.शी.शु. १०	कार्तिक शु.१२	चैत्र कृ० ३०	रेवती
१६ मल्लिनाथ	चैत्र शु. १	मा.शी. शु.११	मा.शी.शु. ११	पौ. कृ. पुष्य २	फाल्गुन शु. ५	आश्विनी
२० मुनिसुव्रत	श्रावण कृ.२	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. ६	फा. कृ. १२	श्रवण
२१ नमिनाथ	आश्विन कृ.२	आषाढ़कृ. १०	आषाढ़कृ. १०	म. शी. शु. १	वैशाख कृ. १४	आश्विवी
२२ नेमिनाथ	कार्तिक शु ६ उत्तराषाढ़	श्रावण शु.६	श्रावण शु. ६	आश्विन शु. १	आषाढ शु. ७	चित्रा
२३ पार्श्वनाथ	वैशाख कृ. २	पोष कृ. ११	पोष कृ. ११	चैत्र कृ. ४	श्रावण शु. ७	विशाखा
२४ महावीर	आषाढ़ शु. ६	चैत्र शु. १३	मा.शी.कृ .१०	वैशाख शु. १०	कार्तिक कृ.१४ स्वाति ३०	उत्तराफाल्गुनी

जगत में वास्तविक घटनाएं कल्पना को भी बहुत पीछे, बहुत दूर, छोड़ जाती हैं।

× × ×

किसी भी विषय में, सिर्फ उसके बाहरी रूप को देखकर कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

× × × ×

मनुष्य की शुभ इच्छा यदि हृदय से सत्य होकर बाहर निकलती है तो व्यर्थ नहीं जाती।

× × × ×

जैन ग्रन्थों में राष्ट्र कूटों का इतिहास

• रामवल्लभ सोमाणी

दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट राजाओं के गौरव पूर्ण शासन काल में जैन धर्म की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कई आचार्यों ने उस समय कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की सरंचना की जिनमें समसामयिक भारत के इतिहास के लिये उल्लेखनीय सामग्री मिलती है।

राष्ट्रिकूट राज्य की नींव गोविन्दराज प्रथम ने चालुक्य राजाओं को जीत कर डाली थी। इसका पुत्र दंतिदुर्ग बड़ा उल्लेखनीय हुआ है। इसका उपनाम साहसतुंग भी था। जैन दर्शन के महान विद्वान भट्ट अकलंक इसके समय में हुये थे। इनके द्वारा विरचित ग्रंथों में लघीयस्त्रय, तत्त्वार्थ राज वार्तिक, अष्ट शती, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह आदि बड़े प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रंथों में यद्यपि समसामयिक राजाओं का उल्लेख नहीं है किन्तु कथाकोश नामक ग्रंथ में इनकी संक्षेप में जीवनी है। इसमें इनके पिता का नाम पुरुषोत्तम बतलाया है जिन्हें राजा शुभतुंग का मंत्री वर्णित किया है। यह राजा शुभतुंग निसंदेह कृष्ण राज प्रथम है और इसी आधार पर श्री के० बी० पाठक ने इनको कृष्णराज प्रथम का समसामयिक माना है। इसके विपरीत श्रवणबेलगोला की मल्लिषेण प्रशस्ति में इन्होंने राजा साहसतुंग की सभा में बड़े गौरव के साथ यह कहा था कि हे राजा! पृथ्वी पर तेरे समान तो प्रतापी राजा नहीं है और मेरे समान बुद्धिमान भी नहीं[2] है। "अकलंक स्तोत्र" नामक एक अन्य ग्रंथ में कुछ पद ऐसे भी है जिन्हें किसी राजा की सभा में कहा जाना वर्णित है लेकिन इसमें कई स्थलों पर "देवोऽकलङ्कःकलौ" पद आया है। अतएव प्रतीत होता है कि ग्रंथ किसी अन्य के द्वारा लिखा हुआ[3] है। मल्लिषेण प्रशस्ति के उक्त श्लोक संभवतः जनश्रुति के आधार पर लिखे गये हैं जो सही प्रतीत होते हैं।

श्री वीरसेनाचार्य भी प्रसिद्ध दर्शन शास्त्री थे। ये अमोघवर्ष के शासन काल तक जीवित थे। इनके द्वारा विरचित ग्रंथों में धवला और जयधवला-टीकाएं बड़ी प्रसिद्ध हैं। धवला टीका के हिन्दी सम्पादक डा० हीरालाल जी ने इसे कार्तिक शुक्ला

---

१. जरनल बम्बई ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग १८ पृ० २२६ कथा कोष में इस प्रकार उल्लेख है—

अत्रैव भवति मान्यखेटाख्य नगरे वरे।
राजा भूच्छुभतुंगाख्यस्तस्य मंत्री पुरुषोत्तमः।

इंडियन एंटिक्वरी भाग १२ पृ० २१५

२. राजन् साहसतुंग सैंति बहव श्वेतातपत्रानृपाः।
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादिश्वराः वाग्मिनो।
नानाशास्त्रविचारचातुर्धियाः काले कलौमद्विधाः।

जैन लेख संग्रह भाग २ लेख २१०

३. न्याय कुमुद चन्द्र की भूमिका पृ० ५५

१३ शक संवत् ७३८ में पूर्ण होना वर्णित किया है और लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूट राजा जगतुंग राज्य त्याग चुके थे और राजाधिराज बोद्दणराय शासक थे इसे पूर्ण किया ।[४] श्री ज्योति प्रसाद जी जैन ने इसे अस्वीकृत करके लिखा है कि प्रशस्ति में स्पष्टतः "विक्कम रायाम्ई" पाठ है अतएव यह विक्रम संवत होना चाहिए। अतएव उन्होंने यह तिथि ८३८ विक्रमी दी है। भाग्य से ज्योतिष के अनुसार दोनों ही तिथियों की गणना लगभग एक सी है। लेकिन राजनैतिक स्थिति पर विचार करें तो प्रकट होगा कि यह तिथि विक्रमी के स्थान पर शक संवत ही होना चाहिए। इसका मुख्य आधार यह है कि विक्रमी संवत का प्रचलन इतना प्राचीन नहीं है। इसके पूर्व इस संवत का नाम कृत और मालव संवत मिलता है। विक्रमी संवत का सबसे प्राचीनतम लेख ८९८ का धोलपुर से चण्ड महासेन का मिला है। लेकिन इसका प्रचलन उत्तरी भारत में अधिक रहा है। गुजरात और दक्षिणभारत में उस समय लिखे गये ताम्रपत्रों में शक संवत या वल्लभी संवत् मिलता है। इसमें उल्लिखित जगतुंग निःसंदेह राष्ट्रकूट राजा गोविन्द राज तृतीय है और बोद्दणराय अमोघवर्ष। अगर विक्रमी संवत् ८३८ मानते हैं तो यह तिथि १६।१०।७८० ई० ही आती है। उस समय गोविन्दराज का पिता ध्रुव निरुपम भी शासक नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त हरिवंशपुराण में वीरसेनाचार्य का उल्लेख है लेकिन उनकी इस धवला टीका का उल्लेख नहीं है। स्मरण रहे कि इस ग्रंथ में समन्तभद्र देवनन्दि महासेन आदि आचार्यों के ग्रंथों का स्पष्टतः उल्लेख है। अतएव यह घटना वि० सं० ७०५ के पश्चात् ही हुई है।

जयधवला के अन्त में लम्बी प्रशस्ति दी हुई है। इससे ज्ञात होता है कि वीरसेनाचार्य की इस अपूर्ण कृति को जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया था। यह टीका शक संवत् ७५९ में महाराजा अमोघवर्ष के शासन काल में पूर्ण की गई थी।

बहुचर्चित हरिवंश पुराण की प्रशस्ति के अनुसार[७] शक सं० ७०५ में जब दक्षिण में राजा वल्लभ, उत्तरदिशा में इन्द्रायुद्ध, पूर्व में वत्सराज और सौरमंडल में जयवराह राज्य करते थे तब बढवाण नामक ग्राम मे उक्त ग्रंथ पूर्ण हुआ था। शक संवत् ७०५ की राजनैतिक स्थिति बड़ी उल्लेखनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा का जो उल्लेख है वह संभवतः ध्रुव निरुपम है। गोविन्द II की उपाधि भी "वल्लभराज" थी। इसी प्रकार श्रवणबेलगोला के लेख नं० २४ में[८] स्तम्भ के पिता ध्रुव निरुपम की भी उपाधि वल्लभराज है।

---

४. अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो।
पासे सुतेरसोए भाव-विलग्गे धवल पक्खे ॥ ६ ॥
जग तुंग देव-रज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सुरतुलाए संते गुरुम्हि कुल विल्लए होते ॥ ७ ॥
बोद्दणराय रिंदे णरिंद चूडामणिम्हि भुंजंते ॥ ९ ॥

धवला १, १, १, प्रस्ता० ४४-४५

५. अनेकांत वर्ष ७ पृ० २०७–२१२

६. भारतीय प्राचीन लिपी माला पृ० १९६

७. शाकेष्वब्द शतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुध नाम्नि कृष्ण नृपजे श्री वल्लभे दक्षिणाम्
पूर्वां श्री मदवन्ति भूभृति नृपे वत्सादि राजे परां
सौर्याणामधि मण्डलं जययुते वीरे वराहऽवति ॥ ५२ ॥

८. अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० ५२–५३

गोविन्दराज का शासनकाल अल्पकालीन है और शक सं० ७०१ के धूलिया के दानपत्र के पश्चात् उसका कोई लेख नहीं मिला है अतएव यह ध्रुव निरुपम के लिये ही ठीक है। उत्तर में इन्द्रायुध का उल्लेख है। यह भण्डी वंशी राजा इन्द्रायुध है। फ्लीट, भण्डारकर प्रभृति विद्वानों ने भी इसे ठीक माना[9] है। कुछ इसे गोविन्दराज III के भाई इन्द्र सेन मानते हैं जो उस समय राष्ट्रकूटों की ओर से गुजरात में प्रशासक था। स्वतन्त्र[10] राजा नहीं। प्रशस्ति में तो स्पष्टतः इन्द्रायुध पाठ है अतएव इस प्रकार के तोड़ मोड़ करने के स्थान पर इसे इन्द्रायुध ही माना जाना ठीक है। पूर्व में वत्सराज का उल्लेख है। शक सं० ७०० में लिखी गई कुवलयमाला में इस राजा को जालोर का[11] शासक माना है। अवन्ति प्रतिहार राजाओं के शासन में संभवतः दंतिदुर्ग के शासन काल से ही थी।[21]

१३. आचार्य जिनसेन जो आदि पुराण के कर्त्ता थे अमोघवर्ष के गुरु के नाम से विख्यात हैं। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में स्पष्टतः वर्णित है कि वह जिनसेनाचार्य के चरण कमलों में मस्तक रख कर अपने को पवित्र मानता था।[14] इसकी बनाई हुई प्रश्नोत्तर रत्नमाला नामक एक छोटी सी पुस्तक मिली है। इसके प्रारंभ में "प्रणिपत्य वर्द्धमानं" शब्द है। यद्यपि यह विवादास्पद है कि अमोघवर्ष जैन धर्म का पूर्ण अनुयायी था अथवा नहीं किन्तु यह सत्य है कि वह जैन धर्म की ओर बहुत आकृष्ट था। इसी के शासन काल में लिखी महावीराचार्य की गणितसार संग्रह नामक पुस्तक में अमोघवर्ष के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने समस्त प्राणियों को प्रसन्न करने के लिये बहुत[15] काम किया था जिसकी चित वृति रूप अग्नि में पापकर्म भस्म हो गया था। अतएव ज्ञात होता है कि वह बहुत ही धार्मिक प्रवृति का था। इसमें स्पष्टतः जैन धर्मावलम्बी वर्णित किया है। राष्ट्रकूट शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष कई बार राज्य छोड़कर एकांत का जीवन व्यतीत करता था और राज्य युवराज को सोंप देता था। संजान के दानपत्र के श्लोक ४७ व अन्यदान पत्रों में इसका स्पष्टतः उल्लेख है। प्रश्नोतर रत्न माला में

---

९. Epigraphica-Indica-Vol IV P, 195-196

१०. डा० गुलाबचन्द चोधरी-हिस्ट्री आफ नोर्दर्न इंडिया फ्रोम जैन सोर्सेस पृ० ३३

११. सगकाले, बोलीणे वीरसाण सत्ताई गएहिं। सत्तहिं
एक दिन् णूणेहिं रइया अवरण्ह वेलाए।
पर भड़ भिउहि भेगोपण ईयण रोहिणी कलाचंदो।
सिरिवच्छराय णामो णरहत्थी पत्थिवो जइया॥

(कुवलय माला)

१२. अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० ४०

१३. "इत्यमोघवर्ष परमेश्वर परमगुरु श्री जिनसेनाचार्य विरचित मेघदूत वेष्टिते पार्श्वाभ्युदये......"
(पार्श्वाभ्युदय के सर्गों के अन्त की पुष्पिका)

१४. यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजः पिशङ्ग कुमुट प्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्ष नृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमान् जिनसेन पूज्य भगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥८॥

उत्तर पुराण की प्रशस्ति

१५. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य का इतिहास पृ० १५२

अन्तिम दिनों में उसका राज्य से विरक्त होना[16] वर्णित है। अगर अमोघवर्ष जैन धर्म की ओर आकृष्ट नहीं होता तो निसंदेह जिनसेनाचार्य उसकी प्रशंसा में सुन्दर पद नहीं लिखते। [17]

उसमें लिखा है कि उसके आगे गुप्त राजाओं की कीर्ति भी फीकी पड़ गई थी। संजान के दानपत्र में भी इसी प्रकार का उल्लेख है।[18] उत्तर पुराण की प्रशस्ति में अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी राजा कृष्ण II की[19] प्रशंसा की है। किन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि यह राजा जैन था अथवा नहीं। किन्तु इसका सामन्त लोकादित्य जो वनवास देश का राजा था अवश्य-मेव जैन था। इसकी राजधानी [20] बंकापुर थी। यह जैन धर्म का बड़ा भक्त था।

शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भी गोविन्दराज और अमोघवर्ष का वर्णन मिलता है। गंगवंशी सामन्त चाकिराज की प्रार्थना पर शक सं० ७३५ में गोविन्दराज III ने जालमंगल नामक ग्राम यापनीय संघ को दिया था। यह लेख गोविन्दराज III के शासन काल का अन्तिम लेख है। उत्तर-पुराण में वर्णित लोकादित्य के पिता बंकेय के कहने पर अमोघवर्ष ने जैन मंदिर के लिए भूमिदान में में दी थी ऐसा एक दानपत्र से प्रकट होता है।[21]

महाकवि पुष्पदंत और सोमदेव उस युग के महान् विद्वान थे। पुष्पदंत का एक नाम खंड भी था। ये महामात्य भरत और उनके पुत्र नन्न के आश्रित रहे थे। ये दोनों राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज III के सम सामयिक थे। इसने कृष्णराज के लिये "तुडिगु" "वल्लभ नरेन्द्र" और "कण्हराय" शब्द भी प्रयुक्त किये हैं।[22] तिरुक्कलुकुरुनरम् के शिलालेख में कन्हरदेय शब्द इस राजा के लिये प्रयुक्त [23] किया गया हैं। यह राजा जब मेलपाटी के सैनिक शिविर में था तब सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू ग्रंथ को पूर्ण किया था। [24] इस ग्रंथ की

---

१६. अल्तेकर-राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० ८९-९०

१७. गुर्जर नरेन्द्र कीर्तेरन्तपतिता शशांकशुभ्रा या।
गुप्तैव गुप्त नृपतेः शकस्य मुशकायते कीर्तिः ॥१२॥

१८. हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरत् देवीं च दीनस्तथा।
लक्षकोटिमलेखयत् किलकिलौ दाता सगुप्तान्वयः
येनात्याजि तनु स्वराज्यमसकृत वाह्यर्थं कैः काकथा
ह्रस्तिस्योन्नति रास्ट्रकूट तिलक दातेति कीर्त्यामपि। ४८।

[E. I Vol 18 P. 235]

१९. उत्तर पुराण की प्रशस्ति श्लोक २६-२७

२०. उत्तर पुराण की प्रशस्ति श्लोक २९ और ३०

२१. जैन लेख संग्रह भाग ३ की भूमिका पृ० ९५ से ९७

२२. सिरि कण्हराय करय लणि हिय असि जलवाहिणि दुग्ग परि।
आदि पुराण भाग १ की भूमिका पृ० १६

२३. E. I. Vol 3 Page 282 एवं साउथ इंडियन इंसक्रिपसन भाग १ पृ० ७६

२४. "पांड्य सिंहल चोल चेरम प्रभृतीन्महीपतिन्प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्द्धमान राज्यप्रभावे श्री कृष्ण-राज देवे"...एवं ८८ शक के दानपत्र में "तं दणि विएणधरण कणयप यर मदि्दपरिभ मंतु मेला डियायरु" उल्लेखित है।

प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि अरिकेशरी के पुत्र वद्दिग की राजधानी गंगधारा में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ था। इसमें स्पष्टतः वर्णित है कि कृष्णराज ने पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर आदिराजाओं को जीता था। इस बात की पुष्टि समसामयिक ताम्रपत्रों से भी होती है। पुष्पदंत के आदिपुराण में मान्यखेटपुर को मालवे के राजा द्वारा विनष्ट करने का उल्लेख है।[२५] यशोधर चरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जिस समय सारा जनपद नीरस हो गया था, चारों ओर दु:सह दु:ख व्याप्त हो रहा था, जगह जगह मनुष्यों की खोपड़ियां और कंकाल बिखर रहे थे, सर्वत्र करक ही करक दिखाई दे रहा था उस समय महात्मा नन्न ने मुझे सरस भोजन और सुन्दर वस्त्र दिये अतएव वह चिरायु हो।[२६] महाकवि धनपाल की पाइअ लच्छी नाममाला[२७] के अनुसार यह घटना १०२६ वि० में घटित हुई थी। राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग के बाद कर्कराज हुआ। परमार आक्रमण के बाद राष्ट्रकूट राज्य का अधःपतन प्रारम्भ हो गया और शीघ्र ही चालुक्यों ने वापिस हस्तगत कर लिया।

संस्कृत और प्राकृत के साथ साथ कन्नड भाषा में भी कई दानपत्र और ग्रंथ लिखे गये। इनमें सबसे उल्लेखनीय महाकवि पम्प हैं। इसके द्वारा विरचित आदि-पुराण चम्पू और विक्रमार्जुन विजय ग्रंथ प्रसिद्ध हैं पिछले ग्रंथ में अरि केसरी की जो चालुक्य वंशीय था, और जो सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू में भी वर्णित है, वंशावली दी गई है। विक्रमार्जुन विजय ऐतिहासिक ग्रंथ है। इसमें राष्ट्रकूट राजा गोविन्द III के विरुद्ध उसके सामंत राजाओं के आक्रमण करने और राज्य को वद्दिग राज को सोंपने का उल्लेख है। वद्दिग अमोघ वर्ष II का ही उपनाम प्रतीत होता है।[२८]

शासन व्यवस्था

राष्ट्रकूट राजाओं के राजनैतिक इतिहास के साथ साथ समसामयिक राज्यव्यवस्था का भी जैन ग्रंथों में सविस्तार वर्णन मिलता है। आदि-पुराण, और नीतिवाक्यामृत में इसका स्पष्ट चित्र खींचा गया है। राजा और मंत्रियों को उस समय वंश परम्परागत अधिकार प्राप्त थे।[२९] मंत्रियों की संख्या सीमित रखने का उल्लेख सोमदेव ने किया है।[३०] मंत्रि मंडल में मंत्रियों के अतिरिक्त अमात्य (रेवेन्यू मिनिस्टर) सेनापति, पुरोहित दण्डनायक आदि भी होते थे। गावों के मुखियों का उल्लेख आदिपुराण में है। सलारक्ष जो नगर

---

२५. दीनानाथधनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्ल वल्लीवनं, मान्याखेटपुरं पुरन्दरपुरीं लीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथनरेन्द्र कोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं। क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तःकविः।
यह पद संदिग्ध है और क्षेपक है। प्र० श्लो० ३६ महापुराण की ५०वीं संधि

२६, जणवय नीरसि दुरियमलीमसि। कइणिंदायरि दुसहे दुहयरि।
पडियक बाल दुणारकंकालइ। बहुरंकालइ अइदुक्कालइ।
पवरागारि सरसाहारि। सण्हि चेलि वरतंबोलि महु उवयारिउ पुण्णें पेरिउ। गुणभत्तिल्लउ णण्णु महल्लउ॥ होउ चिराउसु''
यशोधर चरित ४।३१-४-१०

२७. विक्कम कालस्स गए अउणातीसुत्तरे साहस्सम्मि। मालव नरिंद धाडीए लूडिए मन्न खेडम्मि॥
पाइअ लच्छी नाममाला (भावनगर) पृ० ४५

२८. अल्तेकर राष्ट्रकूटाज पृ० १०७-१०८

२९. सन्तान क्रमतो गताऽपि हि रम्या कृष्टा प्रभोः सेवया महामंत्री भरत ने वंशपरम्परागत पद को जो कुछ दिनों के लिये चला गया था पुनः प्राप्त किया [महापुराण (अप) भाग ३ पृ० १३

३०. "बहवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति १०।७२॥

अधिकारी था का उल्लेख आदिपुराण नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक-चम्पू में भी है। अष्टादश श्रेणिगण प्रधानों का भी उल्लेख यत्रतत्र मिलता है। नीतिवाक्यामृत में कई प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख है। राज्य कर जो प्रायः धान के रूप में लिया जाता था वह उपज का १ भाग था। इनके अतिरिक्त शुल्क मंडपिकाओं द्वारा भी संगृहीत किया जाता था। राजाओं के ऐश्वर्य का सविस्तार वर्णन है। इनके राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले उत्सवों का भी आदि पुराण में वर्णन है। राजाओं का अभिषेक भी एक विशिष्ट पद्धति द्वारा कराया जाता था। राज्याभिषेक के समय "पट्ट बन्धन" होता था। यह पट्ट बन्धन युवराज पद पर नियुक्त करते समय भी बांधा जाता था। पट्टबन्धन का उल्लेख शिलालेखों में भी मिलता है। अन्तःपुर की व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। इसकी रक्षा के लिये वृद्ध कंचुकीगण नियुक्त थे। राजाओं द्वारा जलक्रीडाएं और कई प्रकार की गोष्टियां किये जाने का भी वर्णन मिलता है।

सांस्कृतिक सामग्री

उस समय सांस्कृतिक गति विधियों के अध्ययन के लिये जैन सामग्री बहुत ही महत्वपूर्ण है। वर्णव्यवस्था [३२] वर्णाश्रम धर्म, [३३] सामाजिक संस्कार, [३४] वेश्यावृत्ति [३५], भोजन व्यवस्था, [३६] शिक्षा, [३७] चित्रकला, [३८] संगीत, [३९] आभूषण, [४०] सौन्दर्य प्रसाधन, [४१] चिकित्सा साधन, [४२] खेतों की व्यवस्था [४३] आदि का इनमें सांगोपांग वर्णन मिलता है। समसामायिक भारत के वास्तुशिल्प का भी सविस्तार वर्णन मिलता है। मंदिर महल आदि के वर्णनों में इस प्रकार की सामग्री उल्लेखनीय है। श्री अल्तेकरजी ने अपने ग्रंथ राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स में इस सामग्री का अधिक उपयोग नहीं किया है। इस सामग्री का अध्ययन वांछनीय है। ●●

---

३१. "पट्टबन्धापदेशेन तस्मिन् प्राग्बङ् कृते वसा [आ० पु० ११।४२]
राज्य पट्टबन्धस्व ज्यायान् समवधीरयन्। आ० पु० ५।२०७
"मणुणे के शक सं० ७१६ के लेख में" राष्ट्रकूट पल्लवान्वयतिलकाभ्यां मूर्द्धाभिषिक्त गोविन्दराज नन्दिवर्माभिधेयाभ्यां समुनिष्ठित-राज्याभिषेकाभ्यां निजकर घटित पट्टविभूषित ललाट-पट्टो विख्यात" इसीप्रकार पट्टबन्धो जगद्बन्धोः ललाटे विनिवेशितः। १६।२३३ आ० पु०, उल्लेख है। पुष्पदंत ने राजाओं के अभिषेक और चमरों का उल्लेख व्यंग के साथ किया है "चमराणिल उड्डाविय गुणाइ। अट्टि सेय धोय सुयणत्तणाइ"

३२. आदि पुराण १६।१८१-१८८, २४२-२४६, २४७, ३६।१४२
३३, ,, ३८।४५-४८ और ४२ वां पर्व
३४, ,, ४० और ३६वां पर्व
३५. ,, ४।७३
३६. ,, ३।१८६-१८८-२०३, १६।७३
३७. ,, १४ [१६०-१६१], १६८ [१०५-१२८]
३८. ,, ६ [१७०-१६१]
३९, ,, १४ [१०४-१५०] १२ [२०३-२०६]
४०. ,, १६ [४४-७१] १५ [८१-८४]
४१, ,, १२ [१७४] ११ [१३१] ६ [३०-३२]
४२. ,, ११।५६, ११।५८, ११।१६६ ११।१७४-७६, २८ [३८, ४०]
४३, ,, २६ [११२-११५] २६ [४८] २६ [१२३-१२७] २८ [३२-३६] १६[१५७]

भारतीय साहित्य में सीताहरण प्रसंग

डा० छोटेलाल शर्मा एम० ए० पी-एच० डी०

भारत में राम कथा की अद्वितीय व्यापकता दिखलायी पड़ती है। संस्कृत साहित्य में ही नहीं, भारत की अन्य जनपदीय भाषाओं तथा निकटवर्ती देशों के साहित्य में भी राम कथा का एक महत्त्व पूर्ण स्थान है। साहित्य की प्रत्येक विधा में इसका रोचक अनुसंधान हुआ है। वैष्णव धर्म में राम को विष्णु का अवतार माना गया है, बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व का और जैन धर्म में आठवें बलदेव का। वस्तुतः राम कथा कालानुक्रम से जन सामान्य के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का अनुसंधान है। चारों ही पुरुषार्थ गृहस्थाश्रम में समन्वित होते हैं। सीता हरण प्रसंग का संबंध गृहस्थाश्रम के विशिष्ट मूल्यों से है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रकरण का महत्त्व है।

प्रस्तुत प्रकरण का रोचक एवं विस्तुत विवरण बाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है जो नीचे दिया जा रहा है।

हेमंत के दिन थे। राम, लक्ष्मण और सीता गोदावरी से लौट रहे थे। भरत और कैकेयी उनके वार्तालाप का विषय थे। सहसा उन्हें रावण की विधवा बहिन शूर्पणखा दिखाई पड़ी। वह सुन्दरी के वेश में थी। उसने आते ही मुग्ध होकर राम से विवाह का प्रस्ताव किया। उन्होंने उसको लक्ष्मण के पास भेज दिया। वे उससे ठठोली करने लगे। वह पलट कर सीता पर झपटी, राम ने हुँकार की, वह ठिठकी और लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए। वह रोती-बिलखती खर के पास पहुँची और उन तीनों का रक्त पीने की इच्छा प्रकट करने लगी। खर ने अपने चौदह प्रख्यात राक्षसों को उसके साथ कर दिया। पंचवटी में वे सब मौत के घाट उतार दिये गये। शूर्पणखा ने पुनः खर को प्रेरित किया। खर को भी ऋषियों का निर्भय विचरण फूटी आँख नहीं सुहाता था। उसने त्रिशिरा और दूषण को बुलाकर युद्ध का डंका बजवा दिया। अनेक अपशकुनों को देखकर खर का मन बैठने लगा लेकिन अन्य कोई चारा न देख कर युद्ध छेड़ दिया गया। उधर राम ने सीता को लक्ष्मण के साथ गिरि-गुहा में भेज दिया। दोनों ओर से तुमुल युद्ध हुआ। ऋषि, देव, गंधर्व चारण आदि सब राम के स्वस्तिवाचन के लिए एकत्र हुए। रण में चौदह सहस्र राक्षस खेत रहे। अकंपन ने रावण को राम के पराक्रम और सीता के सौंदर्य से परिचित कराया और यह सुझाव भी दिया कि राम का बध सीता-हरण से संभव है। रावण तुरंत मारीच के पास गया और समझाने-बुझाने पर लौट आया। इतने में रोती-बिलखती शूर्पणखा आई। उसने कहा कि सीता उसके योग्य भार्या है। यह देख वह उससे वार्तालाप के लिये जैसे ही उद्यत हुई वैसे ही क्रूरकर्मा लक्ष्मण ने उसको विरूप कर दिया। रावण के मन में फिर खलबली पैदा हुयी। और वह पुनः मारीच के पास पहुँचा। मारीच उसको देखकर घबड़ा गया। उसने राम के राज-लक्षणों, सीता के पातिव्रत्य और पर-स्त्री-रमण के पाप का संकेत कर उसे इस कार्य से विमुख करने का प्रयत्न किया लेकिन उसने एक न सुनी। पं० विश्वामित्र के यज्ञ और पंचवटी की आप बीती उसने भी सुनाई। उसने यह भी बताया कि उसको सर्वत्र राम ही दिखाई पड़ते हैं और रकार ही सुनाई पड़ता है। रावण ने पहले तो उसकी भर्त्सना की और फिर मुक्ति तथा आधे राज्य का प्रलोभन दिया। रावण ने उसे आज्ञा न मानने की अवस्था में प्राण दण्ड देने का भी भय दिखाया। मारीच को प्राण दंड की अपेक्षा वीरता पूर्वक प्राण त्याग

रुचिकर प्रतीत हुआ। अतः वह रावण के साथ हो गया और वह सोने का मृग बनकर सीता को लुभाने लगा। सीता को इससे कुतूहल हुआ और उसने उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। राम को उसके बध की इच्छा हुई। लक्ष्मण ने उसको ताड़ लिया लेकिन राम रुक न सके और सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण और जटायु के कन्धों पर डालकर उसके पीछे हो लिए। दूर जा कर उसका ब्रह्म-बाण से बध किया। उसने भी प्राण-त्याग के समय अपना रूप प्रकट किया और राम की आवाज में सीता और लक्ष्मण को पुकारा। यह देखकर राम की भी आँखें खुलीं और लक्ष्मण की बात याद आयी। वे सीता की चिंता से आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर सीता भाई की सहायतार्थ आने के लिए लक्ष्मण को उकसाने लगी। उसने उसको अनार्य, निर्दयी, कुलांगार, भरत का गुप्तचर आदि सभी न कहने योग्य कहा। लक्ष्मण भी रोष का घूंट पीकर सशंक मन से उस ओर चले गये। इसी बीच आश्रम को सूना देखकर रावण ने वन में प्रवेश किया। उसने मुक्त कंठ से सीता के सौंदर्य की प्रशंसा की और बाद में भय, प्रणाय और राजनय की बातें। फिर उसने अपना छद्मवेश त्याग कर उसको बालात् गधों से जुते रथ में बैठा लिया। सीता का रोना-चिल्लाना सुनकर जटायु की नींद टूटी। उसने पहले शास्त्र चर्चा छेड़ी और बाद में शस्त्र तथा उसका रथ कवच और धनुष तोड़ डाला सारथी और गधों को भी मार डाला। रावण, मौका पाकर सीता को गोद में उठा आकाश की ओर भागा। जटायु ने फिर पीछे से आक्रमण किया लेकिन असि-प्रहार से भूलुंठित हो गया। सीता मरणासन्न जटायु को पकड़कर रोने लगी। रावण उसे गोद में उठाकर आकाश मार्ग से लंका ले गया। ब्रह्मा और ऋषियों ने अब अपना काम सिद्ध समझा।[1]

अध्यात्म रामायण की कथा में कुछ संकोच आया है और उसका स्वर भी बदला है। उसमें चौदह राक्षसों का संग्राम छूट गया है और अकंपन का इति वृत्त भी। मारीच के पास भी रावण एक ही बार जाता है। वे दोनों ही राम के ब्रह्म स्वरूप से अवगत हैं और परमपद पाने की अभिलाषा करते हैं—एक भक्ति से और दूसरा विरोध से। मारीच रावण को भक्ति का उपदेश देता भी है। रावण भी सीता हरण के समय उस का स्पर्श नहीं करता। वह धरती कुरेदकर भूमि सहित सीता को उठा लेता है और रथ में बैठा लेता है। जटायु के रथ तोड़ देने पर वह दूसरे रथ के द्वारा सीता को लंका ले जाता है। शूर्पणखा भी राम के चरण चिन्हों में राजकीय निशान देखकर उनका अनुगमन करती है। इधर राम को भी रावण के प्रयत्नों का आभास है। वे सीता से कहते हैं कि वह यहां परिव्राजक के वेश में आवेगा। अतः उसे अपना प्रतिबिंब छोड़कर अग्नि के प्रवेश कर जाना चाहिए।[2] आनंद रामायण में राम चौदह सहस्र राक्षसों का रूप धारण कर उनका बध करते हैं।[3] नृसिंह पुराण में पहले पहल राम के पत्र की चर्चा है। उस रचना में शूर्पणखा राम को प्रलोभन देती है और ठुकरायी जाने पर लक्ष्मण के नाम एक पत्र मांगती है।[4] भट्टिकाव्य में राम लक्ष्मण दोनों ही राक्षसों के बध में भाग लेते है।[5] आश्चर्य चूड़ामणि में शूर्पणखा छद्मवेश में सीताहरण में सहायक होती है।

निष्कर्षः—बाल्मीकि रामायण की दृष्टि वस्तुपरक एवं व्यावहारिक है। उसमें जाति को विशिष्टता प्रदान की गयी है। आध्यात्मिक स्वर

१. वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग १६–५२
२. अध्यात्म रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ५–७
३. आनन्द रामायण १। ७। ६२
४. नृसिंह पुराण अध्याय ४९१
५. भट्टिकाव्य ४।४१

का प्रभाव है लेकिन यज्ञ का मान है। परस्त्री-रमण सामाजिक अनुशासनविहीनता का कारण समझा गया है। साहित्यिक दृष्टि से आदि रामायण की कथा बिखरी-बिखरी है। उसमें वर्णन प्रियता का आग्रह है। चरित्र की दृष्टि से लक्ष्मण अधिक दूरदर्शी हैं और राम अधिक पराक्रमी। आगे कथा में संगठन आया है और कुतूहल की उत्पत्ति हुई है। राम का चरित्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है। आध्यात्मिक चेतना उभरी है और व्यक्ति को प्रधानता मिली है। जन सामान्य की कर्मचेतना भाव मय हो गई है। कर्म का स्थान भक्ति ने ले लिया है।

रामचरित मानस में कथा कुछ और सिमटी है। उसमें वह प्रसंग भी नहीं है। जहां मारीच मृग रूप में राम पर आक्रमण करता है। शूर्पणखा अपने अविगलित कौमार्य की दुहाई देकर विवाह का आग्रह करती है और दोनों भाईयों के बीच भंवर की नाव बन जाती है। मानसकार ने उसको राजनय में ही नहीं, धर्मनय में भी निष्णात बताया है (यद्यपि यह पात्र दोष है)। इधर खरादि भी राम की रूप माधुरी से अभिभूत होते हैं और रावण भी 'प्रभु सर-तीरथ' ऊपर में प्राण छोड़ना चाहता है। वह सीता पर क्रुद्ध होकर भी चरण वंदन में सुख मानता है। मारीच ने राम के क्रोध को मुक्ति प्रदायक और भक्ति को वशकरी बताया है। राम भी मृग का पीछा देव कार्य की प्रेरणा से करते हैं। वे नरलीला के लिए सीता को अग्नि प्रवेश का आदेश भी देते हैं। लक्ष्मण सीता को 'वन दिसि देव' सभी को सौंप जाते हैं और एक रेखा भी बना जाते हैं। राम असुर को भी परमपद देते हैं। उन्होंने खर की सेना में भी एक कौतुक किया है कि सब की दृष्टि फेर दी है। वे एक दूसरे को राम समझते हैं, लड़ते हैं और मरते हैं।[1]

पंचवटी और साकेत में कथा भी बदली है और स्वर भी बदला है। पंचवटी की कथा सामान्य हिन्दू गृहस्थ के संदर्भ में आरंभ होती है। उसका ढंग अत्यन्त नाटकीय है और विषय संक्रातिकालीन जीवन मूल्यों का संघर्ष। लक्ष्मण नैसर्गिक और नागरिक जीवन के विश्लेषण की उधेड़बुन में लगे दिखलायी पड़ते हैं। शूर्पणखा नगर की कृत्रिम सभ्यता के सभी गुण दोषों के साथ उनके सामने प्रकट होती है। अतः भारतीय संस्कृति के मूल्यों को लेकर खींचातानी प्रारम्भ हो जाती है धीरे-धीरे आहार्य सभ्यता का भेद खुलने लगता है। उसमें समायोजन का सबसे अधिक अभाव है। साकेत में अपार्थिव रंग कुछ हलका है। खर से युद्ध करते समय राम अपने युद्ध कौशल के कारण असंख्य रूपों में दिखलायी पड़ते हैं। मायावी मृग का रहस्य भी चलते ढंग से संकेतित कर दिया गया है। रामादि के विरुद्ध शूर्पणखा की एक आपत्ति यह भी है कि वे उसको पतित कहते हैं। सीता भी मृग की आवाज सुनकर लक्ष्मण के क्षात्र–धर्म को जागृत करने के लिए स्वयं सहायतार्थ साथ जाने को तैयार हो जाती है।[2] सारलदास के महाभारत के अनुसार भी सीता को एक सखी की इच्छा है और वे चाहती हैं कि लक्ष्मण शूर्पणखा से विवाह करलें, लेकिन लक्ष्मण इसको स्वीकार नहीं करते।[3]

निष्कर्ष:—तुलसी ने रामकथा को भाव–स्तर से उठाकर एक ऊंचे आध्यात्मिक आधार पर टिका दिया है। कर्मसौंदर्य भावोद्वेलन का उपकारक मात्र है। मानस का स्वर भी पौराणिक है और सर्वत्र विदेहमुक्ति का आग्रह है। समूचे ग्रंथ में इस बात का अनुसंधान दृष्टिगोचर होता है कि श्रद्धा, वैर, ईर्ष्या और आलस्य से भगवद् स्मरण करने पर शिवत्व की उपलब्धि होती है। मानसकार ने व्यक्ति को प्रधानता प्रदान की है और जाति को उसके सीमंत में रख दिया है। सर्वत्र

---

१. मानस अरण्य काण्ड दो० १७–२६   २. साकेत—सर्ग ११   ३. महाभारत-वन पर्व

राम–न्यग्रोध की शीतल छाया फैली हुई है। मैथिलीशरण गुप्त में पारिवारिक मिठास है। उन्होंने पुनः जाति को उभारा है और एकता का प्रयत्न किया है। उनके ग्रंथों में भी भावना प्रतिष्ठा की ही है और आग्रह भी व्यक्ति–सुधार पर है लेकिन कर्म-सौंदर्य के परिवेश का अभाव नहीं है। बाल्मीकि के राम में मृगया की भावना जाति गत है, तुलसी के राम में देवकार्य का आग्रह व्यक्तिगत है लेकिन गुप्त जी के राम दोनों को समेट कर चले हैं।

जैन रामायणों का रूप भी भिन्न है और स्वर भी। विमल सूरि की एक अलग परंपरा है। उनके महाभारत–वन पर्व।

पउमचरियं के अनुसार कथा–सूत्र इस प्रकार है:—

शरत ऋतु थी। वन-विचरण को निकलते ही लक्ष्मण को गंध युक्त पवन ने स्पर्श किया। वे उत्कंठा पूर्वक उस ओर मुड़ चले और क्रौंच रवा के तटस्थ वंशस्थ वन में पहुंचे। वहां चन्द्रनखा का पुत्र शंबूक सूर्यहास खड्ग के लिए तपस्या निरत था लक्ष्मण ने सूर्यहास खड्ग को उठाकर जिज्ञासापूर्वक बांस के बीड़े पर चला दिया और कुंडलालंकृत मस्तक को गिरते देखा। वे खड्ग ग्रहण कर राम के पास लौट आये और उन्हें समस्त घटना से अवगत कराया। उधर चन्द्रनखा ने अपने पुत्र का भू लुंठित सिर देखा, तो वह मूर्छित हो गयी और संज्ञा लौटने पर करुण–क्रंदन करने लगी तथा वात्सल्य रति का परिचय देती हुई शत्रु को ढूंढने लगी। उसकी दृष्टि राम–लक्ष्मण पर पड़ी। उसका क्रोध हवा होगया और कामने उसे आ दबाया। वरणेच्छा से उसने कन्या का रूप धारण किया और पुन्नाग वृक्ष के नीचे बैठकर आंसू बहाने लगी। सीता से उसने कहा कि मेरे मां-बाप मर चुके हैं और परि-जनों ने मुझको निकाल दिया है, प्राण–त्याग के पूर्व मेरी वरणेच्छा शेष है, अगर आप अनुगृहीत कर सकें, तो बड़ा सौभाग्य हो। राम–लक्ष्मण तैयार नहीं हुए। वह बड़बड़ाती घर चली गयी। लक्ष्मण उस दिव्य स्त्री के रूप एवं गुण पर अनुरक्त हो चुके थे। वे अन्य किसी व्याज से उसको ढूंढने भी गये लेकिन खाली हाथ लौट आये। चन्द्रनखा ने भी मार्ग में नखों से अपना पार्श्व और उरु प्रदेश विदीर्ण कर लिया। उसके केश बिखरे थे और नेत्र वाष्पा कुल उसने अपने पति खर को सब वृत्तांत सुनाया और कहा कि जब मैं अपने पुत्र के उच्छिन्न सिर को गोद में लेकर रो रही थी, तब शत्रु ने बलात् मेरा आलिंगन किया और मेरी यह दुरवस्था कर दी है। खरने उसके भाई रावण के पास चर भेजा और स्वयं चौदह सहस्र भटों को लेकर राम की कुटी पर आक्रमण कर दिया। दिशाएं सेना के कलरव से भर गयीं। राम ने पहले उन्हें हंस समझा और नीचे उतरने पर देव। लक्ष्मण ने युद्ध का धुरा पकड़ा और राम से सिंहनाद की बात कहकर वे तुमुल संग्राम में कूद पड़े। उसी समय पुष्पक विमान में स्थित रावण भी वहां आया और सीता को देखकर संयम छोड़ बैठा। उसने अवलोकिनी विद्या की सहायता से सिंहनाद किया। राम ने सीता को जटायु के संरक्षण में छोड़ा और द्रुतगति से लक्ष्मण की सहायता को चल पड़े। रावण ने नीचे उतर कर सीता को उठाया और जटायु को चूर्ण-विचूर्ण कर लंका चला गया। मार्ग में सीता रोने-विलखने लगीं। रावण भी अपने अभिग्रह से विच्युत नहीं हुआ और यह सोचकर संतुष्ट रहा कि समय पाकर सब ठीक हो जावेगा। सिंहनाद का रहस्य जानकर राम शीघ्र ही लौटे और कुटी को सूना देखकर मूर्छित हो गये।[1] पद्म चरित्र पउम-चरियं का छायानुवाद है। 'स्वयंभू के पउमचरिउ में अपेक्षाकृत काव्य सौंदर्य है। लक्ष्मण मत्त गजों के पकड़ने में दत्तचित्त हैं कि एकाएक सुरभित पवन उन्हें वंशस्थल की ओर ले जाता है। शंबूक वध की अकांड घटना से लक्ष्मण संतप्त होते हैं

१. पउमचरियं–४३–४४ वां सर्ग

और सीता भय-विह्वल । उनकी विग्रह मूलक प्रकृति के लिए वे उन्हें विडंबित भी करती हैं। चन्द्रनखा भी प्रतिशोध के लिए सव्यसाची के सदृश प्रतिज्ञा करती है। लक्ष्मण सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता है और चन्द्रनखा को कुलक्षिणी मानते हैं, इस कारण उसका वरण नहीं करते । लेकिन उसके प्रचारण पर वे अपने पौरुष को संयत भी नहीं रख पाते । राज परिवार की अन्य स्त्रियां चन्द्रनखा के रहस्य को ताड़ जाती हैं और दूषण युद्ध का प्रति वेध करता है। रावण के लेख में सीता के सौंदर्य का भी वर्णन है। रावण लक्ष्मण के पराक्रम की मुक्त कंठ से संस्तुति करता है और राम की सीता सहचरी के कारण प्रशंसा । अवलोकिनी विद्या भी रावण को समझाती है लेकिन रावण सीता पर शाश्वत शिव रूप को न्यौछावर कर देता है। मार्ग में रावण को भामण्डल के अनुचर से भी युद्ध करना पड़ता है। वह सीता को नंदनवन में आवासित कर नगर को चला जाता है। [1]

ब्रह्म वैवर्त पुराण में भी लक्ष्मण द्वारा खर-दूषण के वध और शूर्पणखा के पूर्व जन्म का उल्लेख है।[2] उदात्तराघव में सीताहरण का रूप इस प्रकार है कि लक्ष्मण कनक मृग की खोज में चले जाते हैं और रावण आश्रम के कुलपति का रूप धारण कर राम और सीता के पास पहुँचता है तथा राम की निंदा करता है कि उन्होंने लक्ष्मण को मृग के पीछे भेज दिया है। उसी समय एक छद्मवेषी राक्षस आकर यह समाचार देता है कि कनक मृग राक्षस रूप में बदल कर लक्ष्मण को ले जा रहा है। इस पर राम सीता को रावण के संरक्षण में छोड़कर लक्ष्मण की सहायता के लिए चले जाते हैं।

निष्कर्षः—यहां भी समग्र प्रसंग रसाभास से उपकृत है। हिन्दू रामायणों में शूर्पणखा थी और यहां चन्द्रनखा है। दोनों ही रावण की बहिने हैं एक सधवा और दूसरी विधवा लेकिन दोनों ही स्वैरिणी। विकलांग करने का प्रसंग जैन रामायणों में नहीं है। हिन्दू रामायणों में रणभार राम के कंधों पर है और जैन रामायणों में लक्ष्मण के कंधों पर। सूर्यहास की उपलब्धि समरानुक्रम को पूरा करती है—एक ओर चन्द्रहास खड्ग है और दूसरी ओर सूर्य हास। यही वासुदेव प्रतिवासुदेव का अंतर है। सभी वर्णन जातिगत वैशिष्ट्य से पूर्ण है और समूचा कार्यकलाप वैयक्तिक मुक्ति तथा धार्मिक आग्रह से संचालित। हिन्दू गृहस्थ काम और अर्थ को धर्ममय बना कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। वहां उभयन है और विदेह मुक्ति। जैन गृहस्थ धर्म की छत्र छाया में काम का प्रशमन कर जीवनमुक्ति का प्रयत्न कर रहा है। अतः जैन कथाकार कर्म और भाव दोनों का समन्वय कर चलते हैं।

उत्तर पुराण की एक अतिरिक्त दिगंबर परंपरा है। इसके अनुसार कथा सूत्र निम्न प्रकार हैः—

नारद से सीता के सौंदर्य का वर्णन सुनकर रावण उसे हर लाने का संकल्प करता है। सीता के मन की परीक्षा के लिए शूर्पणखा (चन्द्रनखा) को बनारस भेजा जाता है। वह सीता का सतीत्व देखकर रावण से कहती है कि सीता का मन चलायमान करना असंभव है। जब राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में विहार करते हैं, तब मंत्री मारीच स्वर्ण मृग का रूप धारण कर राम को दूर ले जाता है और रावण राम का रूप धारण कर सीता के पास पहुँचता है और कहता है कि मैंने मृग को महल भेज दिया है और उनको पालकी पर चढ़ने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव में पुष्पक है जो सीता को लंका ले जाती है। रावण सीता का स्पर्श नहीं

---

१. पउमचरिउ—३६-३८ सर्ग

२. ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खण्ड अध्याय ६२

करता क्योंकि उसे पतिव्रता के स्पर्श से उसकी आकाश गामिनी विद्या के नष्ट हो जाने का भय था।[1]

पुष्पदंत के महापुराण का प्रणयन भी इसी आधार पर हुआ है लेकिन उसमें सरसता और रोचकता है। इसमें मारीच मंत्री कनक-मृग का रूप धारण करता है। उस समय उसका मानसिक मंथन हिन्दू रामायणों के अनुरूप है। उत्तरपुराण में राम कनक-मृग को माया-मृग समझकर उसका अनुसरण करते हैं और महापुराण में उसका कारण सीता का मनःप्रसादन बताया गया है। उत्तर-पुराण में रावण मृग को लेकर नहीं जाता। यहां उसके हाथ में मृत मृग है।[2] आश्चर्य-चूडामणि में राम और लक्ष्मण दोनों ही मृग के पीछे चले जाते हैं। रावण और उसका सारथी उन दोनों का रूप धारण कर सीता के पास पहुंचते हैं। रथ को दिखलाकर लक्ष्मण (सारथी) राम (रावण) से कहते हैं कि भरत का राज्य संकट में है। उनकी सहायतार्थ आपको लाने हेतु तपस्वियों ने यह रथ भेजा है। अनंतर तीनों रथ पर चढ़कर चले जाते हैं। उधर शूर्पणखा सीता के वेश में राम के साथ बातचीत कर रही है तथा मारीच राम के वेश में लक्ष्मण के साथ।

निष्कर्ष—उत्तरपुराण का सीताहरण प्रकरण वात्सायन कामसूत्र के व्यावहारिक रूप पर खड़ा किया गया है। इससे जीवन का व्यावहारिक रूप भी प्रत्यक्ष हुआ है और अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा भी अक्षुण्ण रही है। समग्र प्रकरण राजकीय संदर्भ से आच्छादित है। इसके संचार में शौर्य और सौंदर्य की मूल वृत्तियां सजग दिखलायी पड़ती हैं। सर्वत्र विद्याओं का अद्भुत रंग है लेकिन रसाभास नहीं है। अतः उत्तरपुराण की प्रबंधयोजना अधिक नाटकीय और व्यावहारिक है। इसका वातावरण भी सर्वत्र उदात्त है और काव्यमय है। ●●

---

१. उत्तर पुराण (ज्ञानपीठ संस्करण) पृ० २८५-२९३
२. महापुराण-७१-७२ परिच्छेद

मनुष्य जब मरने पर उतारू हो जाता है तब क्या वह इस बात का विचार करने बैठता है कि विष कड़ुवा है या मीठा ?

× × × ×

आदमी का मन आश्चर्यपूर्ण है। किस बात से वह क्या तय कर लेगा सो कुछ कहा नहीं जा सकता।

आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में भारतीय समाज

डा० जयशंकर मिश्र एम. ए. पी. एच. डी.

कलिकाल सर्वज्ञ जैन आचार्य हेमचन्द्र (जन्म वि० सं० ११५, मृत्यु वि० सं० १२२९) अपने युग के प्रकांड पंडित और अप्रतिम विद्वान् थे। १२ वीं सदी के भारतीय साहित्य और संस्कृति के वे एकमात्र प्रतिनिधि थे। साहित्य और भाषाशास्त्र के विभिन्न विषयों के अतिरिक्त तर्कशास्त्र मीमांसा और इतिहास-संस्कृति के भी समान विचारक थे। चौलुक्य नरेश जयसिंह, सिद्धराज और कुमारपाल की राज्यसभा के ये अग्रणी और सर्वश्रेष्ठ साहित्यक थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं पर इनका समान अधिकार था अतः इन्होंने विभिन्न विषयों पर विभिन्न भाषाओं में रचना की। प्राकृत द्वयाश्रय और कुमारपालचरित, सिद्धहेमशब्दानुशान, छन्दोनुशासन, लिंगानुशासन, उणादिगणसूत्र, देशीनाममाला, अभिधानचिन्तामणि, त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, योगशास्त्र, प्रमाणमीमांसा, अनेकार्थ संग्रह आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने साहित्य के विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं पर नए सिरे से विचार तो किया ही है, साथ ही तत्कालीन भारतीय समाज पर भी अपनी दृष्टि से यत्र-तत्र प्रकाश डाला है, जो तत्कालीन समाज-चित्रण की नवीन उपलब्धि है। आज तक हेमचन्द्र के भारतीय समाज-संबंधी विवरण उपेक्षित से रहे हैं। यहां तक कि, डा० ए० के० मजुमदार ने अपने 'चौलुक्याज आव् गुजरात' ग्रंथ में, इस संबंध में, कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। प्रस्तुत निबन्ध में तत्संबंधी उल्लेखों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा रहा है।

वर्ण-व्यवस्था

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व प्राचीनतम है। ये वर्ण चार थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।[1] आचार्य हेमचन्द्र के समय में भी

नोट—पूर्वमध्ययुगीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक अवस्था का अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में लिखे गए तत्कालीन साहित्यिक ग्रंथों और विदेशी यात्रियों के विवरणों के मूल का अध्ययन कर—प्रोफेसर डा० बुद्ध प्रकाश (अध्यक्ष, इतिहास विभाग, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग, डायरेक्टर इंस्टीट्यूट आव इंडिक स्टडीज तथा डीन फैकल्टी अव् आर्टस् कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, पंजाब) ने सर्व प्रथम सम्यक्रूपेण विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जो पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ से रिसर्च बुलेटिन के स्वतन्त्र पुस्तक रूप में Some Aspect of Indian Cul in the Eve of muslim Invasions "शीर्षक से प्रकाशित है। उन्होंने अनेक ऐसे ग्रंथों का उपयोग किया है जिन्हें इतिहासकारों ने अबतक उपेक्षित रखा था। उन ग्रंथों के उपयोग से विद्वान इतिहासकार ने तत्कालीन समाज पर नवीन प्रकाश डाला है जिससे तद्युगीन समाज पर विचार करने की प्रेरणा मिलती है तथा तत्त इतिहास के, एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होती है। प्रस्तुत निबन्ध में उक्त पुस्तक से अनेक स्थलों पर सहायता ली गई है।

१. शतपथ ब्राह्मण, ५, ५, ४९, निरुक्त ३ ८, "अपण्णक जातक" भदंत आनन्द कौशल्यायन, प्रथम खंड, पृ० १३६, १९४१ पाणिनिः ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातः २।२।३४ वा०)

चार वर्ण थे।[१] इनका कथन है कि चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं।[२] हेमचन्द्र के समय से कुछ पूर्व भारत की यात्रा करने वाले अरब लेखक अलबीरुनी[३] (मृत्यु १०४८ ई०) ने भारत के इन्हीं चार वर्णों का उल्लेख किया है।[४] वस्तुतः ये चार वर्ण प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। इस वर्णव्यवस्था का प्रेरक तत्व निश्चय ही व्यक्ति का व्यवसाय और कर्म ही था, जिस पर समाज-विश्लेषकों की दृष्टि थी। प्राचीन काल से चार वर्णों में विभाजित भारतीय जाति मध्ययुग में भी तदनुरूप ही थी। यद्यपि वर्ण-विभाजन में जन्मगत आधार का बीज "कुल" और 'वंश' नाम से आ गया था, तथापि वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति के व्यवसाय और कर्म का महत्व अपेक्षाकृत अधिक था।[५]

ब्राह्मण

हिन्दूसमाज में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वप्रमुख थी। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सभी पक्षों में उनकी प्रधानता मान्य थी। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से मानी है।[६] कदाचित् इसी कारण इनकी मर्यादापूर्ण सर्वोच्चता हिन्दू समाज में थी। आचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि ब्राह्मण ब्रह्मा की संतान हैं।[७] यहां "ब्रह्मा" से उनका तात्पर्य हिन्दुओं के पौराणिक 'ब्रह्मा' से नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक गुण-संपत्ति युक्त और सद्चरित्रता से विभूषित व्यक्ति "ब्रह्मा" के नाम से संबोधित किया गया है। अतः "ब्राह्मण" शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता था।[८] हेमचन्द्र का दृढ़ मत है कि जो ब्राह्मण सद्चरित्रता, मननशीलता आदि गुणों से रहित है तथा अपने मौलिक कर्तव्यों को त्याग कर "आयुधजीवी" (अर्थात् अस्त्र-शस्त्र से जीविकोपार्जन करता है) हो जाता है, वह मात्र नाम का ही ब्राह्मण होता है।[९] ब्राह्मणों के अन्य पर्यायवाची नामों में उन्होंने "षट्कर्मा नाम भी दिया है।[१०] शुक्र के अनुसार जो ज्ञान, कर्म, देवता आदि की उपासना देवता के आराधन में तत्पर, शांत, दांत और दयालु था, वही ब्राह्मण था।[११] "षट्कर्मों में ये कर्त्तव्य थे। १–वेद पढ़ना, २–वेद पढ़ाना, ३–यज्ञ करना ४–यज्ञ कराना, ५–दान लेना, और ६–दान

१. चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वण्यंम् सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।२।१६४।

२. "चातुवर्ण्य द्विजक्षत्रवैश्यशूद्र नृणा भिदः" अभिधान चिन्तामणि, ३।८०७।

३. "अलबीरूनी का भारत प्रवास और भ्रमण"—काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, अंक १, सं० २०१८, पृ० ६८–७८

४, तहकीक-मालिल्-हिंद, पृ० ५० (अनुवादक, संखाउ अलबीरूनीज इंडिया)

५. "पूर्वमध्ययुगीन भारतीय वर्णव्यवस्था", बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी जर्नल वर्ष ८, अंक १, पृ० २२३–३४, ६२

६. महा०, शांति०, ७२. १७-१८; ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तमाः।
पादोरुपक्षः स्थलता मुखतश्च समुद्गताः॥ विष्णुपुराण, १.६.६।

७. "ब्राह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः, सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।४।५८।

८. अभिधान चिन्तामणि, ६, १४१६, लिंगानुशासन, पृ० १४२, पंक्ति २०।

९, ब्राह्मणनाम्नि–"यत्रायुधजीविनः काण्डस्पष्टा नाम ब्राह्मणाः भवन्ति। आयुधजीवो ब्राह्मण एव ब्राह्मणक इत्यन्य। सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।१।१८४

१०. "अवदानं कर्म शुद्धं, ब्राह्मणस्तु त्रयीमुखः। भूदेवो वाडवो विप्रो द्वयग्राम्यां जाति-जन्मजाः
वर्णज्येष्ठः सूत्रकण्ठः षटकर्मा मुखसम्भवः अभिधान चिन्तामणि, ३, ८११–११।

११. ज्ञान कर्मोपासनाभिर्देवताराधनेरतः। शांतोदांतोदयालुश्च ब्राह्मणश्चगुणैः कृतः॥ शुक्र० ४।

देना।[1] अलबीरूनी ने भी ब्राह्मणों के कुछ इसी प्रकार के कार्यों का निर्देश किया है। वह लिखता है कि ब्राह्मण के संपूर्ण जीवन में पुण्य के कार्य, दान देना है। वह निरन्तर पढ़े, यज्ञ करे [2] तथा वेद को पढ़ाए।[3] शुक्र का यह विकल्प है कि ब्राह्मण दांत (जितेन्द्रिय), कुलीन, मध्यस्थ (समबुद्धि), अनुद्वेगकारी (कोमल वचन) अटल, परलोक से भीरु (डरनेवाला), धार्मिक, उद्योगी और क्रोधरहित हो।[4] हेमचन्द्र ने ब्रह्मतेज उन्हीं ब्राह्मणों में वर्तमान बताया है, जिनमें आध्यात्मिक बल है।[5] अतः यह निर्विवादरूप से कहा जा सकता है कि समाज में ब्राह्मणों से सद्आचारण सद्व्यवहार, सद्वृत्ति और सद्भाव से निवास करने की अपेक्षा की जाती थी। "सभाशृंगार" नामक ग्रंथ में ब्राह्मणों के लिए यह निर्देश किया गया है कि जो धोती और उत्तरीय धारण करे, सिर भद्र रखे तथा शिखा फहराए, भाल पर तिलक लगाए, गायत्री मंत्र का जप करे, दिन में तीन बार संध्या करे, प्रातः स्नान करे, वेद पढ़े, वेदान्त का ज्ञाता हो, सिद्धांत पर चर्चा करे, देव, गुरु, ऋषि और मित्र का तर्पण करे, वही नैष्ठिक ब्राह्मण है।[6] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपरिलिखित निर्देशों के विपरीत चलने वाला प्रकृततः ब्राह्मणों की श्रेणी में नहीं आता था। ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र के काल में ब्राह्मण अपने स्वाभाविक कर्त्तव्यों से विमुख होने लगे थे तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में रुचि लेने लगे थे, इसी लिए हेमचन्द्र ने उन्हें केवल नाम का ब्राह्मण कहा है और उनके ब्राह्मणेतर कर्त्तव्यों की भर्त्सना की है। हेमचन्द्र स्वयं कहते हैं कि कलिंग में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा नहीं है।[7] इस अप्रतिष्ठा का कारण अपने कर्तव्यों से च्युत होना तो है ही, साथ ही उनकी वैमनस्यता भी है।[8] वे एक दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति द्वेष-भाव रखते थे, क्योंकि हेमचन्द्र ने 'ब्राह्मणश्रमणम्' का उदाहरण देकर उनके मनोमालिन्य का संकेत किया है।

ब्राह्मणों को प्राचीनकाल से कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, जो राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और बौद्धिक सभी प्रकार के थे। इस युग में भी ब्राह्मणों को ऐसी सुविधाएं प्राप्त थीं, जिससे वे समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते

१. अध्यापनमध्ययनं यजन याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहंचैव ब्राह्मणानामकल्पयत॥ मनु० १.८८।

२. तहकीकमालिल्हिंद, पृ० २६१।

३. वही, पृ० २७०।

४. दांतं कुलीनंमध्यस्थमनुद्वेगकारस्थिरम्।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठामुद्युक्तक्रोधवर्जितम्॥ शुक्र० ४.४३६।

५. सूत्र – 'ब्रम्हावर्चसम' – सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।३।८३।

६. उत्तरासंग धोती, सऊतरिऊ जनोइ, हाथि प्रबीती,
सिरु भद्रियउं, सिखा फरहरती, तिलकु बधारियउ,
गात्री सारु, त्रिकाल संध्याराधनु, प्रभात स्नानु. नित्यदानु।
वेद पढ़ाई, वेदान्त जाणइ, सिद्धांत बखाणइ,
देव तर्पणु, गुरु तर्पणु, ऋषि तर्पणु, पितृ तर्पणु,
इसउनैष्टिकु ब्राह्मणु। 'सभाशृङ्गार' शब्दानुशासन का० ना० प्र० सभा, पृ० १४८।

७. "न कलिंगेषु ब्राह्मण महत्तमम् सिद्धहेमशब्दानुशासन, ५।२।११।

८. "नित्यवैरस्य", वही, ३।१।१४१।

थे। प्रोफेसर डाक्टर बुद्ध प्रकाश ने आचार्य हेमचंद्र का उद्धरण देते हुए ब्राह्मणों की विशेष सुविधाओं प्राणदंड, शारीरिक दंड आदि की समीक्षा की है।'[१]

ब्राह्मणों को आपत्तिकाल में जब कर्तव्य से च्युत होना पड़ता था, तब उन्हें पोषण के लिए ब्राह्मणेतर व्यवसाय अपनाना पड़ता था। इस तरह के आपत्तिकालिक कर्मों का निर्देश भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने किया है। ऐसी अवस्था में इतर कर्म को ग्रहण करने वाला ब्राह्मण केवल नाम का ब्राह्मण होता था, कर्म से वह ब्राह्मण नहीं होता था। आपत्तिकाल में ब्राह्मण 'आयुधजीवी',[२] 'व्यापारोपजीवी'[3] तथा 'व्याजोपजीवी' हो सकता था।[४] किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने ब्राह्मणों का इतर कर्म निंद्य माना है और सामाजिक दृष्टि से अनुचित निर्दिष्ट किया है। उनका मत है कि जो ब्राह्मण सोम का विक्रय करता है, घी का विक्रय करता है तथा तेल का विक्रय करता है वह निंदनीय है।[५] निश्चय ही आचार्य हेमचंद्र का विचार ब्राह्मणों के प्रति तटस्थ-सा है। उनके विचार से प्रत्येक वर्ण को अपना कर्म करना चाहिए। किन्तु इसी युग के कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण विभिन्न कर्मों को करते थे। ब्राह्मण मंत्री होते थे,[६] नगर प्रमुख होते थे,[७] दंडनायक होते थे,[८] मूर्तिकार होते थे,[९] अभिलेखों के रचयिता होते थे।[१०] वे राष्ट्र और राजा की रक्षा अपनी सलाह देकर करते थे।[११] विक्रम संवत् १२१३ के कुमारपाल के नाडौल अभिलेख में उसके मंत्री का नाम वहड़देव लिखा है, जो संभवतः उसके प्रारंभिक राज्यकाल में उदयन का पुत्र था। वह दंडाधिपति के साथ-साथ महामात्य भी था।[१२]

हेमचंद्र ने विभिन्न प्रदेशों के ब्राह्मणों के लिए उस प्रदेश के नाम के साथ उनको संबोधित किया है, जैसे सौराष्ट्र में निवास करने वाले ब्राह्मण 'सौराष्ट्रिक' अथवा 'सुराष्ट्र ब्राह्मण' कहे जाते थे, अवंति में निवास करने वाले 'अवंति ब्राह्मण' से जाने जाते थे तथा काशी देश में बसने वाले 'काशी ब्राह्मण' से अभिहित थे।[13] 'पांचाल ब्राह्मणों

---

१. Buddha Prakash : Some Aspects of Indian Culture on the Eve of Muslim Invasions, P. 39.
२. EI., II, 301.
३. मनु० १०. ८६।
४. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकांड, २१४-२१।
५. शब्दानुशासन, ५। ६। १५६।
६. राजतरंगिणी, ८, १०८, BI., 3,32; IHQ., XV, p. 581.
७, राजतरंगिणी, ७. १०८।
८. EI., II, 301,
९. बकुलस्वामी (गिरनार अभिलेख, RLARBP., 322)
१०. कमोली प्लेट में मनोरथ, EI., II, 394; सोमेश्वर गुजरात में EI. I, 31; चालुक्य भीम द्वितीय के अन्तर्गत माधव EI., XV, 57.
११. EI., I, p. 293.
१२. रासमाला, अध्याय १३, पृ० २३१।
१३, सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रः यः सुराष्ट्रे वसति स सौराष्ट्रिको ब्राह्मण इत्यर्थः एवमवन्ति ब्राह्मणः काशि ब्राह्मणः-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।३।१०७।

का भी उल्लेख हेमचंद्र ने किया। है[१] अतः हेमचंद्र द्वारा दिए गए, विभिन्न प्रदेशों के ब्राह्मणों के इन उल्लेखों से उनकी व्यापकता और उनका विस्तार प्रकट होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि उन प्रदेशों के ब्राह्मणों का समाज में उत्कृष्ट स्थान था।

क्षत्रिय

राजनीतिक दृष्टि से क्षत्रियों का महत्व हिंदू समाज में प्रमुख था। समाज के परिपोषण और रक्षण में उनका अभूतपूर्व योग था। देश और जनता की व्यवस्था का रक्षात्मक और निर्देशात्मक भार क्षत्रिय समुदाय पर था। मध्यकाल में ही नहीं, प्राचीनकाल में भी जब-जब देश पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ, क्षत्रियों ने एकनिष्ठता और साहस के साथ देश और प्रजा की रक्षा की। अतः शूरता और वीरता की दृष्टि से क्षत्रियों का मान समाज में ब्राह्मणों की अपेक्षा कम नहीं था। नवीं शती के अरबी लेखक इब्नखुर्दाज्बा ने लिखा है कि क्षत्रियों के संमुख सभी सिर झुकाते हैं, लेकिन वे किसी को सिर नहीं झुकाते।[२] इस कथन से इतना स्पष्ट है कि उनका समाज में आदरात्मक स्थान था।

हेमचंद्र ने 'क्षत्रिय' शब्द को' क्षत्र 'शब्द से व्युत्पन्न 'इय' प्रत्यय के साथ जाति अर्थ में प्रयुक्त होना बताया।[३] किंतु लक्ष्मीधर ने 'क्षत्रिय' शब्द को 'क्षत्रात्त्राणम' से निःसृत माना है।[४] 'क्षतात्त्राणम', अर्थात् उनका कर्म था अन्य तीन वर्णों के लोगों की हानि अथवा भय से रक्षा करना। हेमचंद्र ने 'क्षत्रिय' और 'राजन्' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि क्षत्रिय जाति के अभिषिक्त व्यक्ति 'राजन्य' के नाम से अभिहित थे और क्षत्रियेतर जाति के प्रशासक व्यक्ति 'राजनृय' के नाम से संबोधित किए जाते थे।[५] यही नहीं, हेमचंद्र ने संघीय शासन में भाग लेने के अधिकारी 'क्षत्रिय' कुल के व्यक्तियों को भी 'राजन्य' नाम दिया है।[६] अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि क्षत्रिय वर्ण के अंतर्गत 'राजन्' और 'राजन्य' दोनों आते थे।

कर्म की दृष्टि से क्षत्रियों का कर्म अत्यंत महत्वपूर्ण था। शुक्र के अनुसार जो लोक की रक्षा करने में दक्ष, वीर, दांत, पराक्रमी और दुष्टों को दंड देने वाला हो, वही क्षत्रिय है।[७] आचार्य हेमचन्द्र ने क्षत्रियों की "शूरता" को ही "पुरुषार्थ" माना है।[८] ऐसा लगता है हेमचन्द्र ने क्षत्रियों के "पुरुषार्थ" के अंतर्गत सभी कर्मों को निहित कर लिया। हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती सम्राट् भोज की यह व्यवस्था है कि "जो वीर, उत्साही शरण देने और रक्षा करने में समर्थ, दृढ़ और विशाल शरीर वाले थे, वे संसार में क्षत्रिय हुए। उनका काम ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट कार्यों के अतिरिक्त विक्रम, प्रजा की रक्षा, उनके भाग आदि का प्रबन्ध और व्यवस्था

---

१. पंचालस्य ब्राह्मणस्य राजा पांचाल. पंचालस्य ब्राह्मणस्यापत्यं वा पांचालः वही, ६।१ ११४
२. किताबुल-मसालिक-वल् ममालिक, पृ० ७१, लीडन, १८८६।
३. 'क्षत्रादियः 'क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६। १। ६३ ।
४. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ०, पृ० २५२।
५. 'जातौ राज्ञः—' 'राजन् शब्दादपत्ये जातौ गम्यमानायां यः प्रत्ययो भवति, यथा—राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत्। राजनोऽन्यः।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।१।६२।
६. 'राजन्यादिभ्योऽकञ्'—वही, ६।२।६६॥
७. शुक्र०, १.४१।
८. 'क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु वा शूरतम् '—सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।२। १०६।

करना था।[1] अतः हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट "क्षत्रिय" वर्ग के पुरुषार्थ का भाष्य भोज के उपरिलिखित कथन से भले प्रकार हो जाता है। एक स्थल पर आचार्य हेमचन्द्र ने क्षत्रियों के पांच नाम दिए हैं, जो इस प्रकार हैं— "क्षत्रम्, क्षत्रिय, राजा, राजन्य और बाहु संभव।[2] लेकिन इतना अवश्य है कि क्षत्रिय वर्ग का मुख्य कार्य प्रजा और शासन की देखभाल करना था। इस सम्बन्ध में अरबयात्री अलबीरूनी का कथन युक्तियुक्त है :— "क्षत्रीय वेद को पढ़ता है पढ़ाता नहीं। वह यज्ञ करता है, पुराणों के नियमानुसार आचरण करता है। वह प्रजा पर शासन करता है और उनकी रक्षा करता है। क्योंकि वह इसी निमित्त पैदा किया गया है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले क्षत्रियों को प्रदेश नाम के साथ जोड़ कर नवीन नाम दिया है। उनके अनुसार मगध में "मागध जाति" के क्षत्रिय वास करते थे।[4] इसी प्रकार यौधेय, मालव, पांचाल आदि जाति के क्षत्रिय उस प्रदेश में बसते थे। हेमचन्द्र ने "इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रियों को "आदि क्षत्रिय" माना है।[5] भोज परमार के नाम पर मालवा के परमार क्षत्रियों को इन्होंने 'भोजवंशजा' माना है।[6] किन्तु, 'सभाश्रृंगार' नामक ग्रंथ से राजपूत क्षत्रियों के छत्तीस वर्ग मिलते हैं। जो इस प्रकार हैं : "परमार, राठौर, चौहाण, (चौहान या चाहमान), गहिलोत (गिहलोत) दहिया, सेरणवा, बोरी, बगछा, सोलंकी, सीसोदिया, खेरमारी, नाकुंभ, गोहिल, चावड़ा, झाला. छूर, कागवा, जेठवा, रोहर, वस, बोरड़. खीची, खरवड़, डोडिया, हरिमड़, डाभी, तंअर, कोरड़, गौड, मकवाड़ा, यादव, कछवाहा, भाटी, सोनिगरा, देवड़ा, चंद्रावत।[7] ये छत्तीस, राजकुल थे जो भारत के विभिन्न प्रदेशों में निवास करते थे।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के समय क्षत्रियों का प्रधान कर्म पूर्व-निर्दिष्ट था तथा देश के विभिन्न भागों में वास करने से उनके विभिन्न नाम हो गए थे, जो कालांतर में आकर अनेक श्रेणियों में हो गए तथा उसी प्रकार उनके नाम भी परिवर्तित हो गए।

वैश्य

भारतीय समाज में राष्ट्र की अर्थ-नीति व्यापार-प्रणाली का सर्वथा भार वैश्यों के हाथ था। देश और समाज की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ और सुसंगठित बनाने के लिए वैश्य वर्ग को नियोजित

---

१. येतु शुरा महोत्साहाः शरण्या रक्षण क्षमाः ।। दृढ़व्यायत देहाश्च क्षत्रियास्तु इहाभवन् ।
विक्रमोलोकसरक्षा विभागो व्यवसायिता ।। समरांगणसूत्रधार, ७. ११-१२।

२. 'क्षत्रं तु क्षत्रियों राजा, राजन्यो वाहुसंभवः' ।। अभिधानचिन्तामणि, ३. ८६३।

३. तहकीक-मालि-हिंद, पृ० २७४।

४. 'मगधानां राजा, मगधस्यापत्यं वा मागधः—' सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।१।११६।

५. 'इक्ष्वाकुः आदि क्षत्रियः'—उणादिसूत्रवृत्ति, ७५६।

६. 'भोज्या-भोजवंशजा क्षत्रियाः'—सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।४।८१।

७. सभाश्रृंगार, पृ० १४६।

नोटः—कल्हण ने अपनी "राजतरंगिणी" (७.१६१७) में भी राजपूतों के ३६ कुलों का निर्देश किया हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि ये 'कुल' १२ वीं सदी के बहुत पहले सर्वविदित थे।

किया गया था। अतः राष्ट्र के आर्थिक व्यवहार का संचालन वैश्य करते थे।

आचार्य हेमचन्द्र ने "वैश्य" के लिए "अर्य" शब्द का प्रयोग किया हैं।[१] उनका यह शब्द प्रयोग पाणिनि के आधार पर है। पाणिनि ने भी "वैश्य" के लिए "अर्य" व्यवहृत किया है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने पाणिनि के तत्संबंधी सूत्र को थोड़े परिवर्तन के साथ गृहीत कर लिया। हेमचन्द्र ने वैश्यों के छः नाम दिए हैं। "अर्या, भूमिस्पर्शाः, वैश्या, ऊरव्या ऊरुजाः और विशः।[३] इस प्रकार स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के काल तक वैश्यों के लिए उपरिलिखित छहों नाम प्रचलित थे।

वैश्यों का प्रमुख कार्य था, पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, ब्याज लेना और खेती करना।[४] इस सम्बन्ध में हेमचन्द्र का कथन है कि वाणिज्य, पशुपालन और कृषि वैश्यों की प्रधान वृत्तियां हैं।[५] उन्होंने इनके छह आजीविका का भी निर्देश किया है, जो इस प्रकार है 'आजीव, जीवनम, वार्त्ता, जीविका, वृत्ति और वेतन।[६] अलबीरूनी का कथन है कि वैश्य का धर्म है कि खेती करे, भूमि को जोते, पशु पाले और ब्राह्मणों की आवश्यकता को पूरी करे।[७] वैश्यों के व्यापार करने का निर्देश अलबीरूनी ने नहीं किया है। अलबीरूनी के पूर्ववर्ती अरबलेखक इब्नखुर्दाज्बा ने वैश्यों को कारीगर और घर–गृहस्थी के कार्यों में निपुण बताया है।[८] हेमचन्द्र से कुछ ही पहले होने वाले अरबलेखक अल-इदरीसी ने वैश्यों को कला-कौशल में निपुण तथा मिस्त्री निर्दिष्ट किया है।[९] अतः स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र के काल तक आते-आते वैश्यों के कर्मों में काफी परिवर्तन होता गया। केवल व्यावसायिक कार्य से ही वे सम्बद्ध थे।

हेमचन्द्र ने व्यापार करने वाले वैश्यों को आठ प्रकार का बतलाया है : "वाणिजः, वणिक, क्रयविक्रयिक, पण्याजीवी, आपणिक, नैगमः, क्रयिक, और क्रयी।[१०] वस्तुएं खरीदने वालों को उन्होंने तीन नाम दिए हैं, क्रायक, क्रयिक और क्रयी।[११] इसी तरह तीन नाम वस्तुएं बेचने वाले को भी दिए हैं : विक्रायक, विक्रयिक और विक्रयी[१२]।

---

१. 'स्वामिवैश्येऽर्यः'—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ५। १। ३३।
२. अर्यः स्वामि वैश्ययो – पाणिनि०, ३. १०. १०३।
३. "अर्या भूमिस्पर्शो वैश्या, ऊरव्या ऊरुजा विशः'—अभिधान चिन्तामणि, ३. ८६४।
४. मनु० १६०. कौ० अ०, १.३७, शुक्र० १.४२।
५. "वाणिज्यं पाशुपाल्यं च, कर्षणं चेति वृत्तयः। "अभिधान चिन्तामणि, ३.८६४।
६. 'आजीवो जीवनं वार्त्ता, जीविका वृत्ति वेतन–वही, ३. ८६५।
७. तहकीक–मालिल्-हिंद, पृ० २७१।
८. E., Vol. II, p. 16.
९. Ibid., p. 76.
१०. 'सत्यानृतं तु वाणिज्यं वाणिज्या वणिजो वणिक।
क्रयविक्रयिकः पण्याजीवाऽऽपणिकनैगमाः॥ अभिधानचिन्तामणि, ३.८६७।
११. वही ३. ८६८।
१२. वही।

डा० अल्तेकर [1] और धुर्ये [2] का मत है कि वैश्य कालान्तर में शूद्र की स्थिति तक आ गए। किन्तु हेमचन्द्र के उपरिलिखित विवरण के विवेचन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मध्य-काल में वैश्यों की स्थिति शूद्रों के समानान्तर नहीं थी, बल्कि प्राचीन काल से उनका जो स्थान समाज में था, वह अब भी था। अंतर केवल एक बात का था, वह यह कि उनको प्राचीन काल में जो अधिकार वेद पढ़ने का था, वह इस काल में सम्भवतः आबद्ध सा हो गया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी अवस्था शूद्रों के समकक्ष थी। भारतीय ग्राम विभिन्न जाति के लोगों के आवास से सर्वथा परिपूर्ण होते थे। ग्राम अथवा शहर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले सभी व्यवसाय के लोग उसमें रहते थे जिसमें केवल वैश्य और शूद्र ही नहीं ब्राह्मण और क्षत्रिय भी शामिल थे। अतः वैश्य कालान्तर में शूद्रों के स्तर तक आ गए। युक्तिसंगत नहीं। "सभाशृंगार" के एक वर्णन से विदित होता है कि नगर में अनेक व्यवसायों को करने वाले तथा सभी वर्ण के लोग निवास करते थे—

तथा महासार्थवाह, इम्य श्रेष्टि, व्यवहारिक, दौपिक, नैस्तिक; प्रमुख अस्तोक, कवि अएलोक; तथा सुवर्णकार, कांस्यकार, दंतकार, लोहकार, शिल्पकार; रथकार, सूत्रधार, सूपकार, चित्रकार, कुंभकार, मालाकार रूप प्रमुख बसइं; नगर ज्ञातीय, श्रीमालज्ञातीय, डीडवाल, सडेरवाल, जालंधरीय, सत्यपुरीय, प्रमुख ब्राह्मण; सोमवंशीय, सूर्यवंशीय. हरिवंशीय उग्रकुली, भोगकुली, सोलंकीय गुहिल्ल, उच्च, परमार, प्रतिहार, चौलुक्य, सकल प्रमुख क्षत्रिय; शिल्पकार, स्वर्णकार, प्रमुख वैश्य वर्ण; प्रमुख, सौद्र।"[3]

इस वर्णन से वैश्यों की निम्नता नहीं झलकती है। ग्राम अथवा नगर में ये एक साथ रहते थे और अपने व्यवसाय का पालन करते थे। वस्तुतः वैश्यों के स्तर के सम्बन्ध में डा० अल्तेकर और डा० धुर्ये का कथन युक्तियुक्त नहीं। आचार्य हेमचन्द्र का कथन ही वैश्यों के व्यवसाय और उनकी स्थिति का सर्व प्रकारेण प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी संपुष्टि "सभाशृंगार" के उपर्युक्त वर्णन से होती है।

शूद्र

भारतीय सामाजिक आचार-विचार और व्यवहार-क्रम में शूद्रों का स्थान अन्य वर्णों की तुलना में चौथा स्थान था। समाज के अन्य वर्णों के कर्मों और अधिकारों की अपेक्षा इनके अधिकार और कर्म सीमित थे। न उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार था, न व्यापार करने का। समाज की सर्वविधिपूर्वक सेवा करना ही उनका मुख्य कर्म था। ईश्वर की ओर से शूद्र का एकमात्र कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तीनों वर्ण की सुश्रुषा करना ही प्राचीन धर्म शास्त्रों में बताया गया है। [4]

हेमचन्द्र ने दो प्रकार के शूद्र [5] बतलाए हैं, एक आर्यावर्त में रहने वाले और दूसरे आर्यावर्त के बाहर रहने वाले। आर्यावर्त में रहने वाले शूद्रों

१. The Rashtrakutas and their Times, pp. 332-33.

२. Caste and class in India, pp. 57,64, 88, 96.

३. सभाशृंगार, पृ० ११।

४. एकमेवतु, शूद्रस्या प्रभुः कर्मसमादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ मनु० २.९१, याज्ञ० ५१.२०, महा० शांति०, ७२.८।

५. 'पात्र्यशूद्रस्य'-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ३।१।४३।

के दो वर्ग थे, पात्र्या और अपात्र्या । जो शूद्र अभिजात्य वर्ग के बर्तनों में भोजन-पान कर सकते थे तथा मांजने से बर्तन शुद्ध हो जाते थे,[१] वे पात्र्या नाम से संबोधित किए गए। और जो शूद्र इस योग्य नहीं थे वे अपात्र्या कहे गए। शूद्रों के विषय में सम्राट् भोज का विकल्प है कि 'अपने मान का ख्याल न करने वाले, पूर्ण रूप से पवित्र न रहने वाले, चुगलखोर और धर्म से विरत रहने वाले शूद्र जाति के अंतर्गत हुए। कौशल दिखाकर, मुख से विशेष प्रकार की आवाज निकाल कर, कारीगरी और पशु-पालन से जीविका चलाना तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-तीनों वर्णों की सेवा करना उनका प्रधान धर्म है।[२] भोज के इस कथन से स्पष्ट होता है कि जो शूद्र मानी और पवित्र थे तथा धर्म-पालन करते थे, वे शूद्र वर्ग से ऊंचे रहते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस पर विचार किया है। उनका यह दृढ़ मत है कि शीलवान व्यक्ति ही 'आर्य' है।[3] जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चरित्र रखता है, वही आर्य है।[४] इस प्रकार शूद्र भी इन्हीं गुणों को रखकर 'आर्य' हो सकते थे। अगर ऐतिहासिक तथ्यों को देखा जाय तो आचार्य हेमचन्द्र का कथन सर्वांशतः खरा उतरता है। गिरि-पश्चिम शासन के दुर्जय परिवार और वेलनांडु के प्रधान, महामंडलेश्वर पद तक पहुँच गए थे, जो शूद्र थे।[५] यद्यपि डा० घोषाल का यह मत है कि इस काल (१००० ई० से १३०० ई०) की कृतियां और टीकाएं शूद्रों के व्यवसाय और स्तर के सम्बन्ध में पुराकालीन स्मृतियों का अनुसरण करती है।[६] परन्तु यह कथन पूर्णतः एकांगी है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर डा० बुद्ध प्रकाश ने लक्ष्मीधर का उद्धरण देते हुए इस मत की स्थापना की है कि शुद्ध मस्तिष्क वाला (अथवा सद्चरित्र) शूद्र, भ्रष्ट ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य से अच्छा था।[७] निश्चय ही इस युग के लेखकों ने पुरानी लीक का अनुसरण न कर युग की मांग का समर्थन किया है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है आचार्य हेमचन्द्र और सम्राट् भोज का यह मत है कि शूद्र पवित्रता, धर्मानुसरण, ज्ञान, और दर्शन से 'आर्य' पद को प्राप्त कर सकता है।

---

१. "यैर्भुक्त पात्रं संस्कारेण शुद्धयति ते पात्रमर्हन्तीति पात्र्याः", वही, ३।१।१४३ ।

२. नातिमानभृतो नाति शुचयः पिशुनाश्च ये ।
ते शूद्रजातयो जाता नाति धर्मरताश्चये ।
कलारम्भोपजीवित्वं शिल्पिता पशुपोषणम् ।
वर्णत्रितयशुश्रूषा धर्मस्तेषामुदाहृतः ।। समरांगणसूत्रधार, ७. १५ १६ ।

३. 'शीलमस्माकं स्वम्'-सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।१।२१ ।

४. 'अर्यति गुणान् आप्नोतीति आर्यः' । वही ।

५. Ganguly, D. C.: The Eastern Calukyas, p. 170

६. "The description of Sudra's occupation and Status in the comentaries and digests of this period followed the old Smriti lines."-The Struggle for Empire p. 475.

७ "Inspite of these caste-complexes, the position of the lower classes improved during this period. Laksmidhara held that a pure-minded Sudra was better than a notorious Brahmana, Ksatriya or Vaisya. Some Aspects of Indian Culture on the eve of Muslim Invasions। p. 39.

यही नहीं, मेधातिथि के काल में शूद्रों की सामाजिक स्थिति और उनका व्यवसाय सद्भावना की दृष्टि से देखा गया है। मेधातिथि और विश्वरूप दोनों ने यह आधार लिया है कि शूद्र न सेवक बनाए जा सकते हैं, न ब्राह्मण पर निर्भर किए जा सकते हैं। वे व्याकरण तथा अन्य विद्याओं के शिक्षक हो सकते हैं, स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी कृत्यों को सम्पन्न कर सकते हैं, जो अन्य वर्णों के लिए हैं। [१] अतः यह समीक्षा डा० घोषाल के मत का स्वयं खंडन कर देती है तथा मध्यकालीन शूद्रों की स्थिति और समाज में उनके स्थान की उच्चता दिग्दर्शित करती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कुम्हार, नापित, बढ़ई, लोहार, तन्तुवाय-बुनकर, रजक धोबी, तक्ष, अयस्कार, आदि वर्ग के लोगों को शूद्र के अंतर्गत माना है। [२] उनके अनुसार शूद्रों के छह नाम थे, शूद्र, अन्त्य वर्ण, वृषल, पद्यः, पज्जः और जघन्यज। [३] 'आभीर' जाति को हेमचन्द्र ने 'महाशूद्र' कहा है। [४] कात्यायन ने भी 'महाशूद्र' स्वीकार किया है। [५] इस प्रकार शूद्रों में भी महाशूद्र थे, जो सम्भवतः शक, हूण और यवन जैसी विदेशी जातियों के लोगों की तरह थे।

अन्य निम्न जातियां

इन चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में और भी अनेक जातियां थीं, जो इन वर्णों की अपेक्षा निम्न थीं, जिनका कार्य भी निम्न था [६] आचार्य हेमचन्द्र ने प्रधानतः तेरह जातियां बताई हैं, जो अनुलोम-प्रतिलोम के कारण बनी थीं, जिन्हें वे मिश्र जाति कहते हैं। [७] मिश्र जातियां ये थीं। "मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, पराशव, निषाद, माहिष्य, उग्र, करण, आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल, मागध, वैदेहक, सूत और रथकारक। ऐसी जातियों के विषय में अपरार्क का कथन है कि चांडाल, पुक्कस, भिल्ल, पारसी, महापातकियों से छू जाने पर सवस्त्र (सचैल) स्नान करे। [८] अतः इस कथन से स्पष्ट होता है कि ये जातियां अस्पृश्य थीं। आचार्य हेमचन्द्र ने "धोबी" को "शूद्र" के अंतर्गत रखा है जबकि संवर्त का कथन है कि कैवर्त (केवट या मल्लाह), मृगयु (मृग मारने वाला), व्याध (बहेलिया), शौनि (कसाई), शाकुनिक (चिड़ीमार) तथा रजक (धोबी) अस्पृश्य हैं। [९] अलबीरूनी ने इन अस्पृश्य जातियों के आठ वर्ग बताए हैं। धोबी, मोची, मदारी, टोकरी, और ढार बनाने वाले, माझी (नाविक) मछुआ (मछली मारने वाले), पशु-पक्षी हिंसक और बुनकर। वह

---

१. मेधातिथि–मनु० ३.६७, १२१, १५६, १०. १२७।
२. सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।१।१०२।
३. शूद्रोऽन्त्यवर्णो वृषलः पद्यःपज्जो जघन्यजः। अभिधानचिन्तामणि, ३. ८९४।
४. 'कथं महाशूद्रो–आभीजातिः नात्र शूद्र शब्दो जातिवांची कि र्तहि महाशूद्रशब्दः। यत्र तु शूद्र एव जातिवाची तत्र भवत्येव ङीनिषेधः। महती चासौ शूद्रा च महाशूद्रेति-सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।४।५४।
५. ४।१।४।
६. Some Aspects of Indian Culture on the Eve of Muslim Invasions, pp. 40, 111–17.
७. अभिधानचिंतामणि, ३. ८९४–९९।
८. अपरार्क, पृ० २९३।
९. सवत–वही, पृ० ११९६।

आगे कहता है कि हाड़ी, डोम, चांडाल और बधती निम्नतम कार्य करते हैं।[1]

हेमचन्द्र [2] ने इन जातियों की उत्पत्ति के विषय में प्रकाश डाला है, जिनसे यह विदित होता है कि ये जातियां कैसे उत्पन्न हुई।

१. **मूर्धावसिक्त** : जो व्यक्ति ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुआ, वह, "मूर्धावसिक्त" कहा गया।

२. **अम्बष्ठ** : वे थे जो ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से पैदा हुए थे।

३. **पराशव निषाद** : जो आदमी ब्राह्मण पुरुष शूद्र स्त्री के मिलन से उत्पन्न हुआ था, वह "पराशव निषाद" कहा गया।

४. **माहिष्य** : वर्ग के लोग वे थे जो क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न हुए थे।

५. उग्र : क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से जो उत्पन्न हुए वे "उग्र" कहलाए।

६. **करण** : वे थे जो वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से पैदा हुए थे।

७. **आयोग** : जो शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुए, वे आयोगव कहलाए।

८. **क्षत्ता** : जिनकी उत्पत्ति शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से हुई थी वे "क्षत्ता" कहे गए।

९. **चण्डाल** : शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से जिनका जन्म हुआ वे "चण्डाल" की श्रेणी में आए।[3]

१०. **मागध** : इनका जन्म वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से हुआ था, इस कारण इनका नाम "मागध" हुआ।

११. **वैदेहक**: जो व्यक्ति वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से पैदा हुए वे "वैदेहक" की श्रेणी में आए।

१२. **सूत** : इस नाम से वे लोग अभिहित हुए जो क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुए।

१३. **रथकारक** : जो व्यक्ति माहिष्य पुरुष (क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से जो उत्पन्न थे) और करणी स्त्री (जो स्त्री वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से पैदा हुई थी) से उत्पन्न हुआ हो, वह रथकारक कहा गया।

इस तरह आचार्य हेमचन्द्रका उपर्युक्त विवरण तत्कालीन समाज की नवीन उपलब्धि है तथा तद्युगीन समाज के स्वरूप को व्यक्त करने में नई दिशा प्रदान करता है।

---

१. तहकीक-मालिल्-हिंद, पृ० ५०।

२. क्षत्रियायां द्विजाद् मूर्धावसिक्तो विट्स्त्रियां पुनः ॥
अम्बष्ठोऽथ पारशवनिषादौ शूद्रयोषिति ।
क्षत्राद् माहिष्यो वैश्यायामुग्रस्तु वृषलस्त्रियम् ॥
वैश्यात् तु करणः शूद्रात् त्वायोगवो विशः स्त्रियाम् ।
क्षत्रियायां पुनः क्षत्ता, चण्डालो ब्राह्मणस्त्रियाम् ॥
वैश्यात् तु मागधः क्षत्र्यां वैदेहको द्विजस्त्रियाम् ।
सूतस्तु क्षत्रियाज्जत, इति द्वादश तद्भिदः ॥
माहिष्येण तु जातः स्यात्, करण्यां रथकारकः । अभिधानचिन्तामणि, ३.८९५–९६ ।

३. मनु के अनुसार भी चांडाल की उत्पत्ति शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता से हुई थी–
मनु० १०.१२ ।

अशनं मे वसनं मे, जाया मे बंधुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं, कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

अर्थ—यह मेरा भोजन है, यह मेरा कपड़ा है, यह मेरी स्त्री है, ये मेरी कुटुम्बी गण हैं; इस तरह मे मे करने वाले बकरे को काल (मौत) रूपी भेड़िया मार डालता है ।

अनुगन्तुं सतां वर्त्म, कृत्स्नं यदि शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं, मार्गस्थो नावसीदति ॥

यदि सज्जन पुरुषों के कार्यकलापों का पूर्ण रूप से अनुगमन नहीं कर सकते हो तो थोड़ा-थोड़ा ही करो क्यों कि रास्ते पर लगा हुवा मनुष्य एक न एक दिन अवश्य ही ठिकाने पहुंच जाता है, इधर-उधर भटकता नहीं ।

५वीं शती के प्राकृत ग्रन्थ वसुदेव हिन्डी की राम कथा

(सीता रावण की पुत्री थी, इसका सबसे प्राचीन प्रमाण)

• अगर चन्द नाहटा

भारतीय जन-मानस में वैसे तो अनेक देवी-देवताओं के प्रति आदर की भावना दिखाई देती है, पर उनमें से सबसे अधिक आदर लोक जीवन में जिन महापुरुषों के प्रति दिखाई देता है वे हैं, राम और कृष्ण। भारतीय जनता का सबसे पहला, झुकाव तो प्रकृति देवता सूर्य, अग्नि आदि के प्रति दिखाई देता है—फिर इन्द्र आदि देवों के प्रति। अन्त में मनुष्यों को ही उनके विशिष्ठ गुणों के कारण अवतार मानते हुये उनकी पूजा करने लगे। राम और कृष्ण तथा महावीर और बुद्ध ऐसे ही महापुरुष थे जिनकी लोक मानस पर गहरी छाप है। राम का चरित्र वास्तव में ही एक आदर्श रहा है अतः उनके चरित का जितना भी प्रचार हो, अच्छा ही है।

राम कथा को लेकर देश और विदेशों में इतने अधिक साहित्य का निर्माण हुवा है कि उन सबकी पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना बहुत कठिन है। डा० रेवरेंड फादर कामिल बुल्के ने इस सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण खोज की है। उससे—'राम कथा संबंधी साहित्य की यद्यपि कुछ झांकी मिल जाती है तथापि अभी बहुत से ऐसे ग्रंथ हैं, जिनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। ऐसे ही एक महत्वपूर्ण प्राकृत भाषा के जैन कथा ग्रंथ 'वसुदेव हिन्डी' में वर्णित राम कथा को यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रंथ संघदास गणि वाचक ने ५ वीं शताब्दी में बनाया था। वैसे इसमें श्री कृष्ण के पिता वसुदेव की भ्रमण वृत्तान्तों का वर्णन प्रधान है पर अन्य अनेक कथाएं व प्रसंग भी इसमें वर्णित हैं।

राम कथा में सीताजी का प्रमुख स्थान है। पर उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में काफी विवाद या मतभेद है। श्री बुल्के ने उन मत भेदों को ४ विभागों में विभक्त किया है।

१—"जनकात्मजा—महाभारत, हरिवंश, पउमचरिय, आदिरामायण।

२—भूमिजा—बाल्मीकि रामायण तथा अधिकांश राम कथाएं।

(२) दशरथ तथा मेनका की मानसी पुत्री; बाल्मीकि रामायण के उत्तरीय पाठ

(३) देववती तथा लक्ष्मी का अवतार।

३—सीता और लंका—रावणात्मजा—(१) गुणभद्र कृत उत्तर पुराण, महाभागवत पुराण

(२) काश्मीरी रामायण पाश्चात्य वृतान्त नं० १६ (३) तिब्बती तथा खोतानी रामायण (४) सेरत काण्ड, सेरी राम का पातानी पाठ (५) रामकियेन (रे आम केर ?)

(आ) पद्मा—दशावतार चरित्र (११ वीं श. ई.) (२) गोविन्द राज का बाल्मीकि रामायण का पाठ।

(इ) रक्तजा—अद्भुत रामायण (१५ वीं श. ई.) (२) सिंहल द्वीप की राम कथा एवं अन्य विविध भारतीय वृत्तान्त।

(ई) अग्निजा—(१) आनन्द रामायण (१५ वीं श. ई.) (२) पाश्चात्य वृतान्त नं. १६ (३) पाश्चात्य वृतान्त नं. १।

(४) दशरथात्मजा—(१) दशरथ जातक (२) जावा के राम कलिंग, मलय के सेरी राम तथा हिकायत महाराज रावण।"

पाठकों को यद्यपि यह विचित्र सा लगेगा किन्तु यह एक तथ्य सा लगता है कि सीता वस्तुतः

जनक की पुत्री नहीं थी। उसे तो चाहे वह किसी ही रूप में प्राप्त हुई हों, संयोग से मिल गई थी। बात चाहे और भी विचित्र लगे पर बौद्ध जातकों में तो सीता को दशरथ की पुत्री और राम की बहन तक बताया गया है।

स्व० श्री नाथूरामजी 'प्रेमी' ने अपने जैन साहित्य और इतिहास में राम कथा की विविध धाराओं का उल्लेख करते हुये अद्भुत रामायण, बौद्ध जातक और जैन उत्तर पुराणों की कथा संक्षेप में दी है। उत्तरपुराण के अनुसार भी सीता मन्दोदरी की कुक्षि से उत्पन्न हुई थी। प्रेमीजी ने लिखा है कि "जहाँ तक मैं जानता हूँ यह उत्तर-पुराण की रामकथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं है।" पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। दिगम्बर साहित्य की तरह श्वेताम्बर साहित्य में भी राम कथा के दो रूपान्तर संगृहीत मिलते हैं जिनमें से पउम चरिउ और त्रिष्टीशलाका पुरुष चरित में वर्णित राम कथा ने तो काफी प्रसिद्धि प्राप्त करली पर "वसुदेव हिन्ड़ी" की राम कथा की ओर विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया। क्योंकि एक तो 'वसुदेव हिन्ड़ी' श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण वृत्तान्त संबंधी ग्रंथ है। दूसरा रामायण की कथा उसमें प्रसंगवश बहुत ही संक्षेप में आई है। और उस कथा का प्रचार कम रहने से परवर्ती ग्रंथकारों ने 'पउम चरिउ' की कथा को ही अधिक अपनाया। वैसे प्राकृत भाषा में एक अप्रसिद्ध विस्तृत सीता चरित्र प्राप्त हुआ है। उसके सम्बन्ध में हमारा एक लेख छप भी चुका है पर विस्तृत आलोचना तो ग्रंथ के प्रकाशित होने बाद ही की जा सकती है।

'वसुदेव हिन्ड़ी' के प्रथम खण्ड के १४ वें मदन वेश्या लम्भक में राम कथा का प्रसंग इस रूप में आया है कि—वेताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में अरिंजयपुर नाम के नगर में मेघनाद नामक राजा था। उसकी रानी श्री कान्ता के गर्भ से पद्मश्री नाम की एक रूपवती कन्या जनमी। यौवन अवस्था प्राप्त होने पर उसके रूप की चर्चा विद्याधरों में सर्वत्र फैल गई। मेघनाद ने पदम श्री के विवाह के सम्बन्ध में नैमित्तिक से पूछा तो उसने कहा कि यह कन्या तो किसी चक्रवर्ती की मानीता रानी होगी। अन्त में कन्या का विवाह उस 'सुभूम' नामक चक्रवर्ती के साथ होता है, जिसने परशुराम से अपने पिता की मृत्यु का बैर लेते हुये २१ बार इस भूमि को ब्राह्मणों से रहित कर दी थी। जिस प्रकार परशुराम ने क्षत्रिय वंशका संहार करना अपना उद्देश्य बना लिया था उसी तरह सुभूम चक्रवर्ती ने भी। उसे जितने भी ब्राह्मण मिले, सब को मार डाला ये ही ब्राह्मण बच पाये जिन्होंने अपना ब्राह्मण (होना) नहीं बतलाया। सुभूम के ससुर राजा मेघनाद के वंश में बलि नाम का राजा हुआ और उसी के वंश में आगे चलकर 'रावण' हुआ। इसी प्रसंग में "वसुदेव हिन्ड़ी" में रामायण की कथा दी है।

वसुदेव हिन्ड़ी की राम कथा बहुत ही संक्षिप्त हैं अतः बहुत से प्रसंगों का तो उसमें उल्लेख ही नहीं हुआ है और जो मुख्य मुख्य बातें इस कथा में आई हैं उनमें से कुछ अन्य ग्रन्थों में दूसरे प्रकार से भी मिलती हैं। जैन मान्यता के अनुसार लक्ष्मण आठवें वासुदेव ※ हुये और उन्हीं के हाथ से रावण मारा गया। मूल कथा नीचे दी जा रही है।

रावण का वंश

बलि राजा के वंश में सहस्रग्रीव राजा हुआ था उसके पचशतग्रीव नामक पुत्र हुआ उसके बाद शतग्रीव, बाद में विंशतिग्रीव और तत्पश्चात् दश-

※ जैन मान्यता के अनुसार ६३ राजा-महापुरुषों में २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती ९ वासुदेव ९ बलदेव और ९ प्रति वासुदेव होते हैं। प्रति वासुदेव का वध वासुदेव करके ३ खंड साम्राज्य के भोक्ता बनते हैं वासुदेव के बड़े भाई बलदेव कहलाते हैं राम बलदेव थे, लक्ष्मण वसुदेव और रावण प्रति वासुदेव थे।

ग्रीव जो रावण के नाम से प्रसिद्ध है, विशति ग्रीव राजा के ४ पत्नियां थी देववर्णनी, वक्रा, कैकेयी, और पुष्पकूटा। देववर्ण ने के चार पुत्र थे। सोम, वरुण, यम और वैश्रमण, कैकेयी के रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण (ये तीन पुत्र) तथा त्रिचटा और सूर्पणखा ये २ पुत्रियां थीं, वक्रा के महोदर, महार्थ, महापाश और खर (ये ४ पुत्र) तथा आशालिका पुत्री थी, पुष्पकूटा के त्रिसार, द्विसार और विद्युज्जिह्व ये पुत्र और कंभुनास्ता कन्या थी।

रावण सोम-यम आदि के साथ वैर करके सपरिवार निकल गया और लंका द्वीप में जा बसा। वहां उसने प्रज्ञीत विद्या की साधना की और परिणामस्वरूप विद्याधर सामंत उसे नमन करने लगे। इस प्रकार लंका पुरी ही उसका वासस्थान हो गया। वहां रहते हुए विद्याधर लोग उसकी सेवा करने लगे।

मंदोदरी का रावण से विवाह

एक बार मग नामक विद्याधर अपनी मंदोदरी नामक पुत्री के साथ सेवार्थ रावण के पास पहुँच गया। वह कन्या लक्षण जानने वालों को बतलाई गई। उन्होंने कहा इसका प्रथम गर्भ कुल के क्षय का कारण बनेगा। परन्तु अत्यन्त रूपवान होने से रावण ने उसका त्याग नहीं किया। 'पहले पैदा हुवे बालक का त्याग कर दूंगा' यह विचार करके उसके साथ विवाह कर लिया। धीरे धीरे वह मंदोदरी (रावण की रानियों) में प्रधान (पट रानी) हो गई।

राम परिवार

इधर, अयोध्या नगरी में दशरथ राजा था। उसके ३ पत्नियां थी कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या के राम, सुमित्रा के लक्ष्मण और कैकेयी के भरत और शत्रुघ्न नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। देव जैसे सुन्दर वे धीरे धीरे बड़े हुए।

मंदोदरी की कुक्षि से सीता की उत्पत्ति व जनक द्वारा ग्रहण

रावण की पटरानी मंदोदरी के पुत्री हुई। उस पुत्री को रत्नों से भरी पेटी में रखा गया। मंदोदरी ने मंत्री से कहा, 'जाओ, इसे छोड़ आओ।" उसने मिथिला में जनक राजा की उद्यान भूमि जब ठीक की जा रही थी तब तिरस्कारिणी विद्या से संत्रस्त करके कन्या को हल के अग्र भाग पर डाल दिया। बाद में 'यह कन्या हल द्वारा जमीन से निकाली गई है' इस प्रकार का राजा से निवेदन किया गया। वह कन्या धारिणी देवी को अर्पित की गई और चंद्रलेखा की तरह बढ़ने वाली वह लोगों के नयनों और मन का हरण करने वाली बनी।

सीता का राम से विवाह

बाद में 'वह रूपवती है' यह विचार कर पिता जनक ने स्वयंवर का आदेश दिया। बहुत से राज-पुत्र एकत्र हुए। उस समय (उस कन्या) सीता ने राम को वरा। दूसरे कुमारों को भी धन सम्पत्ति सहित कन्याएं दी गईं उन्हें लेकर दशरथ अपने घर को आये।

कैकेयी को प्राप्त दशरथ से २ वरदान प्रसंग

पहले स्वजनोपचार में कुशल कैकेयी से संतुष्ट राजा ने उससे कहा था कि, 'तू वर माँग'। उसने कहा—"अभी मेरा वर रहने दो काम पड़ने पर मांगूंगी," एक बार दशरथ का सीमा के राजा के साथ विरोध हो गया। उसके बीच युद्ध में दशरथ पकड़े गये। देवी कैकेयी को कहलवाया गया कि, 'राजा पकड़ लिए गए हैं, इसलिए तुम चली जाओ।" वह बोली, 'शत्रु यदि प्रयत्न करेगा तो भाग जाने पर भी मुझे पकड़ लिया जावेगा; इस-लिए मैं खुद भी युद्ध करूंगी। मै हारूं नहीं तब तक कौन भागा गिना जा सकता है?" इस प्रकार कह कर कवच पहन, रथ में बैठ, छत्र से युक्त हो वह युद्ध करने चली। 'जो वापिस मुड़े उसे मार

डालो' इस प्रकार कहती हुई वह शत्रु सेना का नाश करने लगी। फिर अनुराग सहित अपना पराक्रम दिखलाते हुए योद्धा युद्ध करने लगे। योद्धाओं को वह प्रेमोपहार सरोपाव देने लगी। इस प्रकार देवी द्वारा शत्रु सैन्य को पराजित करने पर मुक्त हुए दशरथ कहने लगे, 'देवी! तुम्हारा काम महान पुरुष के जैसा है; इसलिये वर मांगो।' वह बोली, मेरा दूसरा वर भी अभी रहने दीजिये, काम पड़ने पर ले लूंगी।

रामराज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन और बनवास :—

बहुत वर्ष बीत जाने के बाद तथा पुत्रों के युवा हो जाने पर वृद्ध दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। कुबजा मंथरा ने यह खबर कैकेयी को दी। प्रसन्न हो उसने मंथरा को प्रीतिसूचक आभरण आभरण दिया। मंथरा ने देवी कैकेयी से कहा, दुखदायिनी वेला से तुम प्रसन्न हो रही हो, मै तो अपमान सागर में डूब रही हूं, यह तू जानती नहीं। कौशल्या और राम की तुम्हें चिरकाल तक सेवा करनी पड़ेगी; उनका दिया हुआ खाना पड़ेगा। इसलिये मोह त्याग राजा द्वारा तुम्हें पहले से जो दो वर प्राप्त हैं; उनसे भरल का अभिषेक और राम का वनवास मांग लें।" मंथरा के वचन मान कैकेयी कुपितानना-कुपित मुंह वाली बनकर कोप भवन में चली गई। दशरथ ने यह सुना तो वह वह उसे मनाने गया। परन्तु उसने कोप नहीं छोड़ा। दशरथ ने उसे कहा, 'बोल. क्या करू',' कैकेयी ने कहा, 'तुमने २ वर दिये थे, यदि सत्यवादी हो तो मुझे दो।' राजा ने कहा,—'बोल. क्या दू ?,' तब संतोष से विकसित वदन हो वह कहने लगी—एक वर से भरत राजा बने और दूसरे वर से राम १२ वर्ष तक बन में रहे।" तब दुःखी हो राजा ने कहा, देवी! ऐसा बुरा हट मत कर।' बड़ा पुत्र (राम) गुणों का आगार है; यह राम ही पृथ्वी का पालन कर सकता है अतः इसके अतिरिक्त दूसरा जो कहे वह देदू'। 'कैकेई बोली,'—यदि सत्यवादी हो तो ये ही वरदो दूसरा कुछ भी मुझे नहीं चाहिये जो आपकी इच्छा हो वह करो।' तब उसे बहुत ही भला बुरा कहकर राजा ने राम को बुलाया और अश्रु विरलित कंठ से बोले 'कैकेयी पूर्व में मुझ से प्राप्त दो वर मांग रही है।' "राज्य भरत को मिले और तू वन में जाय। इस लिए तू ऐसा कर जिससे मैं झूठा न बनूं।" राम ने नतमस्तक हो वह स्वीकार कर लिया। फिर सीता और लक्ष्मण सहित राम बीर वेशधारी होकर लोगों के मन, नयन और मुख कमल को म्लान करते हुए, कमलवन को संकुचित करता हुआ जिस तरह सूर्य अस्ताचल को जाता है, उस प्रकार प्रजा को बिलखते हुए छोड़ राम बन को रवाना हो गये। हा पुत्र! हा श्रुत निधि! हा सुकुमार! हा अदु.खोचित! मुझ मंदभागी के लिए अकारण ही देश निष्काषित! तू बन में किस प्रकार समय बितायेगा? इस प्रकार विलाप करते हुए दशरथ मृत्यु को प्राप्त हुए।

भरत को राम पादुकाओं की प्राप्ति—

पीछे से भरत अपने मामा के देश से आया। सच्ची घटना सुनकर उसने माता को फटकारा और अपने सगे संबन्धियों सहित वह राम के पास पहुँचा। उसने राम से पितृमरण का समाचार सुनाया। राम द्वारा उत्तर क्रिया कर लेने के बाद उन्हें आशाओं से भरे मुँह वाली भरत की मां कैकेयी ने कहा—"पुत्र, तुमने पिता की आज्ञा का पालन किया। अब तुम्हें अपयश के कर्दम से मेरा उद्धार तथा कुल क्रमागत राज्य लक्ष्मी और भाइयों का पालन करना ही शोभा देगा।" राम ने कहा "माता! तुम्हारा वचन टाला नहीं जा सकता; परन्तु उसके उल्लंघन करने का कारण सुनो-राजा सत्यप्रतिज्ञ होकर ही प्रजापालन में समर्थ हो सकता है; सत्य से भ्रष्ट हो जाय तो अपनी पत्नि के पालन में भी अयोग्य होता है। पिता के वचन पालनार्थ ही मैं ने वनवास स्वीकार किया है। अब मुझे वापिस लौटने का आग्रह मत करो।" राम ने

भरत को आज्ञा दी, 'यदि मेरा तुझ पर अधिकार है और मैं तुम्हारे से बड़ा हूँ तो तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना है और माता को फटकारना नहीं है।'' आंखों में आंसू लिये भरत हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—'आर्य ! प्रजापालन के कार्य के लिये यदि शिष्य की तरह मुझे नियुक्त किया गया है तो मुझे पादुकाएँ देने की कृपा करें।'' राम ने 'ठीक है' कह कर वह बात मान ली—पादुकाएँ दे दीं। भरत पुन: अयोध्या चला गया।

सीता हरण की पूर्व भूमिका—

इस तरह सीता लक्ष्मण सहित राम तपस्वियों के आश्रम देखते तथा दक्षिण दिशा को अवलोकन करते-करते एक निर्जन स्थान पर पहुँचे, वहां एकांत वन प्रदेश में वे सीता के साथ रहे। कमल के समान नयन वाले और देवकुमार सदृश राम को देखकर कामवश हुई रावण की बहन सूर्पणखा आकर कहने लगी, "देव ! मुझे स्वीकार करें।" तब राम ने कहा, 'ऐसा न कह, तपोवन में रहता हुआ मै पराई स्त्री का सेवन नहीं करता।" फिर जनकदुलारी सीता ने कहा,—"परपुरुष की जबर-दस्ती प्रार्थना कर रही है, "इसलिये तू मर्यादा का उल्लंघन करने वाली निर्लज्ज है।" तब कुपित हो भीषण रूप धारण कर वह सीता को डराने लगी 'तुम्हारे सतीत्व का मैं नाश कर दूँगी; तू मुझे नहीं पहचानती ? फिर राम ने 'यह स्त्री होने के कारण अवध्य है' यह विचार कर उसके नाक कान काट लिये। सूर्पणखा खरदूषण के पास गई। निर-पराधिनी को दशरथ के पुत्र राम ने इस प्रकार दुखी किया है यह जान वे कहने लगे, "माता ! दुखी मत हो हमारे बाण से विद्ध हुए राम और लक्ष्मण का रुधिर आज गिद्धों को पिलायेंगे। इतना कहकर वे राम के पास पहुँचे। सूर्पणखा के नाक-कान काटे जाने की बात की। इन्होंने राम से कहा—'भट, युद्ध के लिये तैयार हो।' तब यम वैश्रमण के समान पराक्रमी राम और लक्ष्मण दोनों भाई धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर खड़े हो गये। उन्होंने युद्ध में शस्त्रबल और बाहुबल से खर-दूषण का नाश कर दिया।

उसके बाद पुत्र वध से रुष्ट सूर्पणखा रावण के पास गई। उसे अपने नाक-कान कटने और पुत्रों के मरण का हाल सुनाया और कहने लगी-देव ! वह मानव की स्त्री है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि संपूर्ण युवतियों के रूप का मंथन करके लोगों के लोचनों को आनंददायी उस नारी का निर्माण किया गया है। वह तुम्हारे अंत:पुर के योग्य है।

सीता हरण—

इस प्रकार सीता के रूप श्रवण से उन्मत्त हुए रावण ने अपने अमात्य मारीच को सूचना दी, 'तू आश्रम में जा वहाँ रत्नजड़ित मृग का रूप बना कर तापसवेशधारी योद्धाओं को लुभा जिससे मेरा काम हो जाय।'' तदनंतर मारीच रत्नजड़ित मृग का रूप धारण कर घूमने लगा। उसे देख कर सीता ने राम से कहा—'आर्य पुत्र ! अपूर्व रूप वाले इस मृग शावक को पकड़िये, वह मेरे लिये खिलौना होगा। फिर राम 'ठीक है, ऐसा ही होगा" यह कह कर धनुष हाथ में लेकर उसके पीछे २ जाने लगे। वह मृग भी धीरे २ प्रारम्भ करके फिर जोर से चलने लगा। 'तू कहाँ जायगा ?' यों कहते २ राम भी उसके पीछे दौड़ने लगे। इस प्रकार दूर तक जाने के बाद राम ने जान लिया कि 'जो वेग में मुझे भी जीत रहा है वह मृग नहीं हो सकता, यह तो कोई मानवी है" यह विचार कर उन्होंने बाण फेंका तब मारीच ने मरते २ विचारा कि 'स्वामी का काम कर दूँ।" उसने 'हे लक्ष्मण ! मुझे बचाओ।' इस तरह से जोर की चीख मारी। यह सुनकर सीता ने लक्ष्मण से कहा 'जल्दी जाओ, भयभीत स्वामी ने ही यह चीख मारी है। निश्चय ही शत्रु सेना होगी।" तब लक्ष्मण ने कहा, "आज भय नहीं है तुम कह रही हो इसलिये ही जारहा हूं।" फिर वह भी हाथ में धनुष लेकर जिस मार्ग से राम गये थे उसी मार्ग पर तेजी से भागे।

यह अवसर पाकर विश्वसनीय तापस का रूप धारण कर रावण सीता के पास आया। सीता को देखकर उसके रूपातिशय से मुग्ध रावण ने बिना किसी विघ्न की परवाह किये विलाप करती हुई सीता का हरण कर लिया। उधर राम और लक्ष्मण ने वापिस लौटकर सीता को नहीं पाकर दुखित हो उसकी खोज करनी आरंभ की। रावण को मार्ग में जटायु विद्याधर ने रोक लिया था। उसे हरा कर किष्किंधागिरि पर से होता हुआ वह लंका पहुँचा। सीता के लिए विलाप करते हुए राम को लक्ष्मण ने कहा, 'आर्य! स्त्री के लिये शोक करना आपको शोभित नहीं होता। यदि मरना चाहते हैं तो शत्रु की पराजय के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करते।' मार्ग में जटायु ने खबर दी कि 'रावण ने सीता का हरण किया है।'' फिर युद्ध करने वाले के लिये तो जय अथवा मरण है; विषाद पक्ष का अनुसरण करने वाले निरुत्साही के लिये तो केवल मरण ही है, इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनों ने विचार किया।

सुग्रीव मैत्री, बालि बध:

तत्पश्चात् राम और लक्ष्मण किष्किधागिरि पर पहुँचे, वहां बालि और सुग्रीव नामक दो विद्याधर भाई परिवार सहित रहते थे। उनके बीच स्त्री के कारण विरोध हो गया था। बालि द्वारा पराजित सुग्रीव हनुमान और जांबवान इन दो मंत्रियों के साथ जिनालय का आश्रय लेकर रह रहा था। देव कुमार सदृश सुन्दर और हाथ में धनुष धारण किये हुए राम और लक्ष्मण को देख हनुमान ने भागते हुए सुग्रीव को कहा, 'बिना कारण जाने मत भागो, पहले यह जानना चाहिये कि वे कौन हैं फिर जो उचित होगा करेगें।''

उसके बाद सौम्य रूप धारण करके हनुमान उनके पास गया। उसने युक्ति पूर्वक राम-लक्ष्मण से पूछा—"आप कौन हैं? और किस कारण वन में आये हैं वन के योग्य तो आप हैं ही नहीं।" तब लक्ष्मण ने कहा "हम इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न दशरथ के पुत्र राम-लक्ष्मण हैं, और पिता की आज्ञा से वन में आये हैं। मृग के द्वारा हमें भ्रमित कराके सीता का हरण कर लिया गया है। उसकी खोज में हम घूम रहे हैं। परन्तु आप कौन हैं? और किस कारण वन में रहते हैं?" हनुमान ने बतलाया 'हम विद्याधर हैं। हमारे स्वामी सुग्रीव हैं। अपने बलवान भाई बालि से पराजित हुए वे हमारे साथ जिनायतन का आश्रय लेकर रह रहे हैं। आपको उनके साथ मित्रता करनी चाहिए।'' राम ने यह बात मान ली। अग्नि की साक्षी से वे मैत्री बंधन में बंध गये। बल की परीक्षा कर लेने के बाद सुग्रीव ने राम को बालि के वध के लिए नियुक्त किया। वे दोनों भाई समान रूप रंग वाले थे। उनमें विशेष अंतर नहीं जानते हुए राम ने बाण छोड़ा। बालि ने सुग्रीव को पराजित किया। फिर दोनों में भेद जानने के लिए सुग्रीव को माला पहनाई गई। और तब एक ही बाण से बालि को मारकर राम ने सुग्रीव को राजा बना दिया।

तत्पश्चात सीता का वृत्तान्त जानने के लिये हनुमान गये। वापिस आकर उन्होंने सीता की स्थिति बतलाई। तदनंतर राम की सूचना से सुग्रीव ने भरत के पास विधाधर भेजे। भरत ने चतुरंग सेना भेजी। सुग्रीव के सहित और विधाधरों द्वारा संचालित वह सेना समुद्र के किनारे पहुँची। वहां समुद्र के मध्य भाग की संधि में सेतु बांधा गया। सेना लंका के समीप उतरी और शुभ मुहूर्त में पड़ाव डाला गया। अपने परिवार और सेना सहित रावण भी सेना सहित राम को नगण्य समझ रहा था।

विभीषण द्वारा रावण को हित-शिक्षा—

उसके बाद विभीषण ने विनयपूर्वक प्रणाम करके रावण से प्रार्थना की "राजन्! हित की बात यदि अप्रिय भी हो तो वह छोटे-बड़े सभी को कह देनी चाहिये। राम की पत्नि सीता का हरण करके आपने अच्छा काम नहीं किया है। संभवतः

यह भूल से ही हुआ होगा, परन्तु अब तो सीता को वापिस लौटा दें। कुल का नाश मत कराइये। खर-दूषण और बालि के विद्या युक्त होते हुए भी राम ने उनका अनायास ही नाश कर दिया है। स्वामी को तो सेवक की पत्नि की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये, फिर बलवान और अन्य पुरुष की पत्नि की तो बात ही कैसी ? राजाओं की तो इन्द्रिय निग्रह में ही जय होती है। मेधावी पुरुषों ने ४ प्रकार की बुद्धि बतलाई है—मेधा, श्रुति, वितर्क, और शुभ कार्यों में दृढ़ संकल्प। आप मेधावी और मतिमान हैं। अतः हर प्रकार से कार्य सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु आपका अभिनिवेश (दृढ़ संकल्प) तो अकृत्य में है। इससे आपसे प्रार्थना करता हूँ। जो कौर खाया जा सके, खाने के बाद पच जाय, और पचने के बाद पथ्य बन जाय, वही खाना चाहिये। इस पर विचार कर आप रामभार्या को वापिस लौटा दें। इससे परिजनों का भी कल्याण है।"

राम-रावण युद्ध:—

इस प्रकार निवेदन करने पर भी जब रावण ने सुना नहीं तब विभीषण ४ मंत्रियों के साथ राम के पास चला गया। सुग्रीव के परामर्श को मानकर राम ने विभीषण का सम्मान किया। विभीषण के परिवार में जो विद्याधर थे वे सेना में मिल गये। फिर राम और रावण के पक्ष वाले विद्याधर और राक्षसों का युद्ध प्रारम्भ हुवा। दिनों दिन राम का सैन्यबल बढ़ने लगा। मुख्य योद्धाओं के नष्ट होने पर विजयाकांक्षी रावण सब विद्याओं को नष्ट करने वाली ज्वालवती विद्या की साधना करने लगा। रावण को विद्या साधना में लगा जानकर राम के योद्धा नगर में प्रविष्ट होकर नगर का नाश करने लगे। इससे क्रुद्ध हुआ रावण कवच धारण करके सज्जित हो रथ में बैठ कर निकला। भयंकर युद्ध करके वह लक्ष्मण के साथ भिड़ गया। जब सब शस्त्र निष्फल हो गये तब क्रुद्ध हो रावण ने लक्ष्मण का वध करने के लिये चक्र चलाया। परन्तु लक्ष्मण की महानुभावता के प्रभाव से वह चक्र उसके वक्षस्थल पर धार की ओर से नहीं पड़ा, टेढ़ा पड़ गया। लक्ष्मण ने वही चक्र रावण के वध के लिये फेंका। देवता द्वारा अधिष्ठित वह चक्र कुंडल और मुकुट सहित उसके मस्तक काटकर पुनः लक्ष्मण के पास आया। आकाश में रहने वाले ऋषिवादित और भूतवादित देवताओं ने पुष्प वृष्टि की और गगन मंडल में नाद किया कि भारत वर्ष में यह आठवां वसुदेव उत्पन्न हुआ है।

सीता प्राप्ति व राम का राज्याभिषेक:—

पत्पश्चात् युद्ध समाप्ति पर विभीषण सीता को लाया और राम को सौंपी। राम की आज्ञा मिलते ही विभीषण ने रावण का संस्कार किया। फिर राम-लक्ष्मण ने अरिंजय नगर में विभीषण का और विद्याधर श्रेणी के नगर में सुग्रीव का अभिषेक किया। फिर अपने परिवार सहित सुग्रीव, सीता और राम को पुष्पक विमान में अयोध्या नगरी ले गया। प्रजाजन और मंत्रियों सहित राम का राजा के रूप में अभिषेक किया। फिर अत्यन्त प्रभावशाली तथा सुग्रीव सहित राम ने अर्ध भारत को विजय किया। विभीषण राजा अरिंजय नगर में रहने लगा।

विभीषण के वंश में विद्युत्वेग नाम का राजा हुआ। उसकी रानी विद्युत्प्रभा थी। उससे दधिमुख, दण्डवेग, और चण्डवेग नामक पुत्र और मदनवेगा नाम की पुत्री हुई। उस मदनवेगा का विवाह श्री कृष्ण के पिता वासुदेव के साथ हुआ। उसी का प्रसंग वर्णन करते हुए संघदास गणि ने बीच में उपरोक्त राम कथा भी दे दी है इस कथा में राम के राज्याभिषेक एवं सीता के शेष जीवन का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। ग्रंथकार ने संक्षेप में जितनी कथा देनी आवश्यक समझी, उतनी ही वसुदेव हिन्डी में लिख दी। क्योंकि यह कोई स्वतन्त्र राम चरित सम्बन्धी ग्रंथ नहीं है इसलिये इसकी अधिक अपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

राम का नाम प्राचीन जैनागमों ने 'पउम' यानी 'पद्म' मिलता है। उनके संबंध में समवायांगसूत्रादि में संक्षिप्त उल्लेख है। विमल सूरि के पउमचेरियं में ही सर्व प्रथम जैन-मान्य राम कथा पूरे रूप में दी गई है। वसुदेव हिन्डी से मालूम होता है कि विमल सूरि के 'पउम चरियं' में की परम्परा को संघदास गणि ने नहीं अपनाई। उनके सामने राम संबंधी लोक-कथा की कोई अन्य ही परम्परा रही होगी। पर आज उस परम्परा वाला वसुदेव हिन्डी के पहले का कोई अन्य ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

सीता रावण और मंदोदरी की पुत्री थी, इससे सम्बन्धित जितने भी ग्रंथ अब तक प्राप्त व ज्ञात हुए हैं वसुदेव हिन्डी उन सबसे प्राचीन है। इससे सीता संबंधी उपरोक्त प्रवाद की प्राचीनता ५ वीं शताब्दी के पहिले की सिद्ध होती है। इसी बात को प्रकाश में लाने के लिए यह लेख पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।

●

श्रद्धा के बिना प्रेम नहीं रहता।

× × × ×

धन उपार्जन और उन्नति दोनों एक नहीं हैं।

अग्रवालों का जैन धर्म में योगदान

• परमानन्द जैन शास्त्री

'अग्रवाल' शब्द का विकास अग्रोहा या अग्रोदक से हुआ है। वर्तमान हिसार जिले में अग्रोहा नामक एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। यहां एक टीला ६० फुट ऊंचा था, जिसकी खुदाई सन् १९३९ या ४० में हुई थी। उससे प्राचीन नगर के अवशेष और प्राचीन सिक्कों आदि का ढेर प्राप्त हुआ था। २६ फूट से नीचे आहत मुद्रा का नमूना, चार यूनानी सिक्के और ५१ चौखूंटे तांबे के सिक्के भी मिले थे। तांबे के सिक्कों में सामने की ओर 'वृषभ' और पीछे की ओर सिंह या चैत्य-वृक्ष की मूर्ति अंकित है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों में–'अगोद के अगच जनपदस' शिलालेख भी अंकित है, जिसका अर्थ 'अग्रोदक में अगच जनपद का सिक्का' होता है। अग्रोहे का नाम अग्रोदक भी रहा है। उक्त सिक्कों पर अंकित वृषभ, सिंह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति जैन मान्यता की ओर संकेत करती हैं।

कहा जाता है कि अग्रोहा में अग्रसेन नाम के एक क्षत्रिय राजा थे। उन्हीं की सन्तान परम्परा अग्रवाल कहे जाते हैं। अग्रवाल शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु यहां उन अर्थों की विवक्षा नहीं हैं, यहां अग्रदेश के रहने वाले अर्थ ही विवक्षित है। अग्रवालों के १८ गोत्र बतलाये जाते है, जिनमें गर्ग, गोयल, मित्तल, जिन्दल, सिंहल या संगल आदि नाम हैं। इनमें दो धर्मों के मानने वाले पाये जाते हैं। एक जैन अग्रवाल दूसरे अजैन अग्रवाल। श्रीलोहाचार्य के उपदेश से उस समय जो जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे, वे जैन अग्रवाल कहलाये और शेष अजैन। परन्तु दोनों में रोटी-बेटी व्यवहार होता है, रीति-रिवाजों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी उनमें अपने अपने धर्म परक प्रवृत्ति पाई जाती है। हां सभी अहिंसा धर्म के मानने वाले हैं। यद्यपि उपजातियों का इतिवृत्त १० वीं शताब्दी से पूर्वका नहीं मिलता पर लगता है कि कुछ उपजातियां पूर्ववर्ती भी रही हैं। जैन अग्रवालों में अपने धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा एवं आस्था पाई जाती है, उससे उनकी धार्मिक दृढ श्रद्धा का समर्थन होता है। अग्रवालों के जैन परम्परा सम्बन्धी १२ वीं शताब्दी तक के प्रमाण मेरे अवलोकन में आए हैं। यह जाति पूर्व काल में खूब सम्पन्न, राज्य मान्य और धार्मिक रही है। और वर्तमान में ये लोग धर्मज्ञ आचार निष्ठ, दयालु और जन–धन से सम्पन्न पाये जाते हैं।

अग्रवालों का निवास स्थान अग्रोहा या हिसार के आस–पास का ही क्षेत्र नहीं रहा है, अपितु उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्र भी रहे हैं क्योंकि अग्रवालों द्वारा निर्मित मन्दिर, उदयपुर, जयपुर आदि स्थानों में भी पाये जाते हैं। फणिपद या पणिपद (पानीपत), स्वर्निपद अथवा सुवर्ण पथ, सोनिपत कर्नाल, अम्बाला, सहारनपुर, मुजफ्फर नगर, मेरठ, आगरा दिल्ली, आरा, कलकत्ता, नजीबाबाद और बनारस आदि बड़े नगरों एवं छोटे छोटे उपनगरों में इस जाति के लोग बसे हुए हैं। इससे इस जाति की महत्ता का भान स्वतः हो जाता है। अग्रवाल जैन समाज द्वारा अनेक मन्दिरों, मूर्तियों, विद्या संस्थाओं, औषधालयों, लायब्रेरियों और साहित्यिक संस्थाओं

---

१. एपिग्राफिका इंडिका जि० २ पृ० २४४। व इंडियन एण्टीक्वेरी भाग १५ के पृष्ठ ३४३ पर अग्रोतक वैश्यों का वर्णन दिया हुआ है।

आदि का निर्माण किया गया है। इनका वैभव राजाओं के सदृश रहा है। शाही खजांची, मन्त्री, सलाहकार आदि अनेक उच्च पदों पर ये नियुक्त रहे हैं। शास्त्रदान में इनकी रुचि रही है। उसीका परिणाम है कि दिल्ली के ग्रन्थ भंडारों में ग्रंथों का अच्छा संग्रह पाया जाता है। वीर सेवा मंदिर, आरा का जैनसिद्धांत भवन, और भारतीय ज्ञान पीठ काशी, तथा दिल्ली का पक्षियों का हस्पताल आदि संस्थाऐं आज भी गौरव का विषय बनी हुई हैं। साहित्यिक संस्थाओं से जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, या जो अनुसन्धान काम किया गया है वह अपने विषय का महत्वपूर्ण कार्य है। इस सबसे जन साधारण अग्रवालों की धर्मप्रियता श्रुतसेवा आदि का परिचय सहज ही पा सकते हैं। जैन अग्रवालों ने जैन धर्म को क्या देन दी है अथवा उसके विकास में क्या कुछ योग दान दिया है यही इस लेख का प्रमुख विषय है।

संवत् ११८९ (सन् ११३२ ई०) से पूर्व साहु नट्टल के पूर्वज पिता वगैरह दिल्ली (योगिनीपुर) के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल थी। नट्टल साहु के पिता साहु जेजा श्रावकोचित धर्म-कर्म में निष्ठ थे। इन की माता का नाम 'मेमडिय' था, जो शील रूपी सत् आभूषणों से अलंकृत थी, और बांधवजनों को सुख प्रदान करती थी। साहु नट्टल के दो ज्येष्ठ भाई और भी थे, राघव और सोढल। इनमें राघव बड़ा ही सुन्दर और रूपवान् था। उसे देखकर कामनियों का चित्त द्रवित हो जाता था। और सोढल विद्वानों को आनन्द दायक, गुरुभक्त तथा अरहंत देव की स्तुति करने वाला था, उसका शरीर विनयरूपी आभूषणों से अलंकृत था, तथा वह बड़ा बुद्धिमान और धीर-वीर था। साहु नट्टल इस सब में लघु, पुण्यात्मा, सुन्दर और जन वल्लभ था। कुलरूपी कमलों का आकर और पाप-रूपी पांशु (रज) का नाशक, तीर्थंकर का प्रतिष्ठा-पक, वन्दीजनों को दान देने वाला, परदोषों के प्रकाशन से विरक्त, रत्नत्रय से विभूषित और चतुर्विध संघ को दान में सदा तत्पर रहता था। उस समय दिल्ली के जैनियों में वह प्रमुख था, व्यसनादि से रहित हो श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करता था। साहु नट्टल केवल धर्मात्मा ही नहीं था अपितु उच्चकोटि का व्यापारी भी था। उस समय उसका व्यापार अंग, बंग, कलिङ्ग, कर्नाटक, नेपाल, भोट, पांचाल, चेदि, गौड़, ठक्क (पंजाब) केरल, मरहट्ट, भादानक, मगध, गुर्जर, सोरठ और हरियाना आदि देशों और नगरों में चल रहा था। यह केवल व्यापारी ही नहीं था; अपितु राजनीति का चतुर पंडित भी था। कुटुम्बी जन तो नगर सेठ थे और आप स्वयं तोमरवंशी अनंगपाल (तृतीय) का अमात्य था। आपने कवि श्रीधर से जो हरियाना देश से यमुना नदी को पार कर उस समय दिल्ली में आए थे ग्रन्थ बनाने की प्रेरणा की थी। तब कवि ने 'पासणाह चरिउ' नामक सरस खण्ड काव्य की रचना वि० सं० ११८९ अगहन वदी अष्टमी रविवार के दिन समाप्त की थी।

नट्टल साहु ने उस समय दिल्ली में आदिनाथ का एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर भी बनवाया था, जो अत्यन्त सुन्दर था, जैसा कि ग्रन्थ के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

"कारा वेवि णाहेय हो णिकेउ,
पविइण्णु पंच वण्णं सुकेउ।
पइं पुणु पइट्ठ पविरइय जेम,
पास हो चरित्तु जइ पुण वि तेम॥"

आदिनाथ के इस मन्दिर की उन्होंने प्रतिष्ठा विधि भी की थी, उस प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख उक्त ग्रंथ की पांचवीं संधि के बाद दिये हुए निम्न पद्य से प्रकट है :—

येनाराध्य विशुद्धय धीरमतिना देवाधिदेवं जिनं।
सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः सन्तोलिता बान्धवाः।
जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनी प्रतिष्ठा तथा,
स श्रीमान्विदितः सदैव जयतात्पृथ्वीतले नट्टलः॥

इससे नट्टल साहु की धार्मिक परिणति का सहज ही पता चल जाता है। आदिनाथ का उक्त मन्दिर कुतुबमीनार के पास बना हुआ था, बड़ा ही सुन्दर और कलापूर्ण था। वर्तमान में यहाँ कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद बनी हुई है जो २७ मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई थी।

इसके अतिरिक्त दिल्ली में सं० १३२८, १३७०, १३९१, और १३९९ में क्रमश. पंचास्तिकाय कुन्द-कुन्द, तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपाद क्रयाकलाप टीका और उत्तरपुराण पुष्पदन्त का आदि ग्रंथ लिखाकर भेंट किये गये। उसके बाद सं० १४१६ में भगवती आराधना का टिप्पण और वृहद्द्रव्य संग्रह की टीका की प्रतियाँ लिखाकर भेंट की गईं। इस तरह शास्त्र दान को प्रोत्साहन दिया जाता रहा।

विक्रम संवत् १४९३ में योगिनीपुर (दिल्ली) के समीप बादशाह फीरोजशाह तुगलक द्वारा बसाये गए फीरोजाबाद नगर में, जो उस समय जब धन, वापी, कूप, तडाग, उद्यान आदि से विभूषित था, अग्रवाल वंशी गर्ग गोत्री साहु लाखू निवास करते थे। उनकी प्रेमवती नाम की एक धर्म पत्नी थी, जो पातिव्रत्यादि गुणों से अलंकृत थी। इनके दो पुत्र थे साहु खेतल और मदन। खेतल की धर्मपत्नी का नाम सरो' था, जो सम्पत्ति-संयुक्त और दान शीला थी। खेतल और सरो से फेरू, पल्हू और बीधा नाम के तीन पुत्र हुए थे। और इन तीनों की काकलेही, माल्हाही और हरीचन्दही नाम की क्रमशः तीन धर्मपत्नियाँ थीं। साहु लाख के द्वितीय पुत्र मदन की धर्मपत्नी का नाम 'रतो' था, उससे 'हरधू' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। उसकी स्त्री का नाम 'मन्दोदरी' था। साहु खेतल के द्वितीय पुत्र पल्हू के 'मंडन, जाल्हा, धिरीया और हरिश्चन्द नाम के चार पुत्र थे। इस सारे ही परिवार के लोग विधि-वत् जैनधर्म का पालन करते थे और आहार, औषध, अभय तथा ज्ञानादि चारों दान दिया करते थे। साहू खेतल ने गिरनार की यात्रा का यात्रोत्सव किया था। वह अपनी धर्मपत्नी काकलेही के साथ योगिनीपुर (दिल्ली) में आया था। कुछ समय सुखपूर्वक व्यतीत होने पर साहू फेरू की धर्मपत्नी ने कहा कि स्वामिन! श्रुतपंचमी का उद्यापन कराइये। इसे सुनकर फेरू अत्यन्त हर्षित हुआ और उसने मूलाचार नामक ग्रन्थ श्रुतपंचमी के निमित्त लिखा कर मुनि धर्मकीर्ति के लिये अर्पित किया। धर्मकीर्ति के दिवंगत होने पर उनके प्रमुख शिष्य यम नियम में निरत तपस्वी मलयकीर्ति को ससम्मान अर्पित किया। उक्त प्रशस्ति मलयकीर्ति द्वारा लिखी गई है, जो ऐति-हासिक विद्वानों के लिये बहुत उपयोगी है।[1]

अग्रवाल वंशी साहू बील्हा और धेना ही के पुत्र हेमराज ने जो बादशाह मुमारख (मुबारिक शाह सैय्यद) का मंत्री था, योगिनीपुर (दिल्ली) में अरहंतदेव का जिन चैत्यालय बनवाया था, और भट्टारक यशकीर्ति से पाण्डव पुराण वि० सं० १४९७ में बनवाया था।

उक्त पुराण भट्टारक यशःकीर्ति ने हिसार निवासी अग्रवाल वंशी गर्ग गोत्री साहु दिवड्ढा के अनुरोध से, जो इन्द्रिय-विषय-विरक्त, सप्तव्यसन रहित, अष्टमूलगुणधारक, तत्त्वार्थश्रद्धानी, अष्ट अंग परिपालक ग्यारह प्रतिमा आराधक और बारह व्रतों का अनुष्ठापक था, वि० सं० १५०० में भाद्रपद शुक्ला एकादशी के दिन 'इंदउरि' परगना तिजारा में जलालखां (शय्यद मुबारिक शाह) के राज्य में ? समाप्त किया था।

जोयणिपुर निवासी अग्रवाल कुल भूषण गर्ग गोत्रीय साहु भोज राज के ५ पुत्रों में से ज्ञानचन्द्र के विद्वान पुत्र साधारण श्रावक की प्रेरणा से इल्लराज सुत महिन्दु या महाचन्द्र ने सं० १५८७ की कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन मुगल बादशाह बाबर के

1. देखो, मलय कीर्ति और मूलाचार प्रशस्ति, अनेकान्त वर्ष १३ कि० ४

के राज्य काल[1] में समाप्त किया था। ज्ञानचन्द्र के तीन पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र सारंग साहुने सम्मेद शिखर की यात्रा की थी, और द्वितीय पुत्र साधारण ने, जो गुणी और विद्वान था एवं जिस का वैभव बढ़ा चढ़ा था, 'शत्रु ंजय' की यात्रा की थी, जिन मन्दिर का निर्माण कराकर हस्तिनागपुर की यात्रार्थ संघ चलाया था।

साहु टोडर गुणी, कर्तव्य परायण, और टकसाल के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। और संभवतः वे अकबर की टकसाल का कार्यभार भी सम्पन्न करते थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। यह भटानिया कोल (अलीगढ) के निवासी थे, और काष्ठासंघ के भट्टारक कुमारसेन की आम्नाय के श्रावक थे, किसी समय वहां से आकर आगरा में बस गये थे, जैनधर्म के अनुयायी थे। भाग्यशाली, कुलदीपक और अत्यन्त उदार थे। इनके पितामह का नाम साहु रूपचन्द था और पिता का नाम साहु पासा था। साहु टोडर देव-शास्त्र-गुरु के भक्त थे। धर्मवत्सल, विनयी, परदार विमुख, दानी, कर्तव्य परायण, पर दोष भाषण करने में मौन रखने वाले कृपालु और धर्मफलानुरागी थे। काष्ठासंघ के विद्वान पांड़े राजमल को आगरा में इनके समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे इन का बहुत आदर करते थे और इनके आज्ञाकारी थे। राजमल को वहां रह कर साहु टोडर और अकबर बादशाह को नजदीक से देखने का अवसर मिला था। इसीसे उन्होंने अपने जंबूस्वामी चरित में, जो साहु टोडर की प्रेरणा से रचा गया था, अकबर की खूब प्रशंसा की है और उसे शराब बन्दी करने वाला तथा 'जिजिया' कर छोड़ देने वाला लिखा है।[2] साहु टोडर अकबर के प्रिय पात्र तथा राज्य संचालन में सहयोग देने वाले रम्र जाती पुत्र साहु गढ़मल और कृष्णामंगल चौधरी दोनों का प्रीति पात्र था और कृष्णामंगल चौधरी का सुयोग्य मंत्री था।[3] पांडे राजमल साहु टोडर के तो अत्यन्त नजदीक थे ही, उन्होंने उनकी केवल प्रशंसा ही नहीं की है अपितु उनके धार्मिक कार्यों का भी उल्लेख किया है और आशीर्वाद आदि द्वारा उनकी मंगल कामना भी प्रकट की है।[4]

साहु टोडर की धर्मपत्नी का नाम कसुंभी था, उससे तीन पुत्र हुए थे। रिषीदास या ऋषभदास, मोहनदास और रूपमांगद।[5] उनमें प्रथम पुत्र ऋषभदास अपने पिता के समान ही धर्मनिष्ठ, जिनवाणी भक्त और गुणी था। साहु टोडर ने

---

१. बाबर ने सन् १५२६ ईस्वी में पानीपत की लड़ाई में दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी को पराजित और दिवंगत कर दिल्ली का राज्य शासन प्राप्त किया था। उसके बाद उसने आगरा पर अधिकार कर लिया था, और सन् १५३० (वि० सं० १५८७) में आगरा ही में उसकी मृत्यु हो गई थी। यह केवल ५ वर्ष ही राज्य कर पाया था।

२. जंबूस्वामीचरित २७ २६ पृ० ४-५

३. शाश्वत साहि जलालदीनपुरतः प्राप्त प्रतिष्ठोदयः,
श्रीमान् मुंगलवंश शारद शवरिण स्वोपकारोद्यत:
नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धि रभवत् सक्षात्र धर्मोन्नतेः,
तन्मंत्रीश्वर टोडरो गुणयुतः सर्वाधिकाराधितः ॥

ज्ञानार्णवटीकाप्रशस्ति

४. उग्राग्रोतकवंशोत्थः श्री पासातनयः कृती।
वर्धतां टोडरः साधू रसिकोऽत्र कथामृते ॥

जंबूस्वामी चरित्र सं० ४

५. जंबू स्वामि चरित ७३ से ७७ श्लोक पृ० ६

आगरा में एक जिन मंदिर का निर्माण कराया था, जिसका उल्लेख कविवर भगवतीदास अग्रवाल (सं० १६५१–१७००) ने अपनी वि० सं० १६५१ सन् १५६४ में रची जाने वाली 'अर्गलपुर जिन-वन्दना' नाम की कृति में किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि साहु टोडर ने उक्त मन्दिर सं० १६५१ से पूर्व ही बनाया था। उनके उस मन्दिर में उस समय आत्म-साधिका हमीरी बाई नाम की एक ब्रह्मचारिणी रहती थी, जिसका तपश्चरण से शरीर क्षीण हो रहा था और जो सम्मेद शिखर की यात्रा करके वापिस आई थी।

मथुरा के ५१४ स्तूपों का जीर्णोद्धार कार्य

एक समय साहु टोडर सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने मथुरा गये थे। वहां उन्होंने मध्य में बना हुआ जम्बू स्वामी का स्तूप देखा, और उसके चरणों में विद्युच्चर मुनि का स्तूप देखा, तथा आस-पास बने हुए अन्य साधुओं के स्तूप देखे, जिनकी संख्या कहीं पांच, कहीं आठ, कहीं १० और कहीं २० भी थी। साहु टोडर ने उनकी जीर्ण-शीर्ण दशा देखी, जिससे उन्हें दुःख हुआ और तत्काल ही उनके समुद्धार की भावना बलवती हो उठी। फलतः उन्होंने शुभ दिन शुभ लग्न में उनके समुद्धार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। साहु टोडर ने इस पुनीत कार्य में बहुत भारी द्रव्य व्यय किया और ५०१ स्तूपों का एक समूह और तेरह स्तूपों का दूसरा इस तरह कुल ५१४ स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के पास ही १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। इनकी प्रतिष्ठा का कार्य वि० सं० १६३० (ई० सन् १५७३) में द्वादशी बुधवार के दिन प्रातः ६ घड़ी व्यतीत होने पर सूरि मन्त्र पूर्वक किया[2]। उस समय साहु टोडर ने चतुर्विध संघ को आमन्त्रित किया था और सभी ने साहु टोडर को शुभाशीर्वाद दिया था। संवत् १६३२ में इन्होंने कविराजमल जी से जम्बूस्वामिचरित की रचना करवाई थी। अन्वेषण करने पर साहु टोडर के और भी धार्मिक कार्यों का परिचय मिल सकता है।

साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र रिषीदास या ऋषभदास ने अपने सुनने के लिए ज्ञानार्णव की संस्कृत टीका आगरा के तात्कालिक विद्वान पं० नयविलास से बनवाई थी। पं० नयविलास जो संस्कृत के सुयोग्य विद्वान थे, और उस समय आगरा में ही रहते थे। आगरा में अनेक विद्वान, भट्टारक और श्रेष्ठिजनों का आवास था, जो निरन्तर अपने धर्म का अनुष्ठान करते हुये जीवन यापन करते थे।

पांडे राजमल ने साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र ऋषभदास के लिये पंचाध्यायी के निर्माण करने का विचार किया था, किन्तु उनके दिवंगत हो जाने से वह कार्य पूर्ण न हो सका। इस तरह साहु टोडर और उनके परिवार में जैन धर्म की आस्था और धर्मानुष्ठान होता रहा।

भादानक देश के श्री प्रभुनगर में अग्रवाल वंशी मित्तल गोत्रीय साहु लखमदेव के चतुर्थ पुत्र

---

१. टोडरसाहु करायो जिनहर रह हमीरी बाई हो।
तपलंकृत वपु अति कृशकाया जात शिखरि कर आई हो।
जात शिखरि कर आई वतिका विहि थल पूज कराई,
वंदो देव जिनेश जगत्पति मस्तकु मेइणि लाई।
देखो जैन संदेश शोधांक भी० २३ सं० २५ पृ० १६१

२. शतानां पंच चापैकं शुद्धं चाथित्रयोदश। स्तूपानां तत्समीपे च द्वादशकारिकादिकम्॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात। शुद्धं स्त्रिंश साधिकं दधति स्फुटम्॥
—जंबू स्वामि चरित ११८, ११६ पृ०१३

थील्हा हुए। इनकी माता का नाम महादेवी था। प्रथम धर्मपत्नी का नाम कोल्हाही और दूसरी का नाम आसाही था। आसाही से त्रिभुवनपाल और रणमल नाम के पुत्र उत्पन्न हुए थे। थील्हा के पांच भाई और भी थे। जो खिउसी, होलू, दिवसी, मल्लिदास और कुन्दादास नाम से प्रसिद्ध थे। ये सभी जैन धर्म के उपासक और श्रावकोचित कर्तव्य का पालन करते थे।

लखमदेव के पितामह साहु होलू ने जिन बिम्ब प्रतिष्ठा कराई थी। उन्हीं के वंशज थील्हा के अनुरोध से कवि तेजपाल ने उक्त 'संभवनाथ चरित' की रचना संवत १५०० के आस-पास की थी।

रोहतक निवासी चौधरी देवराज जिनकी जाति अग्रवाल और गोत्र सिंगल (संगल) था और पिता का नाम साह महणा था, सं० १५७६ चैत्र शुक्ला पंचमी शनिवार के दिन कृतिका नक्षत्र के शुभयोग में पार्श्वनाथ के मन्दिर में कवि माणिक्य-राज से अमरसेन चरित्र का निर्माण कराया था।

कवि रइधू ने तो अग्रवाल वंशी श्रावकों की प्रेरणा से अनेक ग्रंथों की रचना की, तथा प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न किये जिनका उनके द्वारा रचित ग्रंथ प्रशस्तियों में विस्तृत परिचय दिया हुआ है।[1] इनके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान किया जाय तो एक बड़े ग्रंथ का निर्माण किया जा सकता है। दिल्ली के राजा हरसुखराय और सुगनचन्द ने जो शाही खजांची, राज्यमान्य और समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, हिसार के निवासी थे उस समय जैनधर्म और जैनसमाज की प्रतिष्ठा के। अनेक महनीय कार्य किये। जिनमन्दिरों का निर्माण कराया और परोपकार आदि के महत्वपूर्ण कार्य किये।[2] जिनसे उनकी महत्ता का स्पष्ट भान होता है। उनका परिचय अनेकान्त में दिया गया है। हस्तिनापुर के विशाल मन्दिर का निर्माण भी उन जैसे साहसी और भद्र परिणामी नररत्नों का ही कार्य था। इतना सब धार्मिक कार्य करने के पश्चात् भी उन्होंने अपना नाम कहीं अंकित नहीं कराया। उनके द्वारा निर्मित धार्मिक स्थान उनकी उदारता एवं निस्पृहता के द्योतक हैं।[3]

लाला जंबू प्रसादजी सहारनपुर, बड़ी ही भद्र प्रकृति के मानव थे। उनकी धार्मिक परिणति प्रसंशा के योग्य थी। उन्होंने मन्दिर निर्माण के साथ अच्छा शास्त्र भंडार भी बनाया था, धवलादि ग्रंथों की प्रतियां दस हजार रुपया में खरीद की थी, तत्त्वार्थ राजवार्तिक की टीका पंडित पन्नालालजी न्यायदिवाकर से बनवाई थी और दस हजार रुपया उपहार स्वरूप भेंट किया था। उनके पुत्र प्रद्युम्नकुमार ने भी पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य से श्लोकवार्तिक की टीका बनवाई. और उसके लिये यथेष्ट द्रव्य खर्च किया। वर्तमान में श्रावक शिरोमणि साहु शांतिप्रसादजी का सांस्कृतिक कार्य भी प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। मंदिरों का जीर्णोद्धार कार्य, और संस्थाओं के संचालन में अर्थ का सहयोग, साधर्मी वात्सल्य सहयोग आदि कार्य उनकी उदारवृत्ति के परिचायक हैं। दिल्ली, पानीपत, सुनपत करनाल, हिसार, हांसी, सहारनपुर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, आदि अनेक शहरों और कस्बों आदि में निवास करने वाले अधिकांश अग्रवाल ही हैं उन सब की धार्मिक परिणति आदि कार्य उल्लेखनीय हैं। इस तरह अग्रवालों का जैनधर्म के प्रचार तथा प्रसार में अच्छा योगदान रहा है। उसका कुछ आभास ऊपर के कुछ परिचय पर से मिल सकता है।

---

१. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह दूसरे भाग की प्रस्तावना

२. अनेकान्तवर्ष १५ किरण १

३. अनेकान्तवर्ष १३ किरण

अग्रवाल जैन कवियों की साहित्य-सेवा

जैन संस्कृति के प्रसार और प्रचार में केवल श्रावकों ने ही योग नहीं दिया है किन्तु समय समय पर अनेक अग्रवाल जैनकवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा लोक कल्याण की भावनाओं को प्रोत्तेजन दिया है। इतना ही नहीं किन्तु तात्कालिक रीति-रिवाजों के साथ अपनी धार्मिक भावनाओं को वृद्धिगत किया है।

कवि श्रीधर हरियाना देश के निवासी थे और अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। आपके पिता का नाम 'गोल्ह' और माता का नाम 'बील्हा देवी' था। कवि ने अपनी गुरुपरम्परा और जीवनादि की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया। कवि हरियाना से जमना (यमुना) नदी को पार कर योगिनीपुर (दिल्ली) आया था और उसने अनंगपाल तृतीय के मंत्री नट्टल साहु के अनुरोध से संवत् ११८९ में 'पासणाह चरिउ' की रचना की थी। इस ग्रंथ में कवि ने अपनी एक अन्य रचना 'चन्द्रप्रभचरित' का उल्लेख किया है। इस खण्ड काव्य में पार्श्वनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है और अन्तिम प्रशस्ति में ग्रंथ निर्माण में प्रेरक नट्टल साहु के परिवार का परिचय कराया गया है। कवि की एक अन्य रचना 'वड्ढमाणचरिउ' नामक खण्ड काव्य है जिसमें जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जीवनचरित दिया हुआ है, जिसे कवि ने सं० ११९० में बनाकर समाप्त किया था। इस ग्रंथ की एक प्रति ब्यावर के ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन में मौजूद है।

दूसरे कवि सधारू हैं। इनके पिता का नाम साह महाराज और माता का 'सुधनु' था, जो गुणवती थी। कवि एरच्छ नगर के निवासी थे। इनकी बनाई हुई एकमात्र कृति 'प्रद्युम्न चरित' है जिसमें यादव वंशी श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित अंकित किया गया है। यह एक सुन्दर चरित काव्य है, यह ग्रन्थ श्री महावीर अतिशय क्षेत्र की ओर से पं० चैनसुखदास जी और डा० कस्तूर चंदजी के संपादकत्व में प्रकाशित हो चुका है।

तीसरे कवि बुधश्रीस हैं जो साह तोतू के पुत्र थे, तथा भट्टारक हेमचन्द के शिष्य थे। इन्होंने धर्मचक्र पूजा सं० १५८६ में रोहतक नगर के पार्श्वनाथ मन्दिर में बनाकर समाप्त की थी। इनकी दूसरी रचना 'बृहत्सिद्धचक्र पूजा' है जिसे कवि ने वि० सं० १५८४ में देहली के मुगल बादशाह बाबर के राज्य काल में रोहतक के उक्त पार्श्वनाथ मन्दिरमें बनाई थी। इनकी दो कृतियों के नाम और मिलते हैं। 'नन्दीश्वर पूजा' और ऋषिमंडल यन्त्र-पूजा-पाठ। ये दोनों ही ग्रंथ अभी मेरे देखने में नहीं आये इस कारण उनके सम्बन्ध में यहां कुछ कहना संभव नहीं है।

चौथे कवि प्रथ्वीपाल हैं, जो गर्गगोत्री और पानीपत के निवासी थे। इन्होंने सं० १६९२ में ३९ पद्यों में 'श्रुतपंचमीरास' की रचना थी।

पांचवें कवि 'नन्दलाल' या नन्द हैं, जो आगरा के पास गोसना नामक स्थान के निवासी थे। इनका गोत्र गोइल था। पिता का नाम भैरों या भैरोंदास और माता का नाम चन्दा देवी था।[1] कवि की दो कृतियां मेरे देखने में आई हैं और दोनों ही रचनाएं सुन्दर हैं। प्रथम रचना यशोधर चरित्र में महाराज यशोधर का चरित वर्णित है। कथानक पुराना होते हुए भी उसमें काव्यत्व की दृष्टि से नयापन लाने का प्रयत्न किया गया है। भाषा में प्रसाद और गतिशीलता है। कवि ने इसे सं० १६७० में श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन बनाकर समाप्त किया था। इनकी दूसरी कृति 'सुदर्शन चरित' है जिसमें सुदर्शन के चरित्र का चित्रण किया गया है। कथानक पर नयनन्दी

---

१. अगरवाल वरवंश गोसुना गांव को, गोइल गोत प्रसिद्ध ता ठांव को।
माता चन्दा नाम पिता भैरों मन्यो, 'नन्द' कही मन मोद गुनी गुनन गिन्यो ॥

के 'सुदंसरण चरित्र' का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा और भाव दोनों का चयन सुन्दर है। ग्रंथ चोपाई छन्द में लिखा गया है। कवि ने इस ग्रंथ को सं० १६६३ में माघ शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन बनाकर समाप्त किया था। दोनों ही ग्रन्थ अकबर के पुत्र जहांगीर के राज्य में रचे गए हैं।

छठवें कवि 'भगवतीदास' हैं। इनका गोत्र 'वंसल' था। यह बूढिया [1] जिला अम्बाला के निवासी थे। इनके पिता का नाम किसन दास था, उन्होंने चतुर्थवय में मुनिव्रत धारण कर लिया था। यह बूढिया से जोगिनीपुर (दिल्ली) चले गए थे। उस समय देहली में अकबर के पुत्र जहांगीर का राज्य था। उस समय देहली की भट्टारकीय गद्दीपर भट्टारक सकलचन्द्र के पट्ट शिष्य मुनि महेन्द्रसेन विराजमान थे, जो भ० गुणचन्द्र के प्रशिष्य थे। दिल्ली के मोती बाजार में जिन मन्दिर था, जिसमें भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति विराजमान थी। [2] कविवर वहीं पर रहते थे। कवि की अनेक कृतियाँ उपलब्ध है। उनमें कुछ तो इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं एक स्वतंत्र ग्रन्थ का रूप ले लती हैं। और छोटी छोटी अनेक फुटकर रचनाएं है जो समय समय पर रची गई हैं। ये सब रचनाएं एक ही स्थान पर नहीं रची गईं; किन्तु दिल्ली, आगरा, हिसार, सहजादपुर, बूढिया, कपिस्थल, संकिसा आदि स्थानों में लिखी गई हैं। कवि की सबसे प्रथम रचना 'अर्गलपुर जिन वन्दना' है जिसे कवि ने सं० १६५१ में आगरा में बनाई थी, उसमें आगरे की यात्रा का समाचार अंकित है। मुक्ति रमणी चूनड़ी सं० १६८०, बृहत् सीता सतु सं० १६८४, लघुसीता सतु सं० १६८७, अनेकार्थ नाममाला सं० १६८७, मृगांकलेखा चरित सं० १७००। इन रचनाओं के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में रचना संवत् दिया हुआ नहीं है। इससे उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा सकता। मनकरहारास, जोगीरास, टंडाणा रास, चतुर वनजारा, आदित्यव्रत रास, दशलक्षण रास, साधुसमाधिरास, रोहिणीव्रतरास, द्वादशानुप्रेक्षा, सुगंधदशमीकथा, अनथमीकथा, रजनी-ढमाल, आदिनाथस्तवन, शान्तिनाथ स्तवन, दिल्ली की राजावली, राजमती नेमीश्वर ढमाल, सांवलागीत, मनसूवागीत, वीरजिनिंदगीत, चौमासागीत, मधुकरगीत, वणजारा गीत, मुक्तावलीरास, दिवाली ढाल गीत, कर्मचेतनहिंदोला, कर्मप्रकृति हिंदोला, रतिनवेली वारहमासा, वैरागीलाल बारहमासा, वारहमासा और अनेक पद, मनहरणगीत, भमरागीत, बावनी, आदि अनेक फुटकर रचनाएं अजमेर के एक गुच्छक में संगृहीत हैं। वैद्यविनोद और ज्योतिषसार ये दोनों ग्रंथ कारंजा भंडार में

---

१. बूढ़िया पहले एक छोटी सी रियासत थी, जो धन धान्यादि से खूब समृद्ध नगरी थी। जगाधरी के बस जाने से बूढिया की अधिकांश आबादी वहां से चली गई, आज कल वहां खंडहर अधिक हो गए हैं, जो उसके गत वैभव की स्मृति के सूचक हैं।

२. गुरु मुनि माहिंदसेन भगौती, तिस पद पंकज रैन भगौती।
किशनदास वणि तनुज भगौती, तुरिये गहिउ व्रत मुनिजु भगौती ॥८२
नगर बूढिए वसै भगौती, जन्मभूमि है आसि भगौती।
अग्रवाल कुल वंसल गोती, पंडितपद जन निरख भगौती ॥८३
जोगनिपुर राजै, राय-खौरि नित नौवत बाजै।
प्रतिमा पार्श्वनाथ धनवंता, नागरनर पवर मतिवंतां ॥८४
मोतीहट जिन भवन विराजै, प्रतिमा पार्श्वनाथ की साजै।
श्रावक सुगुन सुजान दयाल, षट जिय जाम करै प्रतिपाल ॥ ८५ —बृहत् सीता सतु

स्थित हैं कवि की समस्त रचनाएं सुन्दर, स्वपर-सम्बोधक और उपदेशक हैं।

सातवें कवि पांडे रूपचन्द हैं। इनका गोत्र 'गर्ग' था। इनका जन्म कुरु देश के 'सलेमपुर' नामक स्थान पर हुआ था। इनके पितामह का नाम 'मामट' और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दूसरी पत्नी से रूपचन्द का जन्म हुआ था। इनके चार भाई और भी थे हरिराज, भूपति, अभयराज और कीर्तिचन्द। इन्होंने बनारस में शिक्षा पाई थी। यह विद्वान कवि थे और अध्यात्म के प्रेमी थे। इनकी कृतियां परमार्थी दोहाशतक, मंगल गीत प्रबन्ध, नेमिनाथरासा, खटोलनागीत और आध्यात्मिक पद हैं समवसरण पाठ (केवलज्ञान कल्याणार्चा) इनकी संस्कृत की रचना है, जिसे उन्होंने संवत् १६६२ में बनाकर समाप्त किया था। इनकी मृत्यु सं० १६६४ में हुई थी। यह आगरे में आये थे और तिहुन साहु के मंदिर में ठहरे थे। कविवर भगवतीदासने अपनी 'अर्गलपुर जिनवन्दना' में इसका उल्लेख किया है। कवि रूपचन्द जी से सब अध्यातमियों ने गोम्मट-सार वंचवाया था, उसी से बनारसीदास और उनके साथी जैन धर्म में दृढ़ हुए थे और उनका अध्यात्मरोग दूर हुआ था।

आठवें कवि भाऊ हैं, जो नहनगढ़ या त्रिभुवन-गिरि के निवासी थे। इनके पिता का नाम 'मल्लू' साह था। इनका गोत्र 'गर्ग' था। इस समय तक इनकी तीन चार रचनाओं का पता चला है इनमें से आदित्यवार कथा तो मुद्रित हो चुकी है। दूसरी रचना नेमिनाथ रास है, जिसमें नेमिनाथ और राजुल का जीवन-परिचय अंकित है। तीसरी रचना पार्श्वनाथ कथा है जो जयपुर के तेरापंथी बड़े मन्दिर के गुच्छक नं० १६३ में दर्ज है लिपि १७०४ है (ग्रन्थ सूची भ० २ पृ० ३५५) चौथी रचना पुष्पदन्त पूजा है कवि ने रचनाकाल नहीं दिया। कवि का समय १६ वीं १७ वीं शताब्दी जान पड़ता है।

नौवें कवि जगजीवन हैं—यह आगरा के निवासी और संघवी अभयराज तथा मोहनदे के पुत्र थे। संघवी अभयराज ने आगरा में जिन मंदिर का निर्माण कराया था। जगजीवन विद्वान और कवि थे और जाफरखां के दीवान थे। जाफरखां शाहजहां का उमराव था जो पंचहजारी मनसब को प्राप्त था। जग जीवन पर लक्ष्मी का वरद-हस्त था। यह विद्वानों की संगति में बैठते और तत्व चर्चा करते थे। पांडे हीरानन्द जी से इनका घनिष्ठ संबंध था। संवत् १७०१ में इनकी प्रेरणा से समवसरण पाठ बनाया था उसकी एक प्रति उक्त संवत १७०१ की दिल्ली के नये मन्दिरजी में मौजूद है। पंचास्तिकाय का पद्यानुवाद भी बनवाया था। जगजीवन ने सं० १७०१ में बनारसीदास की कविताओं का संकलन कर बनारसी विलास नाम दिया था। आपके अनेक पद और एकीभावस्तोत्रादि के पद्यानुवाद मिलते हैं।

दशवें कवि बंशीदास हैं, जो फातिहाबाद नगर के निवासी थे। भट्टारक विशाल कीर्ति के शिष्य थे कवि ने सं० १६६५ ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया के दिन 'रोहिणी विधि कथा' की रचना की है।

ग्यारह वें कवि हेमराज हैं, जो 'गर्ग' गोती और आगरा के निवासी थे। ये अच्छे विद्वान टीका-कार और कवि थे और अध्यात्म की चर्चा करने में निपुण थे। इन्होंने अपनी पुत्री जैनुलदे को, जो गुण शील से सम्पन्न और रूपवान थी, खूब विद्या पढ़ाई की। हेमराज ने उसका विवाह नन्दलाल से किया था जो उस समय बयाना से आकर आगरा में रह रहे थे। इन्होंने प्रवचनसार की टीका सं० १७०६ में, ज्ञाता कुंवरपालन के अनुरोध से बनाई थी। और पंचास्तिकायकी टीका सं० (१७२१) में रूप-चन्द्रजी के प्रसाद से बनाई थी। परमात्मप्रकाश की

टीका सं० १७१७ में भक्तामरस्तोत्र का पद्यानुवाद भी आपकी कृति है, कर्मप्रकृति की हिन्दी टीका (सं० १७१७) में और श्वेताम्बर चौरासी बोल भी आपने बनाये थे।

बारहवें कवि **बुलाकीदास** या बूलचन्द हैं, जो नन्दलाल और जैनुलदे के पुत्र थे। इनके पितामह का नाम श्रवणदास और माता का नाम जैनुलदे या जैनी था जो अत्यन्त विदुषी थी। पं० बूलचन्द ने दिल्ली के जयसिंहपुरा में पंडित अरुण-मणि से विद्या प्राप्त की थी। अरुन्मणि ने इन्हें हित के साथ विद्या पढ़ाई की। इन्होंने अपनी माता की आज्ञा से 'पाण्डवपुराण' संवत १७५४ में बनाया था, और प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के तीन हिस्से जहानाबाद में सं० १७४७ में और चौथा हिस्सा पानीपत में सं० १७६६ में समाप्त किया था।

तेरहवें कवि **दरिगह मल** हैं, जो वत्सदेशान्तर्गत 'सहजादपुर'[1] नामक नगर के निवासी थे, जो गंगा के तट पर बसा हुआ था। इनका गोत्र 'गर्ग' था। ये काष्ठासंघ माथुर गच्छ पुष्करगण के भट्टारक कुमार सेन की आम्नाय के विद्वान थे, जो सेठ सुदर्शन के समान दृढ़व्रती थे। इनके पुत्र का नाम विनोदीलाल था। आपके बनाये हुए पद और जकड़ी हैं जो स्व-पर-सम्बोधक हैं। जकड़ी प्रकाशित हो चुकी हैं।

चौदहवें कवि **विनोदीलाल** हैं, इनके परदादा का नाम 'मंडन' और दादा का नाम 'पारस' था और पिता का नाम 'दरिगहमल्ल' था। विनोदीलाल जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और कवि थे। उन्होंने लिखा है कि—"द्वै पन आयु वृथा मुझ गई, तीजे पन कुछ शुभमति भई।" इससे स्पष्ट है कि कवि की आयु के दो भाग बीत जाने पर जैन धर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुए थे और तभी रचनाओं की ओर चित्त लगाया था। उनकी जो रचनाएं मेरे अवलोकन में आई है, उनका उल्लेख निम्न प्रकार है—

१ भक्तामर कथा स० १७४७, २ सम्यक्त्व कौमुदी सं० १७४९, ३ सिद्धचक्र कथा सं० १७५० में औरंगजेब के राज्यकाल में बनाकर समाप्त की है। यद्यपि यह संस्कृत रचना का पद्यानुवाद मात्र है, फिर भी उसमें सरसता है दोहा, चौपाई सोरठा, अडिल्ल, त्रोटक आदि अनेक छन्दों में रची गई है। कवि ने उसकी प्रशस्ति में अपना परिचय भी अंकित किया है। ४ राजुल पच्चीसी

---

१. प्रस्तुत सहजादपुर प्रयाग या इलाहाबाद के पास गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहां अग्रवाल श्रावको के अनेक घर थे, जैन मन्दिर था। १७वीं शताब्दी के कवि भगवतीदास अग्रवाल ने भी वहां रह कर रचना की थी।

२. नामक था श्रीपाल दिनोद, पढत सुनत मन होय प्रमोद।
जाति वानिया अग्गरवार, गोत अठारह में सिरदार॥
अनखचून मुझ अल्लि महान, गर्ग गोत्र जदुवंश प्रधान।
पर दादे को 'मंडन' नाम, कुल मण्डन हुओ सो धाम॥
दादो 'पारस' तासु समान, यथा नाम तैसे गुण जान।
दरिगहमल्ल तात मुझ तनों, शील सुमेरु सुदर्शन मनो॥
ताको अनुज विनोदीलाल, मैं यह रचना रची विशाल।
× × × ×
संवत सत्रह से पचास, द्वेज उजारी अगहन मास।
रवि वासर पाई शुभ धरी, ता दिन कथा संपूरन भई।

५ नेमिनाथ ब्याहुला, ६ फूलमाल पच्चीसी ७ नेमिनाथ बारहमासा और अनेक पद भी बनाये हुए हैं। सभी रचनाएं सम्बोधक और सुरुचिपूर्ण हैं।

पन्द्रहवें कवि द्यानतराय हैं,[1] जो आगरा के निवासी थे। इनका गोत्र 'गोयल' था। कवि के पूर्वज जलालपुर से आकर आगरा में बसे थे। कवि के पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था। कवि का जन्म सं० १७३३ में हुआ था। बाल अवस्था में इनका लालन-पालन बड़े प्रेम से हुआ, और प्रारम्भिक शिक्षा भी मिली। उस समय उनकी जैनधर्म में कोई रुचि नहीं थी, किन्तु वे पिता से आगत धर्म का ही आचरण करते थे। दैवयोग से कविवर के पिता का सं० १७४२ में अचानक स्वर्गवास हो गया। उस समय कवि की अवस्था ६ वर्ष की थी। पिता के स्वर्गवास का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, और घर-गृहस्थी का सारा भार अल्प अवस्था में उठाने को मजबूर होना पड़ा। परन्तु आत्मीयजनों और दूसरे साधर्मीजनों के सहयोग से कुछ समय अपना कार्य करते हुए भी शिक्षा की ओर अग्रसर रहे। तेरह वर्ष की उम्र में इनका परिचय पं० बिहारीलाल और शाह मानसिंह जी से हो गया। दोनों ही महानुभाव जैनधर्म के अच्छे जानकार थे और शक्त्यनुसार उस पर अमल भी करते थे। उस समय आगरा में अध्यात्म शैली का बहुत जोर था। यत्र-तत्र जैन धर्म की चर्चा खूब चलती थी। आगरा विद्वानों के समागम और तत्वचर्चा का केन्द्र सा बन गया था। फलतः वहां उस समय यदि कोई हाकिम या सद्‌गृहस्थ पहुँच जाता था तो वह उन विद्वानों की सत्संगति से जरूर लाभ उठाने का प्रयत्न करता था। अध्यात्मरस की सरस चर्चा नवागन्तुक व्यक्ति पर अपना प्रभाव अछूता नहीं छोड़ती थी। वह उनके सरस व्यवहार और तत्वचर्चा से आत्म-विभोर हुए बिना नहीं रहता था। उसकी अभिलाषा सत्समागम से लाभ उठाने की प्रति समय रहती थी। परिणामस्वरूप उसका धार्मिक शैथिल्य दूर होकर श्रद्धा में दृढ़ता ला देता था। वह जैन धर्म का श्रद्धालु और अपने मानव जीवन को ऊँचा उठाने की भावना को हृदयंगम कर लेता था। द्यानतरायजी उन दोनों की शिक्षा से मानव जीवन की सफलता के रहस्य को पागये और प्राकृत संस्कृत के अच्छे विद्वान बन गये। वे जैन धर्म का परिज्ञान कर उसकी शरण में आगए। सं० १७४८ मे १५ वर्ष की अवस्था में कवि का विवाह हो गया, और वे गृहस्थ जीवन की सुदृढ़ सांकलों से जकड़ दिये गये, जिसमें राजी होकर जीव अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। कवि ने १६ वर्ष की अवस्था में अर्थात् सं० १७५२ में कार्तिक वदी त्रयोदशी के दिन आगरा में 'सुबोध पंचासिका' बनाई, और सं० १७५८ में उपदेश शतक, छहढाला सं० १७५८, और सं० १७८० में धर्म विलास, जिसमें ४५ रचनाओं का संकलन किया गया है। ३३३ आधात्मिक स्व-पर-सम्बोधक पद, चर्चा शतक बड़ी सुन्दर कृति है। सं० १७८१ में आगम विलास की रचना हुई, जिसमें १५२ सवैया तथा ५५ अन्य छोटी-छोटी रचनाओं का संग्रह है। जिनमें प्रतिमा वहतरी सं० १७८१ में दिल्ली में बनाकर समाप्त की है। संवत् १७८३ मे कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के दिन कवि ने साम्यभाव से अपने जड़ शरीर का परित्याग किया था।[1] कवि की मृत्यु के बाद उनकी कृतियों का चिट्ठा उनके पुत्र लालजी ने आलमगंज वासी किसी झाझू नामक व्यक्ति को दे

१. विशेष परिचय के लिये देखो अनेकान्त वर्ष ११ किरण ४-५ पृ० १६१

१. संवत विक्रमन्टपति के गुण वसु शैल सितंश।
कातिक सुकल चतुरदशी द्यानत सुर गंदृश ॥

दिया था। मालूम होने पर पं० जगतराम ने उससे छीनकर मोतीकटले में रक्खा, और रचनाओं के नष्ट होने के भय से सं० १७८४ में माघ सुदी १४ को मैनपुरी में समाप्त किया है।

सोलहवें कवि **बासीलाल** हैं, जो दिल्ली के निवासी थे इन्होंने सेठ सुगनचन्द जी के विद्वान पुत्र गिरघरलालजी से, जो प्राकृत संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। और नये मन्दिर जी में शास्त्र प्रवचन किया करते थे। प्राकृत वैराग्य शतक का हिन्दी अर्थ जानकर जीवसुखराय की प्रेरणा से उन्हीं के पठनार्थ हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया था। कृति का रचना काल सं० १८८४ पोषसुदि दोइज है। दोहे रोचक और भाव पूर्ण है।

सत्रहवें कवि **जगतराय** हैं जो सिघल गोत्री थे। इन्होंने संवत् १७२२ में पद्मनंदि पच्चीसी का पद्यानुवाद किया था।

अठारहवें कवि **सन्तलाल** हैं जो नकुड़ जिला सहारनपुर के वासी थे। इन्होंने सिद्धचक्र का पाठ हिन्दी पद्यों में बनाया है। इनका जन्म सं० १८३४ में हुआ था और मृत्यु सं० १८८६ में ये अंग्रेजी भाषा के भी विद्वान थे।

इनके अतिरिक्त पं० **हरगुलालजी** खतौली, बखावरलाल **रत्नलालजी** दिल्ली, पं० **मेहरचन्दजी** सुनिपत, पं० **ऋषभदासजी** चिलकाना (मिथ्यातिमिरनाशक नाटक के कर्ता) पं० **मंगतराय** जी आदि अनेक विद्वान हैं, जिनका परिचय लेख वृद्धि के भय से छोड़ा जाता है।

पं० **निहालचन्दजी** अग्रवाल ने सं० १८६७ में नयचक्रपर भावप्रकाशिनी टीका लिखी थी।

नन्दराम गोयल गोत्री ने सं० १९०४ में योगसार टीका फाल्गुन सुदी ६ वीं चन्द्रवार के दिन) आगरा के ताजगंज के पार्श्वनाथ चैत्यालय में श्रावकोतम ठाकोरदास, रिषभदास और पन्नालाल के उपदेश से बनाई थी।

इस तरह अग्रवाल समाज द्वारा जैनधर्म की सेवा, उसके विस्तार एवं प्रचार आदि का कार्य किया जाता रहा है। इस लेख में सं० ११८९ से अब तक के समय में होने वाली धर्म और साहित्य सेवा का उल्लेख किया गया है। कितने ही विद्वानों का परिचय लेख वृद्धि के भय से नहीं दिया जा सका। इससे पाठक सहज ही अग्रवालों के जैनधर्म के प्रचार तथा प्रसार में योगदान का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। वर्तमान में भी अग्रवालों की जैनधर्म के प्रति रुचि और जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार का कार्य चल रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, जैन सिद्धांत भवन आरा, और भारतीय ज्ञानपीठ काशी अपना कार्य कर ही रहे हैं। ज्ञानदान और औषधिदान में अनेक संस्थाओं के अतिरिक्त दिल्ली का परिन्दों का हस्पताल भी उल्लेखनीय है। वर्तमान में भी इस समाज में अनेक गण्यमान पुरुष हैं जिन का अधिकांश जीवन समाज और साहित्य-सेवा में व्यतीत हुआ है अथवा हो रहा है जिनमें बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता तथा पं० जुगल किशोर जी मुख्तार आदि के नाम से सारा समाज परिचित है। वास्तव में ही अग्रवाल समाज का जैनधर्म और साहित्य के प्रचार तथा प्रसार में जो योगदान रहा है वह प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

× × × ×

हिन्दी का आदिकाल और जैन-साहित्य

• डा० छविनाथ त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य का आदिकाल सामान्य रूप से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल के अनेक नाम हिन्दी के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। सबके पास तत्कालीन उपलब्ध सामग्री थी अपने तर्क थे। किसी ने उसे वीर गाथा काल कहा, किसी ने सिद्ध सामन्त काल और अब उसे उत्तर अपभ्रंश काल कहा जाता है। सर्व प्रथम पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बताया कि विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है. विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं। एक ही विभक्ति 'हुँ' या 'आहुँ' कई काम देने लगी।' इसी विचार का समर्थन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदि काल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तर कालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।' 'बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरु हो गया था।'[१] 'बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इस लिये इस काल को अपभ्रंश का बढ़ाव काल कहना ही उचित है।'[२]

इन विचारों की अभिव्यक्ति के उपरान्त भी अनुसंधान कार्य चलता रहा है; अनेक ऐसी कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं जो हिन्दी साहित्य के आदिकाल के स्वरूप, नाम, भाषा आदि पर प्रचुर प्रकाश डालती हैं। आचार्य शुक्ल के समय पृथ्वीराज रासो बीसल देव रासो, विद्यापति की पदावली तथा कुछ अन्य ऐसी रचनायें उपलब्ध थीं जो अपूर्ण और अर्ध प्रामाणिक थीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सूची में कुछ और वृद्धि की और संदेश रासक के महत्त्व पर प्रकाश डाला। इस काल के ग्रन्थों की सूची निरन्तर बढ़ती गई है और नये अनुसंधान के साथ साथ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल को अपभ्रंश का बढ़ाव मान लेने पर दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक की सम्पूर्ण कृतियों का, चाहे वे अपभ्रंश में हों या डिंगल में, प्राचीन गुजराती में हों या मैथिली में, विवेचन अपेक्षित है और यह निर्णय करना अधिकारी विद्वानों का कार्य है कि किन किन कृतियों को हिन्दी साहित्य के आदिकाल में समाविष्ट किया जा सकता है या किया जाना चाहिये। यह कार्य अभी शेष है और खेद की बात है कि इस पर कार्य नहीं हो रहा है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की उपलब्ध सामग्री को पांच वर्गों में रखा जा सकता है—(१) नाथ पंथी और सिद्ध साहित्य (२) रासो और रास या रासक काव्य (३) उत्तर अपभ्रंश का जैन साहित्य (४) हिन्दी की उपभाषाओं का साहित्य तथा (५) प्राचीन गुजराती साहित्य (यदि वे डिंगल या प्राचीन हिन्दी के समीप हों)। इन वर्गों में से

१. द्रष्टव्य-हिन्दी साहित्य का आदि काल-पृ० २२
२. वही—पृ० २४।

हिन्दी की उपभाषाओं में केवल मैथिली की रचनायें उपलब्ध हैं। नाथ पंथी और सिद्धों का साहित्य आदि-काल की महत्त्वपूर्ण सामग्री है। शेष तीन वर्गों की कृतियां या तो जैन साहित्य के अन्तर्गत आती हैं या इस धारा से पूर्णतः प्रभावित हैं।

रास या रासक

रास या रासक के सम्बन्ध में विविध मत प्रचलित हैं। हिन्दू परम्परा 'रास' से मंडलाकार नृत्य का बोध करती है और कृष्ण से इसका सम्बन्ध जोड़ लेती है। रास, चर्चरी आदि के प्राचीन उल्लेखों से इसका सम्बन्ध लोक जीवन और लोक नृत्यों से जोड़ लिया जाता है। डा० दशरथ ओझा सातवीं शताब्दी में इसका प्रचुर प्रचार स्वीकार करते हैं।[1] रिपुदारण रास के आधार पर ध्रुवक युक्तता इसका एक गुण भी सिद्ध करते हैं।[2] यह भी उन्होंने लिखा है कि ८वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक के मध्य कृष्ण रास लीला का प्रायः अभाव सा प्रतीत होता है।[3] अतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक जो रास काव्य लिखे गये उनका सम्बन्ध किसी भी प्रकार से कृष्ण रास से नहीं जोड़ा जा सकता है। उपलब्ध रास काव्य भी इसकी साक्षी नहीं देते। ये रास काव्य अधिकतर जैन कवियों द्वारा लिखे गये हैं; अतः इनकी रास सम्बन्धी धारणा का निर्णायक महत्त्व है। हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य काव्य के दो भेद किये हैं पाठ्य और गेय। पाठ्य में उन्होंने–नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक आदि। गेय में उन्होंने—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित राग काव्यादि।[4] इस विभाजन से स्पष्ट है कि प्रेक्ष्य तो दोनों वर्गों की कृतियां हैं पर द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रेक्ष्य-गेय (आजकाल का गीति-नाट्य) को रखा गया है और रासक उसका एक रूप है। हेमचन्द्र के पूर्व रासक के कई रूप प्रचलित थे। ताल रास, लगुड रास, चर्चरी आदि उसके विविध रूपों की चर्चा ही नहीं मिलती, पर अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू ने अपने प्रबन्धकाव्य पउम चरिउ में उसका प्रयोग भी किया है। उनके प्रयोग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रास केवल मंडलाकार नृत्य मात्र नहीं था। उनके समय यह ध्रुवक युक्त लोकगीतिनाट्य था। आवश्यकतानुसार प्रबन्ध काव्य में उसे अंग रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था। लगुड रास केवल डंडा लेकर ही नहीं, कोई भी शस्त्र लेकर दो व्यक्ति (पुरुष-पुरुष, या पुरुष-स्त्री) संपन्न कर सकते थे, हां गाने के लिये साथ में अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी। अभिनय (गीत के भावानुसार) दो व्यक्तियों का ही चल सकता था।

हेमचन्द्र के समय तक रासक का भी पाठ्य और गेय भेद नहीं बन सका था अपितु—गेय-प्रेक्ष्य (अभिनय युक्त) और गेय मात्र (अभिनय युक्त) भेद अवश्य बन चुका था और इसका प्रथम उदाहरण जिनदत्त सूरिका 'उपदेश रसायन रास' है जो गेय मात्र तो है पर गेयाभिनेय नहीं। यही स्थिति उनकी चर्चरी की है।

अपभ्रंश के जितने भी रास काव्य उपलब्ध हैं उनमें अद्दहमाण कृत 'संदेश रासक' को छोड़कर सभी जैन कवियों की रचनायें हैं। संदेश रासक विप्रलंभ शृंगार का रासक (गीति नाट्य) है और भरतेश्वर बाहुबली रास वीरानुप्राणित शान्त रस का रासक। उपदेश रसायन रास इस प्रकार के चरितों को जिनमें संसार से वैराग्य दिखाया गया हो नाट्य और नृत्य रूप में प्रस्तुत करने की अनुमति

१. द्रष्टव्य—रास और रासान्वयी काव्य-पृ० ३९
२. वहीं। ३ वही पृ० ४१
४. द्रष्टव्य—काव्यानुशासन-८।३,४॥

देता है जब कि वह सामान्य रूप से जैन मन्दिरों में रास का विरोध करता है।[1] भरतेश्वर बाहुबलि-घोर रास (वज्रसेन सूरि) बुद्धि रास (शालिभद्र सूरि), जीव दया रासु (आसिग), नेमिनाथ रास (सुमति गरिण), रेवंत गिरिरास (विजय सेन सूरि), गयकुमार रास (देवेन्द्र सूरि), आबू रास (अज्ञात) कच्छुली रास (प्रज्ञा तिलक), स्थूल भद्र फाग (आचार्य जिनपद्म), पंचपंडव चरित रास (शालिभद्र सूरि), नेमिनाथ फागु (राजशेखर सूरि), गौतम स्वामी रास (विनय प्रभ), बसन्त विलास फागु (अज्ञात) तथा चर्चरिका (अज्ञात) आदिकाल के वे रास काव्य हैं जो मुख्यत: जैन कवियों की देन हैं और जिनकी परम्परा में ही पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो तथा खुमान रासो आदि रचनायें प्रकाश में आई हैं। इसी परंपरा में अंब देव के समरा रास की भी गणना की जा सकती है जो एक जैन कवि की ही रचना है। इसमें संघपति समरा का चरित वर्णित है।

पृथ्वीराज रासो का संयोगिता स्वयंवर कैमास वध और पृथ्वीराज शहाबुद्दीन संघर्ष प्रसंग ऐतिहासिक और प्रामाणिक माना जाता है। प्रामाणिकता का आधार इतिहास को बनाया जाता है पर इस बात की प्रचुर संभावना विद्यमान है कि पृथ्वीराज के चरित को आधार बना कर छोटे छोटे रास काव्य लिखे गये होंगे और उनका एक स्थान पर संकलन कर दिया गया होगा। ये रास काल्पनिक घटनाओं को आश्रित कर लिखे जाने के कारण यदि इतिहास की कसौटी पर खरे नहीं उतरते तो इसमें उनका दोष ही क्या है? वीर रसेतर रास काव्यों की उपस्थिति के कारण वीसलदेव रासो के सीमित चार खण्डों को भी पूर्ण माना जा सकता है। शृंगार परकता उसे रासो परम्परा से पृथक नहीं कर सकती। मयण रेहा रास, चन्दन बाला रास भी छोटे चरित काव्य ही है जो रास के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

चरित और रास काव्यों का योग—

चरित काव्यों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। चरित नामधारी काव्यों के लिखे जाने के पूर्व के सभी महाकाव्य, चरित काव्य ही है। अश्वघोष का बुद्ध चरित महाकाव्य भी है और चरितनामधारी भी। जब कथा और आख्यायिका का प्रचलन हुआ तब 'हर्षचरित' जैसी कृतियों की रचना हुई। पद्मगुप्त का नव साहसांक चरित, क्षेमेन्द्र का दशावतार चरित, बिल्हण का विक्रमाङ्क देव चरित, हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, जयानक का पृथ्वीराज विजय आदि चरित काव्य संस्कृत में भी लिखे गये। जैन परम्परा में त्रिषष्टि शलाका पुरुषों के चरित को काव्य का आधार बनाना एक अप्रत्यक्ष निर्देश माना जाता था। इस लिये विस्तृत पौराणिक काव्यों से लेकर सामान्य जैन मुनियों के चरित तक संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में जैनचरित काव्य प्रस्तुत किये गये। पउम चरिउ, रिट्ठणेमि महावीर चरिउ, पासनाह चरिउ, मनोरमा चरिय, आदिनाह चरिय, नेमीनाह चरिय, सुपासना चरिय सुरसुन्दरी चरिय, जसहर चारिउ, णायकुमार चरिउ, केवली चरिउ, संतिनाह चरिउ, पुहवीचंद चरिउ, रयणचूडराय चरिय, मुनि सुव्वय चरिय, सणं कुमार चरिय प्रभृति सैकड़ों चरित काव्य जैन मुनियों और कवियों द्वारा प्रस्तुत किये गये। जहां प्राकृत और अपभ्रंश के चरित काव्य बड़ी संख्या में लिखे जा रहे थे, वहां संस्कृत काव्यों की रचना भी समानान्तर रूप से ही चल रही थी इन चरित काव्यों का उद्देश्य केवल काव्य कुशलता प्रदर्शित करना मात्र नहीं था, उनमें धार्मिक दृष्टि सन्निहित थी। उदाहरण के लिये महासेन की बहु-

---

१. धम्मिय नाडय पर नच्चिजहिं, भरह सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-बल-रायह चरियइँ, नच्चिव अंति हुंति पव्वइयइँ॥ उ० रा० ३७॥

चर्चित कृति प्रद्युम्न चरित को लिया जा सकता है। कवि के शब्दों में यह विचित्र अद्भुत काव्य भी है और श्रद्धा सहित पठ्यमान भी।[1] जैन मुनियों के चरित लेखन द्वारा 'त्रिषष्ठि पुरुष चरित' की सीमा का विस्तार किया गया। यह सीमा विस्तार संस्कृत के चरित काव्यों ने ही आरम्भ कर दिया था। उदाहरण के लिये गुणभद्र के जिनदत्त चरित का उल्लेख किया जा सकता है। जिनदत्त की कथा किसी कथाकोश या पुराण में उपलब्ध नहीं है।

जब रास या रासक काव्य रचना की प्रवृत्ति बढ़ी तो सर्व प्रथम जैन कवियों ने ही त्रिषष्ठि पुरुष सहित अन्य वर्ण्य चरितों को या उन चरितों की प्रमुख घटनाओं को रास या रासक रूप देना आरंभ कर दिया। भरतेश्वर बाहुबली सम्बन्धी रास इसके प्रमाण हैं। जब इस सीमा से परे भी रास काव्यों का सृजन आरम्भ हुआ तो ऐतिहासिक पुरुष और जैन मुनि भी वर्ण्य विषय बने। काल्पनिक रास भी प्रस्तुत हुए और हिन्दी साहित्य के आदि काल के प्राकृत, अपभ्रंश चरित काव्यों का प्रभाव रास या रासक काव्यों पर भी पड़ा और उन्होंने उसकी सम्पूर्ण सीमाओं को अपना लिया। इस प्रकार चरित और रास काव्य रचना की दो प्रवृत्तियां मात्र रह गई। वर्ण्य के क्षेत्र में दोनों का सम्मिलन हो गया। हिन्दी साहित्य के आदि काल के प्रथ्वीराज, बीसलदेव आदि रासो काव्यों की पृष्ठ भूमि यही रही है। चौदहवी शताब्दी की कृतियों पज्जुण चरिउ, जिणदत्त चरिउ, बाहुबल चरिउ, चंदपप चरिउ, मयण पराजय चरिउ तथा कच्छूली रास, गौतम स्वामी रास, समरा रास, रणमल्ल छन्द, मयण रेहा रास आदि की वर्णन प्रक्रियाओं में इन दोनों परम्पराओं का पृथक पृथक दर्शन भी किया जा सकता है और साम्य भी ढूंढा जा सकता है। आदि काल के बाद भी सत्रहवीं तक की रास नामधारी अनेक कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं।

डा० ओझा ने यह लक्ष्य किया है कि 'वैष्णव और जैन दोनों प्रकार के रासकों में विश्व-विजय की कामना से प्रेरित कामदेव किसी योगी महात्मा पर अभियान की तैयारी करता दिखाई पड़ता है।' अन्त में उसकी पराजय भी दिखलाई गई है। इस प्रवृत्ति के जैन काव्यों में 'मयण जुज्झ' तथा मयण पराजय चरिउ उल्लेखनीय हैं। मयण पराजय की रचना शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव के आधार पर हुई है। इसमें जिनेन्द्र पर काम का आक्रमण और उसकी पराजय का वर्णन हुआ है। यह दो सन्धियों और कुल एक सौ अठारह पद्य खंडों में समाप्त हो गया है। कहने के लिए यह 'चरिउ' है पर इसमें रासक के गुण ही अधिक हैं। इस सम्बन्ध में डा० हीरालाल का यह विचार द्रष्टव्य है—'यथार्थतः यह रचना अपने स्वरूप में अन्य सुज्ञात अपभ्रंश चरितों से विषय व शैली में कुछ भिन्न है! इसमें उस प्रकार नायक का चरित्र वर्णन नहीं पाया जाता है, जैसा अन्य चरित्रों में। यहां का समस्त घटनाचक्र भावात्मक और कल्पित है। यद्यपि परिच्छेद विभाग चरित ग्रन्थों के सदृश सन्धियों में किया गया है, तथापि उनमें वस्तु, द्विपदी, अडिल्लह और छडडिया छन्दों का प्रायः बराबर का प्रयोग अदल बदल

---

१. श्रीमत्काममहानरस्यचरितं संसारविच्छेदिनः।
श्रद्धाभक्तिपराप्रबुद्धमनसा शृण्वंति ये सत्तमाः॥
संवेगात्कथयन्ति ये प्रतिदिनं योऽधीयते संततम्।
भूयासुः सकलास्त्रिलोकमहिताः श्रीवल्लभेन्दु श्रियः॥ प्र० च० ५॥
श्री भूपतेरनुचरो मधनो विवेकी शृंगारभावधनसागर राग सारं।
काव्यं विचित्रपरमाद्भुतवर्णगुम्फं सलेख्य कोविदजनाय ददौ संवृत्तम्॥६॥

कर किया गया है। इससे काव्य में एक तान की ऊब नहीं आने पाई तथा उसकी गेयात्मकता स्पष्ट हो गई है। इस दृष्टि से यदि इस रचना को रासक कहा जाय तो अनुचित न होगा।" [1] मयण पराजय एक रूपक काव्य है। जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है [2] रास, रासक और चरित काव्यों का मौलिक अन्तर उनकी गेयात्मकता के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है। ये रासक प्रेक्ष्य भी हैं जैसा कि हेमचन्द्र ने स्पष्ट किया है। बीसलदेव रासो गेय है। पृथ्वीराज रासो के पृथक पृथक घटनाश्रित खंड भी अपने मूल रूप में गेय होंगे।

जहां तक मदन पराजय का रास या रासक से सम्बन्ध जोड़ने का प्रश्न है यह वैष्णव (नन्ददास की रास पंचाध्यायी या भागवत) बौद्ध, और जैन परम्परा में एक साधक के विघ्नों में वर्णित घटना मात्र है जो मूलतः एक ही संस्कृति की त्रिधारा में समान रूप से उपलब्ध है और मदन पराजय की यह घटना जैन और वैष्णव रास काव्यों में समान रूप में वर्णन का विषय बनी है। धार्मिक महत्ता और सरसता इसके मुख्य कारण हैं।

जैन कथा ग्रन्थ—

हिन्दी साहित्य के आदि काल में जैन कथा ग्रन्थों का भी एक विशिष्ट स्थान हैं, यद्यपि इनकी उपेक्षा अधिक हुई है। लीलावती और कुवलयमाला प्रभृति प्राकृत ग्रन्थों का परवर्ती साहित्य पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। इसी परम्परा में भविसयत्त कहा, जीव मनः करण संलाप कथा, धम्म परिक्खा, कथा कोष, रत्नकरण्ड शास्त्र, स्थूलिभद्र कथा, अणुव्रत रत्न प्रदीप, सुलसाख्यान आदि कृतियां भी आती हैं जिनका हिन्दी साहित्य के आदि काल के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान है।

जैन मुक्तक काव्य—

आदि काल की अधिकांश जैन रचनायें अपभ्रंश या अत्यधिक अपभ्रंश प्रभावित हैं। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने दोहा परम्परा के निर्देश में विक्रमोर्वशी, सिद्धों के दोहों, णाय कुमार चरिउ, करकंडु चरिउ, थूल भद्द फागु, प्राकृत पैंगलम्, आदि का उल्लेख किया है। [3] वस्तुतः मात्रिक छन्दों का का प्रयोग विक्रमोर्वशी के निर्माण काल से भी बहुत पूर्व से होता आ रहा था और धम्मपद में भी चौपाई के उदाहरण मिल जाते हैं। स्वयंभू के समय तक मात्रिक छन्दों के न केवल विविध रूप विकसित हो चुके थे अपितु दोहा, चौपाई, रोला आदि का प्रबन्ध काव्यों में पूरा उपयोग भी हुआ है। पउमचरिउ में इन सबके उदाहरण बड़ी मात्रा में मिल जाते है। इस निष्कर्ष का आधार, कि पूर्व में दोहा, चौपाई और पश्चिम में पद्धड़िया, घत्ता अधिक लोकप्रिय छन्द थे, एक विहंगम दृष्टि-क्षेप मात्र है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में सिद्धों, नाथ-पंथियों आदि की मुक्तक, ज्ञान परक रचनाओं के अतिरिक्त जैन-मुक्तक रचनाओं का भी महत्व पूर्ण योगदान रहा है। जैन-साहित्य के इस योगदान में परमात्मा प्रकाश, योगसार, वैराग्यसार, आनन्दानन्द स्तोत्र, पाहुड दोहा, सावय धम्म दोहा, कुमार पाल प्रतिबोध, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश-आदि का महत्व पूर्ण स्थान है। इनमें उन मुक्तक रचनाओं का पूर्व रूप उपलब्ध हो जाता है जो आदि काल की अन्तिम शताब्दी और उसके बाद प्रकाश में आई हैं और जिन्होंने हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है।

इस सक्षिप्त विहंगम दृष्टिपात से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि आदि कालीन जैन-साहित्य की अपेक्षा कर हिन्दी साहित्य के आदि काल के स्वरूप और उसके सर्वांगीण महत्त्व का आकलन कर पाना संभव ही नहीं है।

●

---

१. द्रष्टव्य-मयण पराजय की भूमिका पृ० ६७॥ २, वही—पृष्ठ ७०॥

३. द्रष्टव्य-हिन्दी साहित्य का आदिकाल १०१ से १०३ तक

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च, नासद्भिर्किञ्चिदाचरेत् ॥

सज्जनों के साथ ही बैठो, सज्जनों के साथ ही रहो, सज्जनों के साथ ही दोस्ती करो, सज्जनों के साथ ही झगड़ा करो, तात्पर्य जो कुछ भी आचरण करो केवल सज्जनों के साथ ही करो, असत्पुरूषों के साथ जरा सा भी किसी भी प्रकार का सम्पर्क मत रखो ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

अपने चरित्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये क्योंकि धन चले जाने पर भी मनुष्य क्षीण नहीं होता, उसका कुछ नहीं बिगड़ता किन्तु जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मनुष्य तो मरे हुए के समान ही है ।

दो ऐतिहासिक रचनाएं

● भँवरलाल नाहटा

मध्यकालीन जैन विद्वानों का ध्यान ऐतिहासिक रचनाओं के संरक्षण और निर्माण का बराबर बना रहा है। इसलिये विविध प्रकार की बहुत-सी ऐतिहासिक रचनायें आज भी प्राप्त हैं। पट्टावलियों, आचार्यों के रास, गीत, तीर्थ मालायें, ऐतिहासिक प्रबन्ध व काव्य आदि काफी मिलते हैं। उन सबके आधार से तथा प्रशस्तियों और मूर्ति लेखों के आधार से मध्यकालीन जैन इतिहास बड़े अच्छे रूप में लिखा जा सकता है। पर यह सामग्री बहुत ही बिखरी हुई है। उन सबका संग्रह करना भी बहुत ही कठिन है। गत् ३०-४० वर्षों में जैन इतिहास की सामग्री का संग्रह एवं प्रकाशन होता रहा है पर ऐसी रचनाओं की खपत नहीं हो पाती इसलिये आगे काम रुक जाता है। श्वेताम्बर समाज ने कुछ वर्ष पहले तक इस दिशा में काफी काम किया और अब दिगम्बर समाज की ओर से भी अच्छा प्रयत्न हो रहा है। अनेक शास्त्र भण्डारों के सूची पत्र इधर कुछ वर्षों में तैयार हुये हैं और कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। इससे श्वे०, दिग० और जैनेतर बहुसंख्यक अज्ञात रचनाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। यद्यपि बहुत से शास्त्र भण्डार अभी तक अज्ञात अवस्था में पड़े है। जब तक उन सबकी सूचियां न बन जांय तब तक जैन साहित्य का महत्वपूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आ सकता।

वैसे तो साधारणतया दि० शास्त्र भण्डारों में दिगम्बर ग्रन्थ ही अधिक मिलते हैं इसी तरह श्वे० भण्डारों में श्वेताम्बरों के। फिर भी कुछ ग्रन्थ व महत्वपूर्ण प्रतियां श्वेताम्बरों की दिगम्बर भण्डारों में मिल जाती है और दिगम्बरों की श्वे० भण्डारों में। इनमें से कई रचनायें तो ऐसी भी होती हैं जो सर्वथा अज्ञात होने के साथ-साथ विशेष महत्व की हैं। कुछ रचनाओं की तो केवल एक-एक प्रति बच पाई है। ऐसी ही दो श्वे० ऐतिहासिक रचनायें जयपुर के दि० शास्त्र भण्डार में प्राप्त एक गुटके में मिली हैं। उन रचनाओं का ऐतिहासिक सारांश प्रस्तुत लेख में प्रकाशित किया जा रहा है। ये दोनों रचनायें श्वे० गुजराती लोंकागच्छ के आचार्यों संबंधी हैं और इनकी कोई दूसरी प्रति श्वेताम्बर भण्डार में अभी तक नहीं मिली है। इन दो आचार्यों के नाम क्रमशः 'चिन्तामणी' और 'खेमकरण' है। खेमकरण, चिन्तामणी के शिष्य और पट्टधर थे। दोनों का ही जन्म राजस्थान के आऊवा शहर में हुआ था। आचार्य 'चिन्तामणी' संबंधी रचना का नाम श्री पूज्य श्री चिन्तामणी जी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय रचना के अन्त में लिखा हुआ है। इसमें उनके जन्म से लेकर स्वर्गवास तक का वृत्तान्त पाया जाता है। दूसरी रचना का नाम "गणनायक श्री खेमकरण जी जन्मोत्पत्ति संथारा विधि" अन्त में लिखा गया है। इसमें खेमकरण के जन्म से स्वर्गवास तक का वृत्तान्त है। दोनों रचनाओं * का ऐतिहासिक सारांश नीचे दिया जा रहा है।

(१) आऊवा शहर में श्रावक भीमासाह के पुत्र चीमासाह की पत्नी चतुरंग दे की कूक्षी में चिन्तामणि कुमार अवतरित हुए। संवत् १६८४ मिती पौष शुक्ला ७ गुरूवार को जन्म लेकर क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुए। श्री वभुराजजी की वाणी सुनकर वैराग्यवासित हो माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। चरित्र की दुर्द्धर्षता बताने पर

* दोनों रचनाओं की प्रतिनिधि महावीर जी तीर्थ कमेटी से वर्णित जैन साहित्य शोध संस्थान से प्राप्त हुई हैं इसके लिये संस्था संस्थान के कार्यकर्ताओं का आभार मानता है।

श्री कुमार का पक्का वैराग्य रंग ज्ञात कर माता-पिता ने आदेश दिया और चुलराज (चिन्तामणि) का दीक्षा महोत्सव प्रारम्भ किया। चतुर्विध संघ मिला। श्री धनराज जी साधु परिवार सहित पधारे। संवत् १७०४ मिती ज्येष्ट बदि ५ गुरुवार को श्री चिन्तामणिजी ने गुरु श्री धनराज जी के पास संयम मार्ग स्वीकार किया।

इनका प्रथम चातुर्मास जयतारण, दूसरा वगड़ी, व चौथा रतलाम, पांचवा सूरत, तीसरा छठ्ठा कृष्णगढ़, सातवां पुष्पावती, आठवां सोभत, नवां विष्णुपुर, दसवां ग्यारहवां सूरत; बारहवां सुधदंती (सोजत), तेरहवां रखीनगर चौदहवां हांसी, पन्द्रहवां दिल्ली सोलहवां अर्गलपुर (आगरा) सतरहवां हरसोर में हुआ। ये सब चौमासे गुरु श्री के साथ ही हुए। श्रीधनराजजी धर्मोपदेशों द्वारा धर्म की महिमा बढ़ाते हुए मारवाड़ आये। आउवा पधारने पर संघ ने बड़ा स्वागत किया। राव महेशदास ने यहीं पर (चिन्तामणिजी) को पट्टधर स्थापित करने की प्रार्थना की। उत्सव प्रारम्भ हुआ। राव महेशदास के मुहैता नथमल ने पद महोत्सव किया। स्वधर्मी वात्सल्य हुए, राठौर कमधज रावजी की अर्ज थी और चिन्तामणि जी की योग्यता ज्ञात कर श्री धनराजजी ने संवत् १७२१ ज्येष्ठ वदि ५ को उन्हे स्वयं पट्ट पर स्थापित कर गच्छ भार संभलाया।

इसके बाद मुनिमण्डल सहित विचरते हुए धृतपुर आये। अठारहवां चौमासा करके उन्नीसवां रूपनगर, बीसवां जालले, इक्कीसवां घृतपुर, बाईसवां बगड़ी चातुर्मास हुआ। संवत् १७२२ (१६) मे रैया नगर पधारे। यहां आसोज सुदि ११ के दिन गुरु श्री का निर्वाण हुआ। श्री चितामणिजी ने चौबीसवां चातुर्मास सादड़ी, पचीसवां किशनगढ, छबीसवां नोहलाई, सत्तावीसवां रतनपुरी, अठाईसवां ब्रहानपुर, उन्नतीसवां मलकापुर, चातुर्मास किया। अभैराज व दोदराज ने खूब सेवा की। तीसवां चातुर्मास घृत भाजनपुर, ताल पीपाड़ बतीसवां, दो चातुर्मास तेतीसवां-चौतीसवां उन्नेण में, पेंतीसवां रतनावती में किया। छत्तीसवां उज्जैन, सेतीसवां दिल्ली, अड़तीसवां नोरंगपुर, उनचालीसवां वेरीनगर, चालीसवां अलवर, इकचालीसवां सिलोणे बेयालीसवां परबतसर, तैंयालीसवां सोजत चातुर्मास हुआ। संवत् १७४६ का चातुर्मास सोजत करके फिर परवतसर आये। दीपचन्द ने गुरु श्री से श्री खेमकरणजी को गच्छभार सौंपने की प्रार्थना की। मुनिमंडल और श्रीसंघ एकत्र हुआ। रूपनगर और कृष्णगढ के संघ ने बहुत-सा अर्थ व्यय किया। दीपचन्द ने तथा नैणसिंह ने स्वधर्मी वात्सल्य-जीमणवार किये। रूपनगर व परवतसर के संघ ने मुनियों के संधाड़े में पहिरावणी की। इस प्रकार बड़ी महिमा हुई और गच्छनायकों की जोड़ी सूर्य-चन्द्र जैसी सुशोभित लगने लगी। संवत् १७४७ का ४४ वां चातुर्मास किसनगढ़ हुआ। फिर रूपनगर, अहिपुर, धोधूंदा, दिल्ली, कुलैथपुरी में तीन अकबराबाद मे दो चातुर्मास करके ५४ वां दिल्ली में किया, ५५ वां वपणीये करके किसनगढ पधारे। संघ ने बड़े समारोह पूर्वक स्वागत किया और विनती करके गच्छराज को वहीं रखा। पांच चातुर्मास किये पांचवें चौमासे में पट्टधर को अपने पास रखा। फिर साठवां चातुर्मास मुकंदगढ़ किया, श्रावको ने बड़ी सेवा की। संवत् १७६३ मिती काती बदि २ शनिवार के दिन श्री चिन्तामणि ने संथारा किया। चौरासी लक्ष जीवायोनि से क्षामणापूर्वक सात प्रहर का अनशन पूर्ण कर तृतीया के दिन रविवार को गुरुश्री निर्वाण प्राप्त हुए। संघ ने नवखण्डी मंढी को पंचवर्णी ध्वजाओं से सुसज्जित कर वाजित्र आदि के साथ पैसे उछालते हुए गुरु की अन्त्येष्ठि क्रिया सम्पन्न की। श्री चिन्तामणिजी अपने नामके अनुरूप संघ की कामनाएं पूर्ण करें।

संवत् १७६३ काती बदि १३ शशिसुतवार के दिन श्री चिन्तामणिजी के पट्टधर श्री खेमकरणजी

के प्रसाद से शिष्य सुखकर ने यह रचना (सदगुरू श्री पूज्य श्री चिन्तामणिजी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय) की। जो नर नारी स्थिर चित्त से स्तुति करेंगे, सुनेंगे वे लीलाओं को प्राप्त करेंगे।

आचार्य चिन्तामणि के गुरू का नाम धनराज तो चिन्तामणि जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय में दिया है। पर इससे पहले की परम्परा गुजराती तपागच्छ की पट्टावली से ज्ञात होती है। जिसका सारांश जैन गुर्जर कवियों भाग ३ के परिशिष्ट नं० २ में प्रकाशित हुआ है। उसके अनुसार लोंकाशाह के मत में सर्वप्रथम १ भाणजी दीक्षित हुए। तदनन्तर २ मीदाजी, ३नूना जी ४ भीमा जी, ५जगमाल जी, ६सरवा जी, ७रूपजी, ८ जीव जी, ९ बडावरसिंह, १०लघु वरसिंह, ११जसवन्त जी, १२रूपसिंह जी, और १३दामोदर जी क्रमशः गुजराती लोंकागच्छ के आचार्य बने। दामोदर के शिष्य धनराज जी हुए। उनकी शाखा जयतारण से अलग हो गई। १७ वर्ष के बाद संवत् १७१३ में सूरत में बोरा बीरजी ने पुन: गच्छ की एकता का प्रयत्न किया। पर इनकी शिष्य संतति तो अलग चलती ही रही। धनराज के बाद 'चिन्तामणि' गच्छ नायक बने। और उनके पट्ट पर खेमकरण बैठे। जिनका विवरण खेमकरण जन्मोत्पत्ति संथारा विधि नामक दूसरी रचना में प्राप्त है जिसका ऐतिहासिक सारांश नीचे दिया जा रहा है—

(२) आउवा शहर में संघ शिरोमणि चीमासाह निवास करते थे। उनके पुत्र रामसाह की स्त्री का नाम राना दे था जो रूपवान, पुण्यवान और शील-वती थी। संवत् १७०९ मिती माघ सुदि १३ के दिन शुभ वेला नक्षत्र में शुभ स्वप्न सूचित बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम श्री खेमकरण रखा गया। क्रमशः वृद्धि पाता हुआ कुमार तरुण अवस्था को प्राप्त हुआ। एक बार आउवा नगर में गुरुश्री चिन्तामणि जी पधारे। जिनके उपदेश से वैराग्यवासित हो कुमार ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगी। फिर बड़े महोत्सव के साथ संवत् १७२५ माघ सुदि १३ बृहस्पतिवार के दिन गुरु श्री से संयम ग्रहण किया। तदनन्तर संवत् १७२६ का प्रथम चातुर्मास श्रीपूज्य जी के साथ रेयानगर में हुआ। दूसरा चौमासा सादड़ी, तीसरा सिरीयारी, चौथा नोहलाई, पांचवा रतनपुरी, छट्ठा ब्रहानपुर, सातवां मलकापुर, आठवां घृतभाजनपुर, नवां ताल, दसवां पीपाड़ में हुआ। फिर उज्जैन में दो चातुर्मास हुए। अभैराज व दोदराज ने बड़ी सेवा की। तेरहवां चातुर्मास बड़ौदा, चौदहवां उज्जैन, पन्द्रहवां दिल्ली, सोलहवां नौरंगपुर, सतरहवां बेरी नगर, अठारहवां रूप नगर व उन्नीसवां चातुर्मास सिलाणे हुआ। बीसवां चातुर्मास परवतसर, इक्कीसवां सोजितपुर किया। समस्त श्रावकों ने सेवा कर अपने मनोरथ पूर्ण किये।

सोजत चतुर्मास कर श्री चिन्तामणि गच्छपति के साथ उग्र विहार करते हुए परबतसर आए। दीपचन्द शाह ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक गच्छनायक से प्रार्थना की कि खेमकरण जी का पदोत्सव परबतसर में ही होना चाहिये। फिर स्वीकृति मिलने पर बड़े समारोहपूर्वक पदोत्सव की तैयारियां होने लगीं। रूपनगर व कृष्णगढ़ का संघ एकत्र हुआ। जीमन-वार हुए बहुत-सा अर्थ व्यय किया। कृष्णगढ़ के लूणावत गोत्रीय जसवंत श्रावक व रूपनगर-परबत-सर के कोठेचा जिनदास के वंशजो में प्रधान दीपचंद थे। बहुत से उत्सव किये। जिनदास के सभी परि-वार वालों ने अर्थ व्यय किया। मुनिवरों को पहिरा-वणी दी। कुंकुम के स्वस्तिक व मोतियों से चौक पूरे गए। नाना प्रकार की वाजित्र ध्वनि के बीच संवत १७४२ माघ सुदि १३ के दिन श्री पूज्य चिन्तामणि जी ने श्री खेमकरण जी को आचार्य पद प्रदान किया।

श्री खेमकरण जी का २२ वां चतुर्मास कृष्ण-गढ़, तेईसवां सिलाणें, फिर दिल्ली, कुलैथपुरी में तीन चौमासे करके मुकुन्दगढ़, आऊवा पधारे। श्रावक लोगों ने नाना प्रकार से सेवा की। फिर रत्नपुरी तदनन्तर कल्याणपुर पधारे, कोठारी कचराशाह ने

खूब भक्ति की। छत्तीसवां चौमासा परबतसर फिर सोजत, केशवगढ व पुनः सोजत चौमासा किया। फिर बरांटिये, लांबीया चौमासा करके संवत् १७६३ में कृष्णगढ़ चातुर्मास किया। मिती कार्तिक बदि ३ के दिन पूज्य श्री चिन्तामणि जी का स्वर्गवास हुआ।

संवत् १७६४ का चातुर्मास रेयांनगर करके दिल्ली पधारे। श्रावक संघ अत्यन्त हर्षित हुआ। उन दिनों बादशाह का प्रतापी राज्य था। राज दरबार में श्रावक संघ का बड़ा मान सम्मान था। अग्रवाल वंशज पुण्यात्मा श्रावक दीवान पद पर सुशोभित थे। गुरु श्री समारोह-पूर्वक स्वागत-सामेला लाहण प्रभावनादि खूब सत्कार्य हुए। पर्यूषण पर्वाराधना, लाहण, संवत्सरी पारणादि से महिमा बढ़ी। संवत् १७६५ का चातुर्मास दिल्ली में पूर्ण कर फाल्गुन तक यहीं विराजे। अन्त में अपना आयु शेष ज्ञात कर अन्तिम देशना देकर चौविहार संथारा ग्रहण कर लिया। पाप आलोचना कर चौरासी लक्ष जीवा योनि से क्षमतक्षामणापूर्वक चार घड़ी का संथारा पूर्ण कर फाल्गुन बदि ८ शनिवार के दिन पूज्य गुरू श्री खेमकरण जी स्वर्गवासी हुए। इस अनशन के अवसर पर दिल्ली के श्रावकों ने नाना उत्सव व ८४ गच्छ के साधुओं को प्रतिलाभ दिया। गुरु श्री की स्तवना सुप्रभ या पट्टधर धर्मसिंध सूरि ने संवत् १७६६ श्रावण शुक्ला ७ सोमवार के दिन वयणीयें ग्राम चौमासा करके की। सदा इसे सुनने गुनने वाले संघ का जयजयकार हो।

उपरोक्त रचना (सारांश) से स्पष्ट है कि खेमकरण के बाद धर्मसिंह पट्टधर हुए। ये अच्छे विद्वान थे। इनके रचित भक्तामर स्तोत्र के चतुर्थ पाद पूर्ति रूप 'सरस्वती भक्तामर' स्वोपज्ञ टीका सहित प्राप्त है। श्री आगमोदय समिति द्वारा यह स्तोत्र, स्वोपज्ञ टीका, और गुजराती अनुवाद काव्य-संग्रह द्वितीय भाग में ३८ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। स्वोपज्ञ टीका में भी धर्मसिंह ने अपने गुरू खेमकरण सम्बन्धी निम्नोक्त उल्लेख किया है—"गुरू **खेमकर्ण** पादप्रसादमुदितः स्वयं शिक्षापितत्वात् स्वहस्तदीक्षाप्रदानात् स्वपदस्थापितत्वात्गुरुः-महान् **गुरुर्मदीय** धर्मोपदेष्टा श्री पूज्यः खेमकर्णाभिधेयः तेषां (तस्य) पाद प्रसादेन-चरणप्रभावेण मुदितो हर्षितः गुरु खेमकर्ण पाद प्रसाद मुद्रितः, श्रीमद्गुरुपादानुग्रहप्रवृद्धहर्ष इत्यर्थः। अत्र खेमकर्ण शब्दस्य श्रवण नक्षत्रस्य च चतुर्थपादे जन्मत्वान्मूर्धन्य षकारादिक उचित एवेति निर्णीय लिखीतोऽस्ति। अथवा ग्रामनाम्नोः संस्काराभावान्नात्र वितर्कः।" खेमकरण के शासनकाल में वर्द्धमान के शिष्य ऋषि दीप ने गुणकरण्डगुणावली चौपाई की रचना संवत् १७५७ की विजयादशमी को की। दीप कवि की अन्य दो रचनायें धर्मसिंह के धर्मशासन मे रची गई हैं। एक पंचमी चौपाई दूसरी सुदर्शन सेठ कवित्त। ये रचनायें बहुत ही सुन्दर हैं। शील रक्षा भाग २ में कई वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इन दोनों की हस्तलिखित प्रतियां हमारे संग्रह में है।

जिस गुटके में चिन्तामणि और खेमकरण संबंधी ऐतिहासिक रचनायें मिली हैं वह जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में गुटका नं० ६७ के रूप में है। इस गुटके में चिन्तामणि भास, धर्मसिंह गीत तथा चिन्तामणिरचित शीतल स्तवन (सं १७१६) आदि रचनायें भी हैं।

धर्मसिंह गीत के अनुसार उनके पिता का नाम नैणचन्द और माता का नाम राजुल दे था। धर्मसिंह के बाद पट्टधर कौन बने और इनकी परम्परा कब तक चलती रही, अन्वेषणीय है।

राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन जैन प्रस्तर प्रतिमाएँ

बृजेन्द्रनाथ शर्मा, एम० ए०

भारतवर्ष में सबसे पूर्व जैन प्रतिमाएं कब निर्मित हुईं इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है।[1] कुछ जैन विद्वानों ने हड़प्पा (३००० ई० पू०) से प्राप्त एक मनुष्य के नग्न धड़ को जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय में है तीर्थंकर प्रतिमा घोषित किया है परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता।[2] सम्भवतः सबसे प्राचीन जैन प्रतिमा लोहानीपुर (विहार) से है जो अब पटना संग्रहालय में है। इस नग्न मूर्ति को जिसके हाथ कायोत्सर्ग मुद्रा की भांति प्रतीत होते हैं, उसके ऊपर की गई विशेष पालिश व चमक के आधार पर मौर्यकालीन (३०० ई० पू०) माना गया है। कलिंग सम्राट खारवेल (प्रथम श० ई० पू०) के हाथी गुम्फा लेख "बार समे च वसे......नन्दराज नीर्त च का (लि) गं जिन संनिवेस" में जिन प्रतिमा का स्पष्ट वर्णन है। उड़ीसा स्थित उदयगिरि और खण्डगिरि की प्राचीन गुफाओं में प्रारंम्भिक काल की अनेक जैन मूर्तियां निर्मित हैं।

मथुरा कला में जैन प्रतिमाओं का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। यहां से प्राप्त आयागपट्टों (प्रथम श० ई० पू० से प्रथम श० ई०) पर अष्टमंगल (मत्स्य, दिव्यमान, श्रीवत्स, रत्नभांण्ड, त्रिरत्न, कमल, भद्रपीठ अथवा इन्द्रयष्ठि और पूर्ण कलश) तथा त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र) के अतिरिक्त प्रारम्भ में प्रतिमा के स्थान पर केवल कुछ प्रतीकों का ही प्रयोग होता था। परन्तु बाद में ध्यान मुद्रा में जिन प्रतिमा बनने लगी।[3] कुषाण काल के अन्तिम समय तक तीर्थंकरों के पूर्णांग चित्र प्राप्त होने लगते हैं जिनके वक्षस्थल पर हमें "श्रीवत्स" चिन्ह मिलता है। गुप्तकालीन कला में हमें न केवल जैन मूर्तियों के उच्चतम उदाहरण ही मिलते हैं वरन् प्रत्येक तीर्थंकर का अपना लांछन (पशु, पक्षी, पुष्प अथवा शंख आदि) भी मिलता है जिससे तीर्थंकर प्रतिमाओं में भेद किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यक्ष व यक्षणी आदि की कई अन्य प्रतिमाएं भी प्रमुख प्रतिमा के साथ निर्मित होने लगती है। और मध्यकाल के आगमन के साथ ही उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त "अष्ट प्रातिहार्यो" (दिव्यतरु, आसन, चामर, भामण्डल, दिव्य दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि तथा छत्रत्रय) का भी चित्रण प्राप्त होता है। सांप्रदायिक भेद इन प्रतिमाओं में भी मिलेगा। दिगम्बर प्रतिमाएं

---

१. इस सम्बन्ध में मेरा लेख देखें, "जैन प्रतिमाओं के विकास में नरहड़ की मूर्तियां," मरुभारती, पिलानी, जनवरी, १९६२, पृ० १४ व आगे।

२. सुप्रसिद्ध विद्वान उमाकान्त प्रेमानन्द शाह भी इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार यह सम्भवतः प्राचीन यक्ष का ही चित्रण प्रतीत होता है। देखें: ईस्टडीज़ इन जैन आर्ट, पृ० ४

३. मथुरा से प्राप्त एक ऐसा ही आयागपट्ट (जे० २४९) राष्ट्रीय संग्रहालय में है, जिसके निचले भाग पर खुदे लेख से विदित होता है कि सिंहनादिक नामक एक व्यापारी ने अर्हतों की पूजा के लिए इसे प्रतिष्ठापित किया था। विस्तृत विवरण के लिए देखें : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, मथुरा आयागपट्ट, जर्नल आफ दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाईटी, XVi, भाग I, जुलाई १९४३.